69

ॐ

वैयाकरण-भूषण-सारः

(भैमी-भाष्योपेतः)



425
महा।कौ।वै

भीमसेन शास्त्री



श्रीमद्रामचन्द्रग्रन्थमालायाः (द्वितीयप्रसूनरूपः)—

श्रीमद्विद्वद्वर-कौण्डभट्ट-विरचितो

वैयाकरण - भूषण - सारः

* भैमीभाष्योपेतः *

(धात्वर्थ-निर्णयान्तः)



भैमीभाष्यकार—भीमसेन शास्त्री

एम्० ए०, साहित्यरत्न

●

प्राप्तिस्थानम्—

५३७, लाजपतरायमार्केट,

दीवानहाल के सामने, दिल्ली

प्रकाशक—
वैद्य भीमसेन शास्त्री,
M.A. साहित्यरत्न
५३७, लाजपतराय मार्केट
दीवानहाल के सामने
दिल्ली ।

४२५
अद/कौ/वै

सर्वेऽधिकारा लेखकायत्तीकृता:
(All rights reserved by the author)

प्रथम संस्करण : १६६
संवत् २०२५ वै
मूल्य —पच्चीस रुप

मुद्रक—
राधा प्रेस
मेनरोड गांधीनगर,
दिल्ली-३१

T. G. MAINKAR,
M.A., Ph. D., D. Litt.
Professor of Sanskrit
and Allied Languages.

Sanskrit Department
Delhi University
Delhi. 7

14th January 1969

I very heartily congratulate Shri Bhimasena Sastriji on his splendid work 'the Bhaimi-bhasyopeta-Vaiyakarana-bhusana-sara'.

The Vaiyakarana-bhusana-sara of Kaundabhatta is a touchstone of scholarship and a masterly expositon of the same requires not only a sound grasp of the various grammatical subtleties involved but also an easy flowing style, which in familiar words and with illuminating illustrations makes the ideas quite clear. Happily Bhimasena Sastriji has both these qualities in him and he has therefore materially contributed to our understanding of the text. A reference in this connection could be made to his discussion regarding the Phala and the Vyapara concepts or to his clear exposition of the controversy between the Mimansakas the Naiyayikas and the Grammarians regarding the precise way of understanding the import of a sentence. Students of Grammar will always remain indebted to Bhimasena Sastriji for his very valuable help now available in his commentary. I wish Bhimasena Sastriji writes similar commentaries on other works in the field of Grammar and render service both, to the subject of his love and to the world of students and scholars. I once again congratulate him.

सर्वथा धन्यवादान् अर्हन्ति भैमीभाष्यप्रणेतारो भीमसेनशास्त्रिणः । वैदुष्यस्य परो निकषः कौण्डभट्टविरचितो वैयाकरणभूषणसारः । नव्यन्यायघटित-भाषाऽलङ्कृतोऽयं व्याकरणग्रन्थो न सारल्येन बुद्धिसन्तानमारोहति अकृतपरिश्रमाणाम् । कृतपरिश्रमा अपि अनुभवन्ति परिभवं स्थाने स्थाने चाऽस्य व्याख्याने । भीमसेनशास्त्रिणो व्याकरणशास्त्रे कृतभूरिपरिश्रमा अत एव तेषां भैम्याः शोभने भूषणायत एव भूषणसारः । शास्त्रिमहोदयैः कृतं व्याख्यानं छात्राणां सुखबोधाय भवतीत्यस्मिन् विषये न कोऽपि सन्देहः । कठिनगहनविषयस्याऽपि व्याख्यानं सरलं सुगमञ्च कृतम् एभिः । फलव्यापारविवेचनं मीमांसक-नैयायिक-वैयाकरणानां वाक्यतात्पर्याऽवगमविषयकविप्रतिपत्तिविवेचनं वा भवत्यत्रोदाहरणम् । एषा सरसा सरला च भैमी वैयाकरणभूषणाऽध्येतृवृन्दस्य हृदयेऽनन्यसाधारणं स्थानं दर्शनमात्रेणैव लप्स्यत इति नास्ति मे मनागपि सन्देहः । अतः पुनरपि भैमीभाष्यप्रणेतृ-भीमसेनमहोदये धन्यवादान् वितीर्य विरम्यते ॥

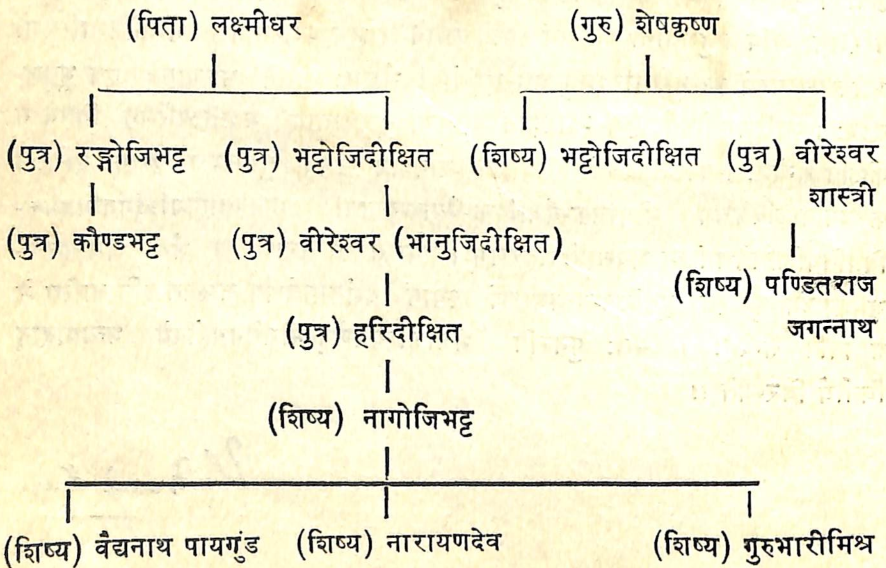
T. G. Mainkar

भूमिका

वैयाकरणभूषणसार वैयाकरण सम्प्रदाय में सुतरां प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके रचयिता हैं कौण्डभट्ट जोकि महावैयाकरण भट्टोजिदीक्षित के भतीजे हैं। इनके पिता का नाम रङ्गोजिभट्ट था। रङ्गोजिभट्ट केवलाद्वैतवादी थे। उन्होंने व्यास-सूत्रों पर एक टीका भी लिखी थी और एक अन्य ऐसे ग्रन्थ की रचना भी की थी जिसमें उन्होंने मध्वाचार्य के द्वैतसिद्धान्त का खण्डन किया था जैसाकि कौण्डभट्ट के वैयाकरणभूषण के **"यश्चक्रे मुनिवर्यसूत्रविवृतिं सिद्धान्तभङ्गं तथा माध्वानाम्"** इस कथन से पता चलता है। कौण्डभट्ट ने अपने दोनों ही ग्रन्थों वैयाकरणभूषण और वैयाकरणभूषणसार में अत्यन्त भक्तिभाव से अपने पिता रङ्गोजिभट्ट का स्मरण किया है। वैयाकरणभूषणसार के आदि में उन्होंने उनको पुरुषरूप में सरस्वती **'पुंभाववाग्देवताम्'** कहा है। वे उन्हें पिता के साथ साथ गुरु भी मानते हैं— **गुरूपमगुरुम्** (वैयाकरणभूषण)। इन केवलाद्वैतवादी रङ्गोजिभट्ट ने मध्वसिद्धान्त के प्रमुख आचार्य महापण्डित वडेरु नामक यति को परास्त किया था—

विद्याधीशवडेरुसंज्ञकयतिं श्रीमाध्वभट्टारकं जित्वा।

श्री कौण्डभट्ट के वंश में अनेक उद्भट विद्वान् हुए। श्रीनारायणशास्त्री पेण्डसे ने लघुशब्देन्दुशेखर की भूमिका में विद्यायोनिसम्बन्ध से इनका वंशवृक्ष इस प्रकार दिया है—



सन् १९१२ में श्री एस् वी०पी० रङ्गनाथ स्वामी ने एक लेख लिखा था जोकि इण्डियन एण्टिक्वेरी नामक पत्रिका के इकतालीसवें अंक में प्रकाशित हुआ था। इसमें उन्होंने जो वंशवृक्ष दिया था वह अपूर्ण भी था और किंचित् त्रुटिपूर्ण भी। उसमें भट्टोजिदीक्षित के पिता और भाई के नाम का उल्लेख नहीं था। किंच उसमें भट्टोजिदीक्षित को श्रीशेषकृष्ण का शिष्य न बताकर उनके पुत्र वीरेश्वर शास्त्री का शिष्य बताया गया था जोकि ठीक नहीं है। पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रौढ-मनोरमा की कुचमर्दिनी टीका में भट्टोजिदीक्षित के विषय में स्पष्ट शब्दों में कहा है—**"शेषावतंसानां श्रीकृष्णपण्डितानां चिरार्याचितयोः पादुकयोः प्रसादादासादित-शब्दानुशासनः।"** इस उक्ति से भट्टोजिदीक्षित के श्रीशेषकृष्ण के शिष्य होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।[1]

श्री कौण्डभट्ट के काल के विषय में सौभाग्य से बहुत अधिक अनिश्चय नहीं है। भट्टोजिदीक्षित का समय सामान्य रूप से सत्रहवीं शताब्दी माना जाता है। रङ्गोजिभट्ट के भट्टोजिदीक्षित के भ्राता होने के कारण उनका भी यही समय है। उपरिनिर्दिष्ट वंशवृक्ष से स्पष्ट है कि रङ्गोजिभट्ट के पुत्र कौण्डभट्ट एवंच पण्डितराज जगन्नाथ समकालिक थे। पंडितराज जगन्नाथ शाहजहान के दरबारी कवि थे। शाहजहान का समय सत्रहवीं शताब्दी है। भट्टोजिदीक्षित और रङ्गोजिभट्ट का समय भी सत्रहवीं शताब्दी ही है पर उनके कौण्डभट्ट और पण्डितराज जगन्नाथ के पूर्ववर्ती होने के कारण यह कहना उचित होगा कि उनका (भट्टोजिदीक्षित और रङ्गोजिभट्ट का) काल सत्रहवीं शताब्दी का प्रथम चरण था जबकि कौण्डभट्ट और पण्डितराज जगन्नाथ का काल इसी शताब्दी का मध्यम चरण था।

श्रीकमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी के अनुसार श्रीकौण्डभट्ट का परिवार मूलतः गोदावरी के तटवर्ती प्रदेश का निवासी था पर बाद में बनारस में आकर बस गया था। भट्टोजि, रङ्गोजि आदि शब्दों में "**जि**" इस शब्द से यही पता चलता है ये विद्वान् मूलतः महाराष्ट्र के ही थे।

---

[1] वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन पुस्तकालय में उपलब्ध शब्दकौस्तुभ की एक पाण्डुलिपि के आदि में एक श्लोक पाया जाता है जो इस प्रकार है—

निर्विशेषमहं शेषाच्छेषकृष्णगुरुं भजे।
यो नामशेषाः शेषोक्तीर्विशिष्यैवाध्यजीगपत्॥

इससे भी यही सिद्ध होता है कि भट्टोजिदीक्षित के गुरु श्रीशेषकृष्ण ही थे।

श्री कौण्डभट्ट ने भूषणसार के आदि में ही ग्रंथारंभ का प्रयोजन दिया है। उन्होंने कहा है कि गौतम और जैमिनि के जिन व्याख्याकारों ने उनके वचनोंको बिना ठीक ठीक समझे सिद्धान्त बना डाले हैं उन सिद्धान्तों को मैं (प्रथमतः) युक्तिपूर्वक उपस्थापित करता हूँ और (बाद में) उनमें दोषोद्भावन करता हूँ–

गौतमजैमिनीयवचनव्याख्यातृभिर्दूषितान्,
सिद्धान्तानुपपत्तिभिः प्रकटये तेषां वचो दूषये।

यह है लेखक का प्रतिज्ञावाक्य। लेखक का गौतम और जैमिनि से कोई विरोध नहीं है। विरोध तो उनके उन व्याख्याकारों से है जिन्होंने उन्हें ठीक से नहीं समझा।

वैयाकरणभूषण और वैयाकरणभूषणसार के अतिरिक्त लेखक का एक अन्य ग्रंथ लघुवैयाकरणभूषणसार है। वैयाकरणभूषण एक बृहद् ग्रंथ है उसका संक्षिप्त रूप वैयाकरणभूषणसार है और संक्षिप्ततर रूप लघुवैयाकरणभूषणसार। एक ही ग्रंथ को इस प्रकार तीन रूप से प्रस्तुत करने की उस समय की शैली ही थी। श्री नागेशभट्ट ने भी यही किया। उन्होंने भी एक ही ग्रंथ को तीन रूपों में प्रस्तुत किया—मंजूषा, लघुमंजूषा, परमलघुमंजूषा।

यद्यपि वैयाकरणभूषणसार (बृहद्) वैयाकरणभूषण का ही सार है अथवा संक्षेप है तो भी दोनों ग्रंथों की भाषा भिन्न-भिन्न होने के कारण बहुत कुछ स्वतन्त्र ग्रंथ सा ही माना जाने लगा है। (बृहद्) वैयाकरणभूषण में जो शास्त्रार्थ विस्तार से दिये गये हैं वे ही इसमें शब्दान्तर में संक्षेप से प्रस्तुत किये गये हैं।

श्री कौण्डभट्ट के आऊफ्रैख्ट (Aufrecht) द्वारा उल्लिखित अन्य ग्रंथ हैं—(१) तर्करत्न, (२) तर्कप्रदीप, (३) न्यायपदार्थदीपिका, (४) वैयाकरणसिद्धान्त-दीपिका, (५) स्फोटवाद।

वैयाकरणभूषणसार पर निम्नलिखित नौ टीकाएं उपलब्ध होती हैं—(१) हरिराम कृत **काशिका** (२)वनमालीमिश्र कृत **वैयाकरणमतोन्मज्जिनी** (३) गोपालदेव-कृत **लघुभूषणकान्ति** (इस टीका का एकमात्र खण्डित हस्तलेख उपलब्ध हुआ है। टीका नामार्थनिर्णय से शक्तिनिर्णय तक के भाग पर ही पाई गई है) (४) हरिवल्लभ कृत **दर्पण** (५) भैरवमिश्रकृत **परीक्षा** (६) रुद्रनाथकृत **विवृति** (७) कृष्णमित्र कृत **भूषणव्याख्या** (८) बालकृष्णशास्त्रिपंचोलीकृत **प्रभा** (९) शङ्करशास्त्रि कृत **शाङ्करी**।

वैयाकरणभूषणसार के इस समय तीन प्रसिद्ध मुद्रित संस्करण उल्लेखनीय हैं—

(१) डिपार्टमेण्ड ग्राफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन, बम्बई,का १९१५ का श्री कमला-शंकर प्राणशंकर द्वारा सम्पादित संस्करण ।

(२)चौखम्बा संस्कृत सीरिज ग्राफिस, काशी, का १९३९ का पंडित सदाशिव शास्त्री जोशी द्वारा सम्पादित संस्करण ।

(३) काशी निवासी पंडित बालकृष्ण शास्त्रीपंचोली का १९४७ में सम्पादित एवं प्रकाशित संस्करण ।

१९४७ में ही स्वनामधन्य प्रात:स्मरणीय गुरुवर्य पंडित श्रीशुकदेवजी झा ने भूषणसारप्रकाश नाम से भूषणसार के शास्त्रार्थों का संक्षिप्त एवं छात्रोपयोगी पद्धति से विवेचन प्रस्तुत किया था ।

वैयाकरणभूषण,वैयाकरणभूषणसार एवं लघुवैयाकरणभूषणसार भट्टोजिदीक्षित कृत ७४ कारिकाग्रों की व्याख्या के रूप में लिखे गये हैं । भट्टोजिदीक्षित ने जिन सिद्धान्तों का सविस्तर प्रतिपादन शब्दकौस्तुभ में किया था उन्हीं का संक्षेप से प्रतिपादन इन कारिकाग्रों में किया है । शब्दकौस्तुभ महाभाष्य पर ग्राधारित है जैसाकि भट्टोजिदीक्षित ने प्रथम कारिका में ही कहा है—

फणिभाषितभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः ।
तत्र निर्णीत एवार्थः संक्षेपेणेह कथ्यते ।।

शब्दकौस्तुभ ग्रष्टाध्यायी की व्याख्या है । इस व्याख्या में भट्टोजिदीक्षित ने स्थान स्थान पर व्याकरणदर्शन के गूढ तत्त्वों का निरूपण किया है । इन्हीं गूढ तत्त्वों को उन्होंने संक्षिप्त रूप में कारिकाग्रों के रूप में संग्रथित कर दिया । उन कारिकाग्रों में बहुत सी भट्टोजिदीक्षित की स्वयं की हैं पर कुछ ग्रंथान्तर से ली गई हैं ।

वैयाकरणभूषणसार व्याकरणदर्शनकी गूढतत्त्वनिरूपिका कारिकाग्रोंकी व्याख्या होने के कारण व्याकरणदर्शन का ही ग्रंथ हैं । इसमें निर्णय शब्द से वैयाकरणों के तत्तद्विषयक सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है । शब्दों की रूपप्रक्रिया पर नहीं ग्रपितु ग्रर्थो पर इसमें विचार है । धात्वर्थनिर्णय को ही लीजिये । धातु ग्रौर प्रत्यय के सम्मिश्रण से बने क्रियापद में धात्वंश का ग्रर्थ क्या है ग्रौर प्रत्ययांश का क्या, इसकी चर्चा इसमें है । वैयाकरणों के ग्रनुसार धातु का ग्रर्थ फल ग्रौर व्यापार है । तिङ् प्रत्यय का ग्रर्थ कर्त्ता, कर्म, संख्या ग्रौर काल है । मीमांसकों के ग्रनुसार धातु का ग्रर्थ फल ग्रौर तिङ् प्रत्यय का ग्रर्थ व्यापार एवञ्च संख्या ग्रौर काल है । नैयायिकों के ग्रनुसार धातु का ग्रर्थ फल ग्रौर व्यापार है पर तिङ् प्रत्यय का ग्रर्थ कृति ग्रथवा यत्न एवञ्च संख्या ग्रौर काल है । वैयाकरणों

और मीमांसकों के मत में व्यापारविशेष्यक अथवा भावनाविशेष्यक बोध होता है पर नैयायिकों के मत में प्रथमान्तपदार्थविशेष्यक बोध होता है। ग्रंथकार ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वैयाकरणों, मीमांसकों और नैयायिकों इन तीनों ही के मतों की चर्चा कर वैयाकरणों के मत की स्थापना की है और मीमांसकों और नैयायिकों के मत का निराकरण किया है।

वैयाकरणभूषणसार के १४ निर्णयों (प्रकरणों) में से धात्वर्थनिर्णय का भाग दिल्ली विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में नियत है। ग्रंथ के क्लिष्ट शब्दावली में लिखा होने के कारण विद्यार्थियों को इसे समझने में बहुत कठिनाई हो रही है। इसी कठिनाई को दूर करने की सदिच्छा से प्रेरित हो सुप्रसिद्ध वैयाकरण पंडित भीमसेन शास्त्री ने हिन्दी में इसकी सरल और सुबोध व्याख्या लिखी है। शास्त्री जी का व्याकरणशास्त्र का अध्ययन अति गहन है। विषय स्पष्टातिस्पष्ट हो, इस विषय में वे सतत उद्योगशील रहे हैं। इसी का यह परिणाम है कि उनकी व्याख्या में गहराई भी है और विशदता भी। आशा है यह व्याख्या विद्वानों के लिये एवंच विद्यार्थियों के लिये एक समान उपयोगी होगी।

—सत्यव्रत शास्त्री

(व्याकरणाचार्य, एम. ए. एम्. ओ. एल्,
पी. एच्. डी, रीडर, दिल्लीविश्वविद्यालय
संस्कृतविभाग)

पूर्वपीठिका

व्याकरणशास्त्र का प्रारम्भ कब हुआ यह अज्ञात है। परन्तु इतना निश्चित है कि इसका आरम्भ वैदिककाल से ही है[1]। मैत्रायणीसंहिता, ऐतरेयब्राह्मण, गोपथब्राह्मण, मुण्डकोपनिषद् आदि अनेक वेदकालीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख पाया जाता है[2]। भारतीय मनीषियों के अनुसार व्याकरणविद्या का मूलस्रोत वेद ही है। पतञ्जलि ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक में 'चत्वारि शृङ्गा' (ऋ० ४.५८.३) आदि अनेक वेदमन्त्रों का व्याकरणमूलकरूप में उल्लेख किया है। पाणिनि से बहुत पूर्व व्याकरण शास्त्र का पूर्णतया विकास हो चुका था। वैदिकपदपाठ, प्रातिशाख्य आदि इसके स्पष्ट ज्ञापक हैं। यास्क ने अपने निरुक्त में अनेक वैयाकरणों का उल्लेख किया है[3]। रामायण और महाभारत के कई स्थलों पर व्याकरणशास्त्र का स्पष्ट उल्लेख मिलता है[4]।

व्याकरणशास्त्र का मुख्य उद्देश्य शब्दों के साधुत्व असाधुत्व का व्याख्यान करना है। परन्तु भाषा में प्रयुक्त शब्दों का विवेचन करते हुए प्रकृति प्रत्यय के अर्थों व सम्बन्धों का चिन्तन आदि अनायास ही करना पड़ता है। अतः यहां आ कर व्याकरण दर्शन का रूप धारण करने लग जाता है। इस प्रकार व्याकरण के दो

---

[1] इसीलिये तो भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—"पुराकल्प एतदासीत्—संस्कारोत्तरं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते" (महाभाष्य पस्पशाह्निक)। पतञ्जलि जिसे पुराकल्प कहते हैं वह वैदिककाल ही हो सकता है॥

[2] तस्मात् षड् विभक्तयः (मैत्रायणी संहिता १.७.३)। सप्तधा वागभवत् (ऐतरेय ब्राह्मण ७.७)। ओंकारं पृच्छामः, को धातुः, किं प्रातिपदिकम्, किं नामाख्यातम्, किं लिङ्गम्, किं वचनम्, का च विभक्तिः, कः प्रत्ययः,कः स्वर उपसर्गो निपातः, किं वै व्याकरणम्—इत्यादि (गोपथब्राह्मण, पूर्वा० १.२४)। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते (मुण्डकोपनिषत् प्रथमखण्ड ५)।

[3] न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानाञ्चैके (निरुक्त)॥

[4] नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्। बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपभाषितम् (किष्किन्धा ३.२९)॥ सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते। तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा (महाभारत उद्योगपर्व ८३.६१)॥

रूप हो जाते हैं—एक प्रक्रियामार्ग, और दूसरा पद पदार्थ और तत्सामर्थ्य आदियों का चिन्तनविभाग।

व्याकरण का दर्शनरूप भी अत्यन्त प्राचीन है। यास्क से भी बहुत पहले व्याकरणदर्शन के अनेक आचार्यों का उल्लेख मिलता है। यास्क ने 'इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः, सर्वाणि नामानि आख्यातजानि' इत्यादि वचनों में अनेक शब्दशास्त्रीय दार्शनिक आचार्यों का उल्लेख किया है। पाणिनि ने 'अवङ् स्फोटायनस्य' (६.१.१२३) सूत्र में स्फोटायन आचार्य का स्वयं उल्लेख किया है। पदमञ्जरीकार हरदत्त के अनुसार स्फोटायन स्फोटवाद का प्रवर्त्तक व प्रचारक आचार्य था[१]। नागेशभट्ट ने भी इसी मत का अनुमोदन किया है[२]। व्याडि भी व्याकरण का दार्शनिक आचार्य था। व्याडि के संग्रहनामक ग्रन्थ में—जो एकलक्षश्लोकात्मक बताया जाता है[३] —चौदह हजार विषयों का अनुचिन्तन था ऐसा भर्तृहरि की महाभाष्यटीका से प्रतीत होता है[४]। भाष्यकार ने स्वयं भी संग्रहग्रन्थ का उल्लेख किया है[५]। दुर्भाग्य से संग्रहग्रन्थ बहुत प्राचीनकाल से लुप्त हो चुका है, वरन् व्याकरण के दर्शनशास्त्रीय अंश पर बहुत अधिक प्रकाश पड़ता।

वर्त्तमानकाल में, व्याकरण के दर्शनशास्त्रीय अंश के प्रतिपादक महाभाष्य में यत्र तत्र गुम्फित हुए कई वचन व स्थल ही प्राचीन सामग्री के रूप में सुरक्षित हैं। इनका अवलम्बन कर के भर्तृहरि का बनाया वाक्यपदीय ही सब से प्राचीन व्याकरण का विशुद्ध दार्शनिक ग्रन्थ कहा जा सकता है। वाक्यपदीय के तीन काण्ड प्रसिद्ध हैं—ब्रह्मकाण्ड, पदकाण्ड, प्रकीर्णकाण्ड। भर्तृहरि का काल वाक्यपदीय के सम्पादक

---

[१] स्फोटोऽयनं परायणं यस्य स स्फोटायनः, स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः (पदमञ्जरी ६.१.१२३)॥

[२] वैयाकरणनागेशः स्फोटायनऋषेर्मतम्।
परिष्कृत्योक्तवांस्तेन प्रीयतां जगदीश्वरः॥ (स्फोटवाद पृ० १०२)

[३] संग्रहो व्यडिकृतो लक्षश्लोकसंख्यो ग्रन्थ इति प्रसिद्धिः (महाभाष्योद्योते नागेशभट्टः)॥

[४] चतुर्दश सहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे (परीक्षितानि)। (महाभाष्यटीका स्वामिनाथन् संस्करण पृष्ठ २५)

[५] संग्रहे तावत् प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति। तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयः—यद्येवं नित्योऽथापि कार्य उभयथा लक्षणं प्रवर्त्यम् (महाभाष्य पस्पशाह्निक)॥

K. V. Abhyankar के अनुसार पाँचवीं शताब्दी (ख्रिष्टीय) है। वाक्यपदीय पर स्वोपज्ञवृत्ति, पुण्यराज, हेलाराज आदि अनेक प्राचीन टीकाएं उपलब्ध हैं। कैयट (११वीं शताब्दी) ने भी महाभाष्य की प्रदीपटीका में भर्तृहरि का खूब आश्रय लिया है। प्रदीप में स्थान स्थान पर हरिकारिकाओं तथा महाभाष्यटीका का उल्लेख है। भर्तृहरि से लेकर भट्टोजिदीक्षित के काल तक प्राय: बारह सौ वर्षों तक वाक्यपदीय ही व्याकरण के दर्शन क्षेत्र पर छाया रहा। बीच बीच में कुछ फुटकर रचनाएं हुईं भी, पर वाक्यपदीय ही वैयाकरणनिकाय में प्रमाणभूत ग्रन्थ माना जाता रहा।

अब हम सतरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भट्टोजिदीक्षित तक पहुँचते हैं। दीक्षितजी ने जहाँ व्याकरणप्रक्रिया को पराकाष्ठा तक पहुँचाया वहाँ शब्दकौस्तुभ में व्याकरणदर्शनशास्त्र के सिद्धान्तों की भी स्थान स्थान पर अत्यन्त विस्तार से चर्चा की। शब्दकौस्तुभ इस समय समग्र उपलब्ध नहीं[1] परन्तु दीक्षितजी के अपने कथन तथा व्याख्याकारों के निर्देश से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दीक्षितजी ने यह ग्रन्थ समग्र रचा था[2]। शब्दकौस्तुभ की रचनाके अनन्तर दीक्षितजीने दार्शनिक सिद्धान्तों को समझाने के लिये वैयाकरणसिद्धान्तकारिका नामक ७४ कारिकामय लघुग्रन्थ लिखा। इनमें से कई कारिकाएं भर्तृहरि व अन्य पूर्वकालिक वैयाकरणों की हैं[3]। दीक्षितजी की इन कारिकाओं में व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों का अत्यन्त संक्षिप्त सूत्ररूप परिचयमात्र प्राप्त होता है। अत: जब तक इनका विवेचन न किया जाये विद्यार्थियों को व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों का ज्ञान नहीं हो सकता। सौभाग्य से इनका विवेचन उनके भतीजे, श्रीरङ्गोजिभट्ट के पुत्र श्रीकौण्डभट्ट ने किया है। इस से इतना

---

[1] इस समय शब्दकौस्तुभ के प्रथम अढ़ाई अध्याय तथा चतुर्थाध्याय के चारों पाद ही उपलब्ध हैं। इसका विवेचन भैमीभाष्य के पृष्ठ १३ पर किया है वहीं देखें॥

[2] 'अतो लोपः' (सि० कौ० २३०८) सूत्र की प्रौढमनोरमा में 'विस्तरः शब्दकौस्तुभे बोध्यः' यह लिखा है। इसकी व्याख्या करते हुए शब्दरत्न में 'कौस्तुभे षाष्ठे' यह स्पष्ट निर्देश उपलब्ध होता है॥

[3] उदाहरणार्थ धात्वर्थनिर्णयप्रकरण की इक्कीस कारिकाओं में से चार [आख्यातशब्दे भागाभ्यां (१४), साध्यत्वेन क्रिया तत्र (१५), अविग्रहा गतादिस्था (१६), भेद्यभेदकसम्बन्ध (२१)] भर्तृहरि के वाक्यपदीय से ली गई हैं। इसी प्रकार आगे भी अनेक कारिकाएँ वाक्यपदीयसे उद्धृत हैं। भैमीभाष्य में इस प्रकार की प्रत्येक कारिका पर टिप्पण दिया गया है—वहीं देखें॥

तो कहा ही जा सकता है कि दीक्षितजी के विचारों का उसे पूरा पूरा ज्ञान रहा होगा। कौण्डभट्ट के ग्रंथ के निर्माण के समय दीक्षितजी जीवित थे इसका भी स्पष्ट प्रमाण इस ग्रंथ में स्पष्ट उपलब्ध होता है[1]। अतः दीक्षित जी का आशय भूषण में पूरा पूरा आ गया है—इसमें सन्देह नहीं रह जाता। कहीं कहीं कौण्डभट्ट ने उन से विमति भी प्रकट की है—जो उचित भी है[2]।

कौण्डभट्ट ने अपने समय की प्रथा के अनुसार[3] भूषण ग्रंथ के तीन संस्करण निकाले थे—वैयाकरणभूषण (बृहद्वैयाकरणभूषण), भूषणसार और लघुभूषणसार। इन तीनों में भूषणसार का ही अधिक प्रचार है। वस्तुतः भूषणसार इसका पात्र भी हैं। इसमें अत्यन्त सरलमार्ग से कारिकाओं की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की गई है। कौण्डभट्ट की शैली अत्यन्त प्रवाहपूर्ण है। विरोधियों के तर्कों का बलपूर्वक दृढ़शब्दों में उपन्यास करके फिर उनका युक्तियुक्त खण्डन देखते ही बनता है। कारिका के नाममात्र का अवलम्बन ले कर ये इतनी अधिक बातें कह जाते हैं जिससे पाठक आश्चर्यचकित व मन्त्रमुग्धसा हो जाता है। उदाहरणार्थ–'तस्मात् करोतिर्धातोः स्यात्'(का०८) में 'तस्मात्' पद को ही लीजिये, इसका जो विवरण कौण्डभट्ट ने प्रस्तुत किया है उस की पाठक को स्वप्न में भी कल्पना नहीं हो सकती थी। इतना होने पर भी उस व्याख्या को असम्बद्ध (Irrelevant) नहीं कह सकते। वस्तुतः यह शैली बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। पाणिनि के सूत्रों के किसी पद को लेकर इसी प्रकार के लम्बे लम्बे व्याख्यान महाभाष्य में बहुत स्थानों पर उपलब्ध होते हैं। 'सूत्रेष्वेव तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्त्तिके' इस मार्ग के अनुगामी जिनेन्द्रबुद्धि के न्यास में भी इस शैली का पदे पदे दर्शन होता है।

---

[1] वाग्देवी यस्य जिह्वाग्रे नरीनर्त्ति मुदा सदा।
भट्टोजिदीक्षितमहं पितृव्यं नौमि सिद्धये ॥ (देखो भैमीभाष्य पृष्ठ ६)

[2] यथा—'फलव्यापारयोरेक'कारिका में 'मात्र' शब्द का उपादान किया गया है। किन्त्व ग्यारहवी कारिका में 'ग्रह' शब्द का उपादान कर के भी कौण्डभट्ट ने अपनी विमति प्रकट की है। (देखें भैमीभाष्य पृ० १३५)

[3] इस काल में कौमुदी के तीन संस्करण यथा—सिद्धान्तकौमुदी, मध्यसिद्धान्तकौमुदी, लघुसिद्धान्तकौमुदी। मञ्जूषा के तीन संस्करण यथा—मञ्जूषा, लघुमञ्जूषा, परमलघुमञ्जूषा। शेखर के दो संस्करण प्रसिद्ध हैं—बृहच्छब्देन्दुशेखर, लघुशब्देन्दुशेखर। सम्भवतः लघुशब्देन्दुशेखर के निर्माणानन्तर थोड़े समय में नागेशभट्ट का शरीरान्त हो गया वरन् इसका भी तीसरा संस्करण प्रकाश में आता।

कौण्डभट्ट की शैली वस्तुतः इस प्रकार के ग्रन्थों में प्रयुक्त होने वाली शैलियों में सबसे अधिक रम्य और सरल है। कौण्डभट्ट के उत्तरवर्ती नागेशभट्ट आदियों के ग्रन्थ भूषणसार की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट और जटिल हैं। कौण्डभट्ट ने अपने ग्रन्थ को चौदह भागों में विभक्त किया है[1]। जिस प्रकार महाभाष्य का प्रथमाह्निक (पस्पशाह्निक) अत्यन्त सरस और सुन्दर बना है[2]। इसी प्रकार इस ग्रन्थ का पहला प्रकरण भी अतीव सरस और सुन्दर बन पड़ा है। इस में ग्रन्थकार की हृदयहारिणी शब्दावली पदे पदे स्पष्ट प्रतिबिम्बित होती है। कौण्डभट्ट कोरे 'टिड्ढाणञ्—'के पण्डित ही न थे अपितु मीमांसाशास्त्र, न्यायशास्त्र, वेदान्तशास्त्र, वैशेषिकशास्त्र, आयुर्वेद आदियों के भी पारंगत विद्वान् थे। इनकी विद्वत्ता का दिग्दर्शन भूषणसार के पहले प्रकरण 'धात्वाख्यातार्थनिर्णय' में भली भांति स्पष्ट है। अतएव कई विश्वविद्यालयों ने इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकरण अपने पाठ्यक्रम में निर्धारित कर रखा है। इस ग्रन्थ पर यद्यपि दर्पण-परीक्षा-काशिका आदि अनेक संस्कृतटीकाएं हैं परन्तु वे प्रायः नव्यन्यायघटित शब्दावली के कारण अत्यन्त क्लिष्ट और गहन हैं—इन से कृतभूरिपरिश्रम विद्वान् ही लाभ उठा सकते हैं। साधारण छात्रों को तो इन के दर्शनमात्र से भी भय लगता है। यह ग्रन्थ आचार्य आदि परीक्षाओं में भी पाठ्यत्वेन नियुक्त है। परन्तु प्रायः वहां भी विद्यार्थी प्रश्नोत्तरियों को रट कर किसी न किसी प्रकार इस ग्रन्थ से पिण्ड छुड़ाने का यत्न किया करते हैं। गहन अध्ययन की रुचि उन में भी बहुत कम देखी जाती है। यह सब इस ग्रन्थ के साथ अन्याय ही कहा जा सकता है। इस का कारण विश्वविद्यालयीय स्तर के लिये उपयुक्त इस के हिन्दीभाष्य का अभाव ही है। हिन्दी तो क्या अन्य भी किसी भारतीय व विदेशी भाषा में इसका अनुवाद तक नहीं किया गया। न जाने विद्वत्तलजों का इस ओर ध्यान अब तक क्यों नहीं गया। स्वर्गीय श्रद्धेय डा०

---

[1] (१) धात्वर्थनिर्णय (२) लकारार्थनिर्णय, (३) सुबर्थनिर्णय, (४) नामार्थनिर्णय, (५) समासशक्तिनिर्णय, (६) शक्तिनिर्णय, (७) नञर्थनिर्णय, (८) निपातार्थनिर्णय, (९)भावप्रत्ययार्थनिर्णय, (१०) देवताप्रत्ययार्थनिर्णय, (११) अभेदैकत्वसङ्ख्यानिर्णय, (१२) संख्याविवक्षादिनिर्णय, (१३) क्त्वाद्यर्थनिर्णय, (१४) स्फोटनिर्णय ॥

[2] जैसा कि किसी ने कहा है—

"शास्त्रेष्वाद्यं व्याकरणं मुख्यं तत्रापि पाणिनेः।
रम्यं तत्र महाभाष्यं रम्या तत्रापि पस्पशा ॥"

देवराज जी चानना ने सर्वप्रथम मुझे इस ओर प्रेरित किया और दिल्ली विश्वविद्यालय की सान्ध्यकालीन स्नातकोत्तरकक्षाओं में इस ग्रन्थ को पढ़ाने के लिये नियुक्त किया। विश्वविद्यालय में पदे पदे इस के हिन्दीभाष्य की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी, परन्तु किसी ने इस ओर यत्न नहीं किया। अन्त में दिल्ली विश्वविद्यालय के रीडर आदरणीय डा० सत्यव्रत जी ने एक दिन मुझे बुला कर इस ग्रन्थ के हिन्दी भाष्य की आवश्यकता पर अच्छा खासा व्याख्यान दे डाला। वे स्वयं इस ग्रन्थ के मर्मज्ञ हैं परन्तु बहुधन्धाप्रिय व्यक्ति हैं। अपने जीवन के एक एक क्षण को विद्यार्जन व प्रसारण में विनियुक्त करने में कटिबद्ध रहते हैं। थोड़े काल के लिये रात्रि का आवश्यक विश्राम भी उनको चुभता रहता है। ऐसे व्यक्ति की प्रेरणा भला व्यर्थ कैसे हो सकती है। फलतः यह भैमीभाष्य जो आज आप लोगों के सामने प्रस्तुत है वस्तुतः उन डाक्टर जी की ही बार बार प्रेरणा व उत्साह का प्रसूनरूप है। उन्होंने ग्रन्थ को आमूलचूड़ पढ़कर तुरन्त मुझे इस के प्रकाशित करने की प्रेरणा दी और ग्रन्थ की शैली को सराहा। यदि डा० जी मेरा उत्साह न बढ़ाते तो लिखे जाने पर भी यह ग्रन्थ सम्भवतः पाठकों के हाथों में न होता। अतः सब पाठकों को डाक्टरजी का हृदय से धन्यवाद करना चाहिये।

इस ग्रन्थ के लिखने में मुझे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। इस ग्रन्थ की गहराइयों तक पहुँचने वाले विद्वानों की संख्या अत्यल्प है। मेरी कठिनाइयां कई कई दिनों तक हल न होती थीं मैं बेचैन रहता था। अन्त में इस शास्त्र में कृतभूरिपरिश्रम, वर्षों तक इस ग्रन्थ के पठनपाठन में रस लेने वाले श्री पं० कुबेरदत्तजी शास्त्री, भूतपूर्व प्रिंसिपल श्रीराधाकृष्ण महाविद्यालय खुर्जा, का परिचय मुझे प्राप्त हुआ। परन्तु जब मैं उनके पास पहुँचा तो वे प्रायः पठनपाठन विषयक नेत्रज्योति खो चुके थे तथा शरीर से बहुत अशक्त थे। फिर भी उन्होंने शय्या पर लेटे लेटे मेरी शंकाओं का बड़ी विद्वत्ता से समाधान किया। किन्तु इस ग्रन्थ के निर्माण में पूरा सहयोग तो उनके शिष्य श्री पं०हरदत्तजी शास्त्री व्याकरणाचार्य, वर्त्तमान व्याकरणशास्त्र विभागाध्यक्ष पूर्वोक्त विद्यालय का है। इन के ऋण से मैं कदापि उऋण नहीं हो सकता। इन के द्वार सदा मेरे लिये खुले थे। गुरुकल्प शास्त्रीजी व्याकरण के मर्मज्ञ विद्वानों में हैं। इनके अध्यापन व शङ्का-समाधान की शैली अद्भुत है।

आज आप के सामने जो भाष्य प्रस्तुत है इसे लिखने में जिन बाधाओं से निपटना पड़ा—उन की गणना मै यहाँ नहीं कर रहा। मुझ से जो बन सकता था किया—अपनी तरफ से मैंने कोई कसर नहीं छोड़ी। प्रकाशन की व्यवस्था भी

अपनी तरफ से पूरी पूरी सावधानी से की गई राधाप्रेस के सञ्चालकों और कर्मचारियों का भी इसमें पूरा पूरा सहयोग मिला। प्रायः एक महीने के अन्दर इस ग्रंथ का शुद्ध मुद्रित हो जाना अपने आप में एक आश्चर्य ही है। इस सब का श्रेय राधाप्रेस के सञ्चालक श्रीपं० हितशरण जी और व्यासनन्दन जी दोनों भाइयों पर है।

दिल्लीविश्वविद्यालय के संस्कृतविभागाध्यक्ष सौम्यमूर्ति श्रीमान् डा० T.G. Mainker, एम० ए०, पी एच् डी, डी लिट् का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्हों ने इस ग्रन्थ को पढ़ कर अपने अमूल्य सुझावों से मुझे कृतार्थ किया और मेरे उत्साह को द्विगुणित किया। इनकी शुभ सम्मति और मङ्गलकामना ग्रंथ के आदि में दी गई है। डाक्टर साहिब अनेक विद्याओं के आकर होते हुए भी अपने नम्र सौम्य स्वभाव से सब के आकर्षण के पात्र हैं। शुभसम्मति और मंगल कामना के लिये मैं इन का हृदय से आभारी हूँ।

श्रीमान् डा० सत्यव्रतजी ने अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी मेरे अनुरोध पर इस भाष्य की विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखने की कृपा की है इसमें उन्होंने कौण्डभट्ट पर विस्तृत प्रकाश डाला है—इसके लिये मैं उन का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

इतना होने पर भी यह ग्रंथ सर्वथा त्रुटिरहित हो यह बात नहीं है। ग्रन्थ का विषय ही ऐसा है, इसमें स्थान स्थान पर मतभेद का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। परन्तु इतना सत्य है कि मैंने अपनी ओर से इसमें कोई कसर नहीं छोड़ी। इतने स्वल्पकाल में इससे अधिक मैं कुछ कर भी नहीं सकता था। इस भाष्य में भूषणसार के शब्दार्थों की ओर ध्यान नहीं दिया गया, क्योंकि यह काव्यग्रंथ नहीं अपि तु दर्शनग्रन्थ है। स्थान स्थान पर इसके भावों को वक्तव्यों और फुटनोटों में स्पष्ट किया गया है। कई स्थानों पर इनके लिये अत्यधिक प्रयास भी करना पड़ा है। इस ग्रंथ के अन्त में दिये गये सात परिशिष्ट भी छात्रों तथा अनुसन्धानप्रेमी विद्वानों के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगे।

इस ग्रंथ के मुद्रण में प्रिय वत्स पतञ्जलि शास्त्री ने भी दिनरात एक कर दिया था—इसके लिये मैं उसे शुभाशीर्वाद देता हूँ।

जो कुछ है—यही है। अब पाठकों का काम है कि इस ग्रंथ को कसौटी पर कसें। विद्यार्थियों का काम है कि इस से लाभ उठाएं। यदि छात्र इस से कुछ भी लाभान्वित हो सके तो मैं अपने परिश्रम को सफल मानूंगा—

विद्वच्चरणानुसेवी
भीमसेन शास्त्री

यमुना पार
५९६/११D, मुकर्जी स्ट्रीट
गांधी नगर (दिल्ली)
१९.१.६९

विषयानुक्रमणिका

(५७-५८), 'पश्य मृगो धावति' में एकवाक्यता का विवेचन (५८-६१), नैयायिकों का समाधान तथा उसका खण्डन (६१-६२), नैयायिकों और वैयाकरणों के बोध में कार्यकारणभाव (६३-६४), भावनाप्रकारकबोध में भावना की उपस्थिति का कारण होना (६५-६६), कर्मणि स्थलों पर भी भावनाप्रधान बोध और नवीन वैयाकरणों की विप्रतिपत्ति (६७-६८), नश्यति में व्यापार का विवेचन (६८), जानाति आदियों में भी व्यापार की सत्ता (७०)।

तृतीया कारिका— ७०—७२

पचति आदि में उभयबोध की आपत्ति (७०), पृथक् पृथक् बोध के चिह्न (७१-७२)।

चतुर्थी कारिका— ७२—७५

पूर्वोक्तनियम में दोष की आशङ्का (७२-७३), उस का समाधान (७४-७५)।

पञ्चमी कारिका— ७५—८९

सूचीकटाहन्याय (७५-७६), लडाद्यन्त में व्यापार की अवाच्यता (७६), कारिका का अवतरण और उस का सरलार्थ (७७), उद्देश्य विधेय के सर्वनामों का विवेचन (७७), कारिका में व्यापार पद के ग्रहण का प्रयोजन (७८-७९), धातु का कृति अर्थ मानने में दोष (७९-८१), भावना के अवाच्य होने पर 'घटो भवति' में द्वितीया की प्राप्ति (८१-८२), नैयायिकों के मत में कर्तृ लक्षण की अनुपपन्नता (८२), मीमांसक मत में भी दोष (८३), भावना के अवाच्य रहते सकर्मकाऽकर्मकव्यवस्था का भङ्ग होना (८४-८६), धातु का केवल फल अर्थ मानने में दोष (८६-८७), प्रकारान्तर से कारिका के उत्तरार्ध की व्याख्या (८८-८९)।

षष्ठी कारिका— ८९—९२

कृञ् का केवल यत्न अर्थ नहीं अपि तु उत्पादन अर्थ है (८९), अन्यथा कर्मकर्तृ प्रक्रिया में उस से कर्मवद्भाव न होगा (९०-९२)।

सप्तमी कारिका— ९२—९६

ईप्सित कर्मों का त्रैविध्य (९३), प्राप्य कर्म में कर्मवद्भाव का न

तमत्वं धातुत्वम्' यह लक्षण भी नहीं किया जा सकता (१३५-१३६)।

'योगाद् रूढिर्बलीयसी' के समर्थन में मीमांसा के उत्तराशब्द का प्रमाण (१६९-१७०), फलांश भी क्रिया में विशेषण (१७१), क्रिया के विना साधुत्व नहीं (१७२)।

अष्टादशी कारिका— १७३—१७४

'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' तथा 'भूतले घटो न' की अनुपपत्ति (१७३-१७४), तार्किकों को उपालम्भ (१७३-१७४)।

नवदशी कारिका— १७३—१८०

इनि आदि का भी क्रिया में अन्वय (१७५), 'कृतपूर्वी कटम्' का विवेचन (१७६-१७७), समास के एकदेश में सम्बन्धिशब्दों का अन्वय (१७७-१७९), कारिकागत आदि शब्द का विवेचन (१७९-१८०)।

विंशतितमी कारिका— १८०—१८४

कृत्वसुच् प्रत्ययों में अतिप्रसंग की आशंका और उसका समाधान (१८०-१८३), प्रकारान्तर से समाधान (१८३-१८४)।

एकविंशतितमी कारिका— १८४—१९१

बोधकतारूपा शक्ति व्याकरणनुसार (१८४-१८६), अतिरिक्त शक्तिवाद में भी व्याकरणनुसारी मन्तव्यता (१८६-१८७), क्रत्वर्थता और पुरुषार्थता का विवेचन (१८७-१९०), जञ्जभ्यमानाधिकरण का विवेचन (१८८-१९०), असाधु शब्दों से भी बोध होता है (१९०-१९१), भैमीभाष्यकार का परिचय आदि (१९१-१९२)।

परिशिष्ट—(सात) १९३—१९९

कारिकार्धों की वर्णानुक्रमणी (१९३) विशिष्ट स्थलों की वर्णानुक्रमणी (१९४-१९५), भूषणसार में स्मृत ग्रन्थों व मतों की वर्णानुक्रमणी (१९६), सम्पूर्णग्रन्थगत पद्यों की वर्णानुक्रमणी (१९७-१९८), भैमीभाष्य में भूषणसार से वैमत्यप्रतिपादक स्थलों की सूची (१९८), सहायक ग्रन्थों की सूची (१९९-२०१), सम्पूर्ण ग्रन्थ में आये भर्तृहरि के वचनों का वर्णानुक्रम से संग्रह (२०१-२०२)।



श्रीमत्कौण्डभट्टविरचितो

वैयाकरण-भूषण-सारः

भीमसेनशास्त्रिकृत-भैमीनामक-विस्तृतहिन्दीभाष्योपेतः

(भैमीभाष्यकर्त्तुर्मङ्गलाचरणं विज्ञप्तिश्च)

भ्रामयन् सर्वसंसारं न निर्णीतोऽस्ति यो बुधैः ।
अस्तिनास्तीति सन्देहो यत्कृते वर्त्तते सदा ॥१॥

बुद्धिं मे प्रोज्ज्वलां दद्याद् बुद्ध्यतीतः स योगदः ।
यथा सम्प्राप्तसामर्थ्यो नेह कुण्ठामवाप्नुयाम् ॥२॥

लोका बिभ्यति नो यस्मात् प्राणिनां योऽभयङ्करः ।
नाम्ना सेनान्तभीमोऽस्ति सेना यस्य न विद्यते ॥३॥

तेनैव निर्मितं भाष्यं हिन्दीभाषाविभूषितम् ।
प्रीतिकृच्छात्रसङ्घस्य स्यादेतत् प्रार्थ्यते प्रभुः ॥४॥

कामं सन्तु कृतावत्र त्रुटयो मे सहस्रशः ।
तथापि च्छात्रसङ्घोऽत्र मोदं परमवाप्स्यति ॥५॥

कृपा स्याज्जगदीशस्य यत्नो मे सफलो भवेत् ।
यतो मौर्ख्याऽभिभूतस्य को देवादपरोऽस्ति मे ॥६॥

भूषणसारः—

श्रीलक्ष्मीरमणं नौमि गौरीरमणरूपिणम् ।
स्फोटरूपं यतः सर्वं जगदेतद् विवर्त्तते ।।१।।

अन्वयः—(अहम्) गौरीरमणरूपिणं श्रीलक्ष्मीरमणं नौमि । यतः स्फोटरूपं सर्वमेतद् जगद् विवर्त्तते ।।

मैं (कौण्डभट्ट) शोभासम्पन्न लक्ष्मी जी के पति (श्री विष्णु) को नमस्कार करता हूँ जिन्होंने पार्वतीपति—शिव का रूप धारण कर रखा है[1] । उन से ही शब्द और अर्थ रूप यह सम्पूर्ण जगत्[2] विवर्त्तरूपेण प्रतीत हो रहा है[3] ।।

टिप्पणम् :— श्रीः=शोभा, तया सहिता या लक्ष्मीः, तस्या रमणः =पतिः, तम् । यद्वा—श्रीसहितो लक्ष्मीरमणः श्रीलक्ष्मीरमणः, तम् । अथवा—श्रीः=सरस्वती, लक्ष्मीः=रमा, तयो रमणः श्रीलक्ष्मीरमणः,

---

[1] इस से ग्रन्थकार यह द्योतित कराना चाहते हैं कि विष्णु और शिव में कोई भेद नहीं । जो विष्णु है वही शिव है, जो शिव है वही विष्णु है । लोक में विष्णु और शिव का परस्पर विरोध अनभिज्ञ साम्प्रदायिक लोगों का फैलाया हुआ है । पुराणों में कहा भी है :—

"शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः ।
विष्णु-रुद्रान्तरं यच्च यो ब्रूते मूढधीस्तु सः ।।"

[2] यह सम्पूर्ण जगत् शब्द और अर्थ रूप ही है । यदि शब्द अर्थात् सञ्ज्ञा, अर्थ अर्थात् सञ्ज्ञी को निकाल लें तो जगत् नाम की कुछ भी वस्तु अवशिष्ट नहीं रहती । सञ्ज्ञा सञ्ज्ञी मिल कर ही जगत् कहलाते हैं ।।

[3] 'विवर्त्त' शब्द भारतीय दर्शनसाहित्य में अतात्त्विक अन्यथा-भाव प्रतीति के लिये प्रसिद्ध है। किसी वस्तु का अपने तत्त्व को न छोड़ते हुए अन्यथा प्रतीत होना 'विवर्त्त' कहलाता है । जैसे यदि हम रस्सी को सांप समझते हैं तो यह विवर्त्त होगा क्योंकि रस्सी अपने रस्सीभाव में रहती हुई हमें अन्यथा प्रतीत हो रही है। शांकरवेदान्त में सम्पूर्ण जगत् को विवर्त्त कहा गया है अर्थात् वह अपने असल स्वरूप (ब्रह्म)को न छोड़ता हुआ अन्यथा प्रतीत हो रहा है ।।

तम् । गौर्या रमणः- पतिः, तस्य रूपं स्वरूपम् अस्यास्तीति गौरीरमणरूपी, तं गौरीरमणरूपिणम् । मत्वर्थीय इनिप्रत्ययः ॥

नोट — कई लोग 'स्फोटरूपम्' इस पद को विष्णु का विशेषण बनाते हैं। वैयाकरण लोग शब्द (स्फोट) को ब्रह्म मानते हैं अतः उनकी ओर संकेत किया गया है ॥

वक्तव्य — ग्रन्थ के आदि में श्रीकौण्डभट्ट मङ्गलाचरण करते हैं। मङ्गलाचरण करने से ग्रन्थ समाप्ति के प्रतिबन्धक विघ्नों का नाश हो कर ग्रन्थ समाप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है । यदि कहीं मङ्गल किये जाने पर भी ग्रन्थ समाप्त नहीं होता तो वहां विघ्नों का प्राचुर्य समझना चाहिए, उसके लिए जितना मङ्गल अपेक्षित था वह वहां नहीं किया गया। किञ्च जहां नास्तिकों के ग्रन्थों में मङ्गल न होने पर भी ग्रन्थ की समाप्ति देखी जाती हैं वहां विघ्नों का अभाव अथवा पूर्वजन्म-जन्य मङ्गल आदि की कल्पना कर लेनी चाहिये। ऐसा नवीन लोगों का कथन है। महाभाष्य में भगवान् पतञ्जलि ने मङ्गल करने का प्रयोजन इन शब्दों में व्यक्त किया है— **"मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि चाऽध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति" (पस्पशाह्निके)। "मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युरिति" (वृद्धिरादैच्सूत्रे)** । इस से प्रतीत होता है कि मङ्गलविषयक वर्त्तमान धारणा का धीरे धीरे विकास हुआ है ॥

भूषणसारः—

अशेष–फल–दातारं भवाऽब्धि--तरणे तरिम् ।
शेषाऽशेषार्थ-लाभार्थं प्रार्थये शेषभूषणम् ॥२॥

अन्वय :— (अहम्) अशेष-फल-दातारम् भवाब्धि-तरणे तरिं शेषभूषणं शेषाऽशेष-लाभार्थम् प्रार्थये[1] ॥

---

[1] अशेषाणां फलानां दातारम् इति सम्बन्धसामान्ये शेष-षष्ठी । कारक-षष्ठ्यास्तु 'तृजकाभ्यां कर्तरि' (२. २. १५) इति समास-निषेधात् । अथवा अशेषफलानि दातारम् इति तृन्नन्तेन विग्रहे 'गम्यादीनामुपसङ्ख्यानम्' (सि० कौ० वार्तिक १६७) इति द्वितीयासमासः । श्लोकसरलार्थस्त्वित्थम्—

मैं सम्पूर्ण फलों के दाता, संसार सागर को पार करने में नौका स्वरूप, शेषभूषण शिवजी व विष्णु जी से प्रार्थना करता हूँ कि मुझे शेषावतार भगवान् पतञ्जलि के महाभाष्य के सम्पूर्ण रहस्यों की प्राप्ति हो ॥

यहाँ 'शेष-भूषणम्' शब्द श्लिष्ट है। शेषः=शेषनागो भूषणं यस्याऽसौ शेष-भूषणस्तम्—इस प्रकार के विग्रह में शिव और विष्णु दोनों का इस से ग्रहण होता है। शिव ने शेषनाग को अपना वलयादि भूषण बना रखा है तो विष्णु ने उसे अपना पलंग। यहां भी भूषणकार ने शिव और विष्णु का प्रकारान्तर से अभेद प्रतिपादन किया है।

परन्तु अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि शेषनाग के अवतार पतञ्जलि के वचनों का रहस्य जानने की प्रार्थना शेषनाग से ही करनी चाहिये न कि विष्णु व शिव से। देवदत्त की वस्तु देवदत्त से ही मांगनी चाहिये न कि विष्णुदत्त व यज्ञदत्त से। इस शंका की निवृत्ति के लिए श्लोक में **'अशेष-फल-दातारम्'** यह विशेषण लगाया गया है। भगवान् तो सम्पूर्ण फलों के दाता हैं; जिन वस्तुओं पर दूसरोंका अधिकार है उन पर भी वस्तुतः भगवान् का ही अधिकार है। अतः भगवत्कृपा होने पर असाध्य से असाध्य कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं। कहा भी है—

"मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द-माधवम् ॥"

वाणी पर यद्यपि सरस्वतीजी का अधिकार है तथापि यदि भगवत्कृपा हो जाय तो सरस्वती जी के द्वार भी खुल जाते हैं। यदि राजा प्रसन्न हो जाये तो सेवक स्वतः प्रसन्न हो जाते हैं। अतः विष्णु व शिव जो शेष के भी आराध्य हैं — यदि प्रसन्न हो जाते हैं तो उन के सेवकों की कृपा तो स्वतः ही सिद्ध हो जायेगी। यही कारण है कि यहां सेवक (शेषनाग) की वस्तु भी उस के स्वामी [विष्णु व शिव] से माँगी गई है।

शेषाऽशेष-लाभार्थम्— शेषस्य = शेषनागस्य महाभाष्यकृतः पतञ्जलेर्, अशेषाः=कृत्स्नाः स्फुटा अस्फुटाश्च येऽर्था महाभाष्यस्थास्तेषां लाभार्थम्=ज्ञानाय, शेषभूषणम्—शेषो भूषणम् अलंकारत्वेन पर्यङ्कत्वेन वा भूषणं यस्य तं शिवं शेषशायिनं विष्णुं वा प्रार्थय इति ॥

यहाँ प्रार्थना में श्रीकौण्डभट्ट ने महाभाष्यगत सम्पूर्ण रहस्यों के ज्ञान की प्राप्ति चाही है। इस का कारण स्पष्ट है कि विना महाभाष्य के रहस्यों को समझे वैयाकरण-सिद्धान्त-कारिका पर भाष्य लिखना नितान्त असम्भव है। कारिकाओं में व्याकरण के सिद्धान्त अत्यन्त संक्षिप्त रीति से निबद्ध किये गये हैं। उन सिद्धान्तों की विशद व्याख्या विना महाभाष्य रहस्यों के ज्ञान के सुकर नहीं है। कारिकाकार ने भी इसी लिए अपनी पहली कारिका में कहा है —

"फणि–भाषित-भाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः।
तत्र निर्णीत एवार्थः सङ्क्षेपेणेह कथ्यते ।।का० १।।

इस से ग्रन्थकार यह भी द्योतित कराना चाहते हैं कि मेरे ग्रन्थ का आधारस्तम्भ भी महाभाष्य ही है, मैंने महाभाष्य के मन्थन से ही यह भूषणसार नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया है।

यदि कोई यह शङ्का करे कि आरम्भ में तो ग्रन्थसमाप्ति में आने वाले प्रतिबन्धकस्वरूप विघ्नों के नाश की ही भगवान् से प्रार्थना करनी उचित थी, भूषणकार यह क्या अपना राग आलापने लगे ? तो इसके उत्तर के लिए इस श्लोक में '**भवाऽब्धितरणे तरिम्**' पढ़ा गया है। भगवान् से विघ्नों के नाश की प्रार्थना करना तो अतितुच्छ है। जब वे संसार सागर से पार उतारने के लिए नौकास्वरूप हैं[1] तो भला बाकी क्या रह जाता है जो उन से प्राप्त नहीं हो सकता ? वे मङ्गलस्वरूप हैं उनका स्मरणमात्र ही विघ्नों को भगा देता है अतः उन से विघ्नों के नाश की

---

[1] इसी लिये तो श्रीशङ्कराचार्य जी ने '**प्रश्नोत्तरी**' के प्रथम श्लोक में कहा है —

"असारसंसारसमुद्रमध्ये सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति ?
गुरो! कृपालो! कृपया वदैतद् विश्वेश-पादाम्बुज-दीर्घ–नौका ।।"

प्रश्न—हे दयालु गुरु जी ! कृपया यह बतायें कि असार संसार रूपी समुद्र के मध्य डूबते हुए मुझे किस की शरण लेनी चाहिये ? उत्तर—विश्वेश भगवान् विष्णु के चरणकमलों को ही स्थिर नौका समझो ।।

प्रार्थना करना तो सूर्य से अन्धकार को नाश करने की प्रार्थना करने के तुल्य है [1] ॥

भूषण-सारः—

वाग्देवी यस्य जिह्वाग्रे नरीनर्ति सदा मुदा ।
भट्टोजिदीक्षितमहम् पितृव्यं नौमि सिद्धये ॥३॥ [2]

अन्वयः— यस्य जिह्वाग्रे वाग्देवी मुदा सदा नरीनर्ति,[3] तं पितृव्यम् भट्टोजिदीक्षितम् अहं सिद्धये नौमि [4] ॥

जिनकी जिह्वा पर सरस्वती देवी सदा प्रसन्नता से अतिशय नाचा करती हैं उन भट्टोजिदीक्षित नामक चाचा जी को मैं अपने कार्य की सिद्धि के लिए नमस्कार करता हूँ ॥

व्याकरणशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान्, सिद्धान्तकौमुदी-शब्दकौस्तुभ-प्रौढमनोरमा-व्याकरणसिद्धान्तकारिका आदि अनेक ग्रन्थों के निर्माता श्रीभट्टोजिदीक्षित इस भूषणसार के लेखक श्रीकौण्डभट्ट के पितृव्य

---

[1] अत एव पाण्डवगीता में कहा गया हैं :—

"लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः ॥"

[2] कई संस्करणों में यह श्लोक उपलब्ध नहीं होता । कुछ लोग इसे 'वैयाकरण भूषण' का मानते हैं ॥

[3] 'नृती गात्रविक्षेपे' (दिवा० परस्मै०) धातु का यङ्लुक्-प्रक्रिया के लट् में प्रथमपुरुष का एकवचन नरीनर्त्ति प्रयोग बनता है । लटि तिपि, 'चर्करीतञ्च' इत्यदादौ पाठाच्छपो लुकि 'रीगृदुपधस्य च' (७. ४. ९०) इत्यभ्यासस्य रीगागमः। 'बभूथाततन्थ—' (७.२.६४) इति सूत्रे निगमग्रहणाद् भाषायमपि यङ्लुक् प्रयुज्यत इति ज्ञाप्यते । पुनः पुनरतिशयेन वा नृत्यतीति नरीनर्त्ति । एतेन दीक्षितमहोदयानां लोकोत्तरं पाण्डित्यं वक्तृत्वञ्च द्योत्यते ॥

[4] 'णु स्तुतौ' (अदा०, परस्मै०) धातु के लट् में उत्तमपुरुष का एकवचन है । अदादित्वाच्छपो लुकि 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (७. ३. ८९) इति वृद्धिः ॥

[पिता के भाई अर्थात् चाचा] लगते थे। दीक्षितजी पाणिनीयव्याकरण के अद्‌भुत विद्वान् तथा प्रक्रियाशैली को पराकाष्ठा तक ले जाने वालों में प्रमुख व्यक्ति थे। यहाँ भतीजे द्वारा उनके प्रति जो आदरभाव व्यक्त किया गया है वस्तुतः वे उस के पात्र ही हैं – इस में लेशमात्र भी संदेह नहीं।

'**भट्टोजिदीक्षितमहम्**' यहां तृतीयपाद में पांचवां-छठा-सातवां अक्षर लघु होने से छन्दोभङ्ग है। इन स्थानों पर छन्दः—शास्त्रानुसार '। ऽ ऽ' [लघु+गुरु+गुरु] इस प्रकार की रचना होनी चाहिए । जैसाकि 'श्रुतबोध' में कहा गया है :—

"श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥"

अर्थात् प्रतिपाद आठ अक्षरों वाले छन्द में पांचवां अक्षर सर्वत्र लघु तथा छठा अक्षर सर्वत्र गुरु होता है। द्वितीय और चतुर्थ पादों का सातवां अक्षर ह्रस्व तथा प्रथम और तृतीय पादों में वह दीर्घ होता है।

परन्तु हमारे विचार में श्रुतबोधोक्त उपर्युक्त लक्षण प्रायिक ही समझना चाहिए सार्वत्रिक नहीं। संस्कृतवाङ्मय में इस लक्षण का पदे पदे व्यभिचार देखा जाता है [1] ॥

---

[1] यथा भगवद्‌गीता में—धृष्टकेतुश्चेकितानः (अ० १, श्लोक ५), नानाशस्त्रप्रहरणाः (१.९), भीष्मद्रोणप्रमुखतः (१.२५), येषामर्थे काङ्क्षितं नः (१.३३), उत्साद्यन्ते जातिधर्माः (१.४३), कुतस्त्वा कश्मलमिदम् (२.२) इत्यादि। कालिदासकृत रघुवंश में—तदन्वये शुद्धिमति (सर्ग १, श्लोक १२), फलानुमेयाः प्रारम्भाः (१.२०), अप्यर्थकामौ तस्यास्ताम् (१.२५), प्रत्यादिश्यन्त इव मे (१.६१), रुरोध रामं शृङ्गीव (१२.८०) रराज रक्षःकायस्य (१२.१०) इत्यादि। श्रीहर्षप्रणीतनैषधीयचरित में—अवोचदुच्चैः कस्कोऽयम् (सर्ग १७, श्लोक ८४), किं न प्रचण्डात् पाखण्ड (१७.१०२)। श्रीभर्तृहरिप्रणीतवाक्यपदीय में—एकत्विनां द्वैतिनां च (ब्रह्मकाण्डे श्लोक ८), सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता (ब्रह्मकाण्ड श्लोक ९), असत्त्वभूतो भावश्च तिङ्पदैरभिधीयते (कौण्डभट्ट द्वारा उद्धृत)।

और तो और स्वयं व्याकरणसिद्धान्तकारिका में इसका पदे पदे व्यभिचार दृष्टिगत होता है। यथा—फले प्रधानं व्यापारः (कारिका २), उत्सर्गोऽयं कर्मकर्तृ०

भूषण-सारः—

पाणिन्यादिमुनीन् प्रणम्य पितरं रङ्गोजिभट्टाभिधं
द्वैत-ध्वान्त-निवारणादि-फलिकां पुम्भाव-वाग्देवताम् ।
ढुण्ढि गौतम-जैमिनीय-वचन— व्याख्यातृभिर्दूषितान्
सिद्धान्तानुपपत्तिभिः प्रकटये तेषां वचो दूषये ।।४।।

अन्वयः—पाणिन्यादिमुनीन् प्रणम्य [किञ्च] द्वैत-ध्वान्त-निवारणादि-फलिकां पुम्भाव-वाग्देवतां ढुण्ढि रङ्गोजिभट्टाभिधं पितरं [प्रणम्य] गौतम-जैमिनीय-वचन-व्याख्यातृभिः दूषितान् सिद्धान्तान् उपपत्तिभिरहं प्रकटये, तेषां वचः [च] दूषये ॥

पाणिनि आदि[1] मुनियों को, द्वैत के अंधकार के निवारणार्थ वाग्देवी के पुंरूप अवतार रङ्गोजिभट्ट नामक अपने पिता को तथा श्रीगणेशजी को नमस्कार करके, गौतम तथा जैमिनि के वचनों का व्याख्यान करने वाले अपव्याख्याकारों द्वारा दूषित [खण्डित] किये गये व्याकरणसिद्धान्तों का सयुक्तिक मण्डन करता हुआ उन व्याख्याकारों के वचनों का खण्डन प्रस्तुत करता हूँ।

इस श्लोक में ग्रन्थकार ने (१) पाणिनि आदि मुनियों, (२) अपने पिता रङ्गोजिभट्ट, (३) तथा गणेशजी को नमस्कार किया है। अपने पिता

---

(४), कर्मकर्त्तर्यन्यथा तु (६), न तु प्राप्ये कर्मणीति (७), तस्मात् करोतिर्धातोः स्याद् (८), किञ्च क्रियावाचकताम् (९), धातुस्तयोर्धर्मिभेदे० (१३), आख्यातशब्दे भागाभ्याम् (१४), धातुसम्बन्धाधिकार (१६), अतिप्रसङ्गो नोद्भाव्यः (२०) इत्यादि।

तो इन सब स्थानों पर छन्दोभङ्ग मानने की अपेक्षा उपर्युक्त श्रुतबोधीय लक्षण ही प्रायिक मानना उचित प्रतीत होता है ॥

[1] पाणिनि कात्यायन और पतञ्जलि ये तीन मुनि यहां अभिप्रेत हैं। **'मुनित्रयं नमस्कृत्य तदुक्तीः परिभाव्य च'** (सि० कौ०) इत्यादि वचनों में ये तीन मुनि ही गृहीत किये जाते हैं। **'मुनित्रयं व्याकरणम्'** के अनुसार ये तीन मुनि ही पाणिनीय-व्याकरण के आचार्य समझे जाते हैं। **'उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'** में भी इन तीन मुनियों का ही ग्रहण है।

को ग्रन्थकार ने द्वैतमत के अन्धकार को नाश करने वाला पुरुषरूप में सरस्वती देवी का अवतार माना हैं। इससे प्रतीत होता है कि रङ्गोजिभट्ट अद्वैतमत के अपूर्व ज्ञाता व व्याख्याता रहे होंगे। यहां ग्रन्थकार के अपने पिता को नमस्कार करने के बाद श्रीगणेशजी को नमस्कार करने में कई लोग आपत्ति उठाते हैं। उनका कहना है कि गणाधिप श्रीगणेशजी को पिता से पहले ही नमस्कार करना उचित था। देवताओं को नमस्कार करने के बाद ही मनुष्यों को नमस्कार करना चाहिये, पहले नहीं। इसका समाधान यह है कि ग्रन्थकार ने अपने पिता को केवल पिता के रूप में ही नमस्कार नहीं किया अपितु उसे सारस्वत अवतार समझ कर नमस्कार किया है। अथवा—'**ढुण्ढिम्**' को भी 'पितरम्' का विशेषण बनाया जा सकता है जैसा कि हमने अन्वय में दिखाया है। उसके पिता जहां सरस्वती के अवतार थे वहां श्रीगणेशजी के भी अवतार थे।

'**गौतम-जैमिनीय-वचन-व्याख्यातृभिर्दूषितान्**' इससे यह द्योतित होता है कि गौतम और जैमिनि मुनियों के मत के साथ पाणिनि आदि मुनियों के मत का कोई विरोध नहीं ; विरोध तो व्याख्याकारों के अशुद्ध व्याख्यानों के कारण है। अत: '**तेषां वचो दूषये**' में ग्रन्थकार ने '**तेषाम्=व्याख्याकाराणाम्**' उन व्याख्याकारों के मतों के खण्डन की ओर संकेत किया है। गौतम जैमिनि आदि मुनियों तथा उनके प्रणीत न्यायशास्त्र मीमांसा-शास्त्र आदि के प्रति ग्रन्थकार ने अपनी आस्था व्यक्त की है।

इस पद्य में शार्दूल-विक्रीडित छन्द है। इसका लक्षण यथा—"**सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्**" (जिस छन्द के प्रत्येक पाद में मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण और एक गुरु हो तो उसे 'शार्दूल-विक्रीडित' छन्द कहते हैं, इस छन्द के प्रतिपाद में बारह और सात अक्षरों पर यति होती है।) ॥

भूषणसार :—

नत्वा गणेश-पादाब्जं गुरूनथ सरस्वतीम्।
श्रीकौण्डभट्टः कुर्वेऽहं वैयाकरण-भूषणम् ॥५॥

अन्वयः—गणेश-पादाब्जं गुरून् अथ सरस्वतीं च नत्वा अहं श्रीकौण्डभट्टो वैयाकरण-भूषणं कुर्वे ॥

मैं श्रीकौण्डभट्ट, गरोशजी के चरणकमलों तथा गुरुओं और सरस्वती जी को प्रणाम करके "वैयाकरण-भूषण' ग्रन्थ का निर्माण करता हूँ ॥

'नामैकदेशे नामग्रहणम्' इस न्याय से यहां 'वैयाकरणभूषणसार' के लिये वैयाकरण-भूषण' कहा गया है। कुछ लोगों की सम्मति में यह श्लोक 'वैयाकरण-भूषण' ग्रन्थ का है जो यहां लेखक प्रमाद से सङ्कलित किया गया है। इस श्लोक में किसी भी प्रकार का काव्य-सौष्ठव नहीं, किञ्च लेखक ने गणेश, सरस्वती और गुरु के साथ 'श्री' न लगा कर अपने नाम के साथ 'श्री' जोड़ कर 'श्रीकौण्डभट्टः' लिखा है अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त ही हो-इस की अधिक सम्भावना है ॥

भूषणसारः—

प्रारिप्सित-प्रतिबन्धक-व्यूहोपशमनाय[1] कृतं श्रीपतञ्जलि-स्मरणरूपं मङ्गलं शिष्यशिक्षार्थं निबध्नंश्चिकीर्षितं प्रतिजानीते—

प्रारम्भ किये जा रहे ग्रन्थ के विघ्न समूहों को शान्त करने के लिये भगवान् पतञ्जलि के स्मरणरूप मङ्गल को शिष्यों की शिक्षा के लिये आदि में निबद्ध करते हुए ग्रन्थकार स्वकीय ग्रन्थ के विषय में प्रतिज्ञा करते हैं।

मङ्गलाचरण के विषय में पीछे प्रथम श्लोक की व्याख्या करते समय लिखा जा चुका है उसे यहां पुनः दोहराना व्यर्थ है, वहीं देखें। भगवान् पतञ्जलि को शेषनाग का अवतार समझा जाता है अतः देवांश होने तथा इस शास्त्र का अन्तिम प्रामाणिक आचार्य (Supreme Authority) होने के कारण उनका स्मरण मङ्गलजनक है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि यह मान भी लिया जाये कि मङ्गल से विघ्नों का नाश होता है तो भी उसे ग्रन्थ के आदि में लिख कर ग्रन्थ का कलेवर क्यों बढ़ाया जाये ? उसे ग्रन्थनिर्माण के समय ज़बानी ही क्यों न कर लिया जाये ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिए भूषणकार ने

---

[1] प्रारब्धुमिष्टः प्रारिप्सितः, प्रारिप्सितो यो ग्रन्थः, तस्य ये प्रतिबन्धकाः= विघ्नाः, तेषां व्यूहः=समूहः, तस्योपशमनाय प्रशान्त्यर्थमित्यर्थः ॥

'**शिष्य-शिक्षार्थम् उपनिबध्नन्**' कहा है। अर्थात् ग्रन्थ के आदि में मङ्गल को जोड़ने का यह अभिप्राय है कि इससे शिष्यों को शिक्षा मिले, वे भी ग्रन्थ के आदि में मङ्गल किया करें। यदि ज़बानी मङ्गल कर लिया जाये और ग्रन्थ के आदि में उसे न जोड़ा जाये तो शायद शिष्य यह समझ लेंगे कि जब ग्रन्थ-कार स्वयं मङ्गल नहीं करते तो हमें करने की क्या आवश्यकता है? इसलिए शिष्यों की शिक्षा के लिए ग्रन्थकार अपने ग्रन्थों के आदि में मङ्गल जोड़ दिया करते हैं।

चिकीर्षितं प्रतिजानीते— कर्तुमिष्टं चिकीर्षितम्, करने के लिए अभीष्ट को 'चिकीर्षित' कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि ग्रन्थकार क्या करने जा रहे हैं इसके विषय में वे स्वयं स्वमुख से वर्णन करते हैं॥

कारिका—

फणि-भाषित-भाष्याऽब्धेः शब्द-कौस्तुभ उद्धृतः।
तत्र निर्णीत एवाऽर्थः सङ्क्षेपेणेह कथ्यते ॥१॥

शेषनाग के अवतार भगवान् पतञ्जलिनिर्मित महाभाष्यरूपी सागर से 'शब्द-कौस्तुभ' निकाला गया है। उसमें जिन सिद्धान्तों को निर्णीत किया गया है उनका यहां संक्षेप से वर्णन करते हैं॥

भूषण-सारः—

उद्धृत इति। अत्र 'अस्माभिः' इति शेषः। 'भाष्याऽब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः' इत्युक्तिस्तु शब्दकौस्तुभोक्तानामर्थानाम् आधुनिकोत्प्रेक्षिततत्व-निरासाय[1]। अन्यथा[2] तन्मूलस्यास्य ग्रन्थस्याप्याधुनिकोत्प्रेक्षित-सारत्वापत्तौ पाणिनीयानाम् अनुपादेय-ताऽऽपत्तेः। 'तत्र निर्णीतः' इत्युक्तिरितोऽप्यधिकं जिज्ञासुभिः शब्दकौस्तुभे द्रष्टव्यमिति ध्वनयितुम् ॥१॥

---

[1] आधुनिकेन = इदानींतनेन अर्वाचीनेन उत्प्रेक्षिततत्वम् = निर्मितत्वं तन्निरासायेत्यर्थः॥

[2] अन्यथा = उक्तवैपरीत्ये। आधुनिकोत्प्रेक्षिततत्व-निरासस्याकरण इत्यर्थः॥

'उद्धृतः' यहां पर 'अस्माभिः' का अध्याहार कर लेना चाहिए। अर्थात् हमने 'शब्द-कौस्तुभ' निकाला। 'महाभाष्यरूपी सागर से शब्द-कौस्तुभ निकाला गया' इस कथन से यह द्योतित होता है कि शब्द-कौस्तुभ में आधुनिक लोगोंके कपोल-कल्पित सिद्धान्त प्रतिपादन नहीं किये गए अपितु महाभाष्य में वर्णित सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन व पोषण किया गया है। अतः पाणिनिशास्त्र के अध्यापकों व अध्येताओं को इस कारिकाग्रन्थ को भी महाभाष्यमूलक समझ कर ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। 'तत्र निर्णीतः' के कथन से यह ध्वनित होता है कि जो लोग विशेष विस्तार से जानना चाहें वे 'शब्द-कौस्तुभ' में देख सकते हैं ॥

यह कारिकाग्रन्थ भट्टोजिदीक्षित का लिखा हुआ है। इस ग्रन्थ के निर्माण से पूर्व दीक्षितजी 'शब्द-कौस्तुभ' नामक व्याकरण का अद्भुत ग्रन्थ लिख चुके थे। 'शब्द-कौस्तुभ' पातञ्जल महाभाष्य पर आधारित उसका स्वतन्त्र विस्तृत व्याख्यान-ग्रन्थ है[1]। इस ग्रन्थ में दीक्षितजी जिन सिद्धान्तों का सविस्तर व्याख्यान कर चुके हैं, उनका यहाँ कारिकारूप में सङ्क्षिप्त वर्णन कर रहे हैं। शब्द-कौस्तुभ ग्रन्थ महाभाष्य पर आधारित है और यह कारिकाग्रन्थ शब्द-कौस्तुभ पर आश्रित है। इस प्रकार यह कारिकाग्रन्थ भी महाभाष्य पर आश्रित सिद्ध होता है। अतः इन कारिकाओं में प्रतिपादित सिद्धान्त दीक्षितजी की कपोलकल्पना नहीं समझने चाहियें, अपितु पातञ्जल महाभाष्यानुमत निर्णीत व्याकरण के सिद्धान्तों का सङ्क्षिप्त गुम्फन जानना चाहिए।

भाष्याऽब्धेः—यहां महाभाष्य में सागर का आरोप किया गया है। इस से कारिकाकार यह द्योतित करना चाहते हैं कि जैसे देवताओं ने समुद्र को मथ कर कौस्तुभमणि निकाला था वैसे मैंने महाभाष्यरूपी सागर का मन्थन कर 'शब्द-कौस्तुभ' निकाला है। यहाँ शब्द-कौस्तुभ का कौस्तुभमणि के समान होना तथा ग्रन्थकार का देवताओं के तुल्य होना अभिव्यक्त होता है।

संक्षेपेणेह कथ्यते—इसका अभिप्राय यह है कि यहां तो हमने संक्षेप से व्याकरण-सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, विशेषजिज्ञासु यदि विस्तारपूर्वक देखना चाहें तो शब्द-कौस्तुभ में देखें।

---

[1] शब्द-कौस्तुभ के मङ्गलाचरण में भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये गये हैं—

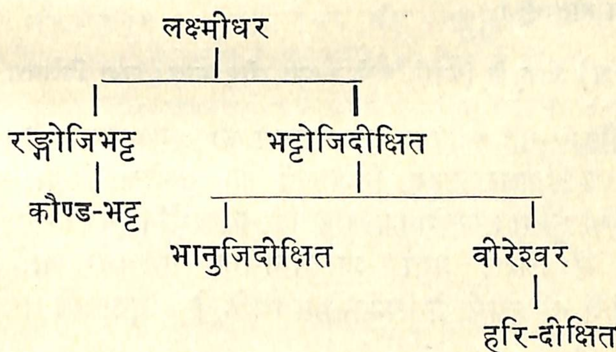
"फणि-भाषित-भाष्याऽब्धेः शब्द-कौस्तुभमुद्धरे।" (श्लोक ३)

भट्टोजिदीक्षित का शब्द-कौस्तुभ अष्टाध्यायीक्रमानुसार लिखा गया प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस समय यह ग्रन्थ सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं है। इसके पहले अढ़ाई अध्याय तथा चतुर्थाध्याय के चारों पाद ही उपलब्ध हैं। प्रथमाध्याय के प्रथमपाद अर्थात् नवाह्निक तक तो दीक्षितजी ने खूब विस्तार से लिखा है, बाद में उनकी व्याख्या संक्षिप्त होती चली गई है। चतुर्थाध्याय में उनकी व्याख्या एक वृत्तिवत् प्रतीत होती है। इसमें सन्देह नहीं कि दीक्षितजीने यह ग्रन्थ पूर्ण (अष्टाध्यायात्मक) ही रचा होगा; तभी तो सिद्धान्त-कौमुदी के उत्तरकृदन्त के अन्त में वे लिखते हैं—

"इत्थं लौकिक-शब्दानां दिङ्‌मात्रमिह दर्शितम्।
विस्तरस्तु यथाशास्त्रं दर्शितः शब्द-कौस्तुभे ॥"

'अतो लोपः' (सि०कौ० २३०८) सूत्र पर प्रौढ-मनोरमा में '**विस्तरः शब्द-कौस्तुभे बोध्यः**' तथा उसकी शब्दरत्न व्याख्या में '**शब्द-कौस्तुभे षाष्ठे**' इन वचनों से यही प्रतीत होता है कि दीक्षितजी ने सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर शब्द-कौस्तुभ रचा होगा।

भट्टोजिदीक्षित महाराष्ट्रिय ब्राह्मण थे और काशी में निवास करते थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर और कनिष्ठ भ्राता का नाम रङ्गोजिभट्ट था। इनका वंशवृक्ष यथा—



भट्टोजिदीक्षित का काल सन् १६०० के आसपास विद्वानों द्वारा स्वीकृत किया गया है। विशेषजिज्ञासु इस ग्रन्थ की हमारी भूमिका का अवलोकन करें ॥१॥

भूषणसारः—

प्रतिज्ञाताऽर्थमाह—

जिसके प्रतिपादन की प्रतिज्ञा कर चुके हैं उस विषय को कहते हैं। 'हम निर्णीत सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे' यह प्रथमकारिका में प्रतिज्ञा कर चुके हैं। उसी प्रतिज्ञा के अनुसार अब व्याकरणशास्त्र के सिद्धान्तों का वर्णन प्रारम्भ करते हैं॥

कारिका—

फल-व्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः।
फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम्॥२॥

(क) फल और व्यापार दोनों का वाचक धातु होता है अर्थात् धातु के द्वारा फल और व्यापार दोनों कहे जाते हैं।

(ख) फलाश्रय (कर्म) और व्यापाराश्रय (कर्त्ता) के वाचक तिङ् होते हैं अर्थात् तिङ् के द्वारा कर्त्ता व कर्म कहे जाते हैं।[1]

(ग) फल के प्रति व्यापार प्रधान होता है अर्थात् धातु के यद्यपि फल और व्यापार दोनों अर्थ होते हैं तथापि व्यापारांश मुख्य होने से विशेष्य तथा फलांश उस में विशेषण होता है।

(घ) तिङ् के अर्थ **(कर्त्ता, कर्म, संख्या और काल) सदा विशेषण ही होते हैं।**

नोटः—यह कारिका इस प्रकरण की प्राणस्वरूपा है। इस कारिका में व्याकरण के प्रमुख चार सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ (वैयाकरण-भूषण-सार का धात्वर्थनिर्णयप्रकरण) इन सिद्धान्तों की पुष्टि में लिखा गया व्याख्यानमात्र समझना चाहिये। इन चार सिद्धान्तों में भी प्रथम दो सिद्धान्त पाणिनि के 'भूवादयो धातवः' (१.३.१)

---

[1] भावार्थकतिङां धात्वर्थानुवादकमात्रत्वान्न तेऽत्र ग्राह्याः। एतानधिकृत्य एतत्कारिकाभाष्यावसानेऽस्माभिः पादटिप्पण्यां यदुक्तं तत्तत्रैवावलोकनीयम्॥

तथा 'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः (३.४.६९) इन दो सूत्रों द्वारा प्रसूत हैं। कारिका का उत्तरार्ध सिद्धान्तों का दार्शनिक अंश है। इन चार सिद्धान्तों में से पहला सिद्धान्त ही मुख्य सिद्धान्त है। इस प्रकरण का अधिकांश भाग इसी सिद्धान्त को परिपुष्ट करने के लिये लिखा गया है।

अब श्रीकौण्डभट्ट इस कारिका की व्याख्या करते हुए अन्वय में उपस्थित बाधा को दूर करते हैं—

भूषणसारः—

धातुरित्यत्र 'स्मृत' इति वचनविपरिणामेनाऽन्वयः ॥

कारिका में 'स्मृताः' पद बहुवचनान्त पढ़ा गया है। परन्तु 'धातुः' के साथ अन्वय करने के लिये इसका एकवचन में विपरिणाम[1] कर लेना चाहिये। 'धातुः स्मृतः' इस प्रकार अन्वय होगा[2]।

---

[1] अनन्वितार्थक-विभक्त्यादि-त्यागेन अन्वय-योग्य-विभक्त्यादि-कल्पनं विपरिणामः ॥

[2] विशेष्य और विशेषण में प्रायः समान विभक्ति ही हुआ करती है। जैसाकि कहा गया है—

"यल्लिङ्गं यद्वचनं या च विभक्तिर्विशेष्यस्य।
तल्लिङ्गं तद्वचनं सैव विभक्तिर्विशेषणस्यापि ॥

अर्थात् विशेष्य और विशेषण के लिङ्ग, वचन और विभक्तियों के तुल्य होने का सामान्य नियम है। परन्तु यदि किसी विशेष कारण की विवक्षा हो तो वचनभेद भी हो सकता है। जैसाकि '**वेदाः प्रमाणम्** (सन्ति)' में है। यहां वेदों के बहुत्व होने पर भी उनमें एकजातीय प्रमाणता द्योतित करना अभीष्ट है। इस विषय का विशेष विवेचन **व्युत्पत्तिवाद** (प्रथमा-प्रकरण) तथा **लघु-मञ्जूषा** आदि में देखें। श्री पं० चारुदेवजीशास्त्रिकृत '**शब्दाऽपशब्द-विवेक**' की भूमिका में भी इसका अच्छा विवेचन देखा जा सकता है।

परन्तु ध्यान रहे कि विशेष्य और विशेषण में वचन-भेद और लिङ्गभेद तो हो सकता है पर विभक्ति-भेद नहीं। इसीलिए तो कहा है—

"लिङ्गसंख्याविभेदेऽपि विशेषण-विशेष्यता।
विभक्तिः पुनरेकैव विशेषण-विशेष्ययोः ॥"

'**फलव्यापारयोर्धातुः**' इस अंश का सम्बन्ध कारिकागत 'स्मृताः' के साथ है। परन्तु वहां बहुवचन होने से अन्वय उपपन्न नहीं होता था, अतः उसे एकवचनान्त बना कर '**फलव्यापारयोर्धातुः स्मृतः**' इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये।

'**फलव्यापारयोर्धातुः स्मृतः**' अर्थात् व्याकरणसिद्धान्तानुसार फल और व्यापार का वाचक धातु कहा गया है। यहां फल और व्यापार से क्या अभिप्रेत है? इसका विवेचन अब भूषणकार प्रस्तुत करते हैं—

भूषणसारः—

फलं विक्लित्यादि। व्यापारस्तु भावनाऽभिधा साध्यत्वेनाऽभिधीयमाना क्रिया। उक्तञ्च वाक्यपदीये—

"यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाऽभिधीयते।
आश्रित-क्रम-रूपत्वात्[1] सा क्रियेत्यभिधीयते ॥इति॥[2]

फल का अभिप्राय यहां 'गलना' (अवयवों का शिथिलीभाव) आदि से है। व्यापार का अभिप्राय यहाँ साध्यत्वेन कही जाने वाली क्रिया से है। इसे ही (मीमांसकमत में) भावना नाम से पुकारा जाता है। अतएव भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है—"चाहे सिद्ध (निष्पन्न) हो चुका हो या सिद्ध न हुआ हो परन्तु जिसे साध्यत्वेन कहना अभीष्ट हो तथा जिस का स्वरूप किसी क्रम का आश्रय करता हो उसे क्रिया' कहते हैं।'

जिस अभिप्राय व प्रयोजन को लेकर कोई क्रिया आरम्भ की जाती है उसे लोक में 'फल' कहते हैं। जैसे स्वर्ग की अभिलाषा से याग किया जाता है तो 'स्वर्ग' याग का फल है। क्षुधा-निवृत्ति के लिये पकाया जाता है तो 'क्षुन्निवृत्ति' पचन का फल है। धन-प्राप्ति के लिये राजा का आश्रय

---

[1] आश्रितः क्रमः—पौर्वापर्यं येन (रूपेण) तद् आश्रितक्रमम्, तद्रूपं यस्या सा आश्रितक्रमरूपा, तस्या भावस्तत्त्वाद् आश्रितक्रमरूपत्वात्। क्रियारूपं हि तदवयवा अधिश्रयणादयः, ते च क्रमश एवोत्पद्यन्ते। दर्पणादिषु तु क्रमशब्दम् अर्शआद्यजन्तमाश्रित्य क्रमं क्रमवत् च तद्रूपं च क्रमरूपम्, आश्रितं क्रमरूपं यस्या इति विग्रहः प्रदर्शितः॥

[2] वाक्यपदीये तृतीयकाण्डे क्रियासमुद्देशे श्लो० १॥

किया जाता है तो 'धन-प्राप्ति' राजा के ग्राश्रयण का फल है। 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रिया-फले' (१.३.७२) सूत्र में भी इसी फल की ओर संकेत किया गया है। परन्तु यहां फल का वह अभिप्राय नहीं, यहां उसका वह लोकप्रसिद्ध अर्थ नही लेना है। यदि वह अर्थ लिया जाये तो पच् धातु का फल 'क्षुन्निवृत्ति' ही मानना पड़ेगा; तब क्षुन्निवृत्ति के न होने से 'देवदत्तोऽपाक्षीत्' यह प्रयोग उपपन्न न हो सकेगा। किञ्च तब हमारी सम्पूर्ण सकर्मकाऽकर्मकव्यवस्था भी उच्छिन्न हो जायेगी [1]। अतः यहां फल शब्द पारिभाषिक ही समझना चाहिए। धातु के व्यापार अर्थात् क्रिया-कलाप से जन्य विक्लिति (चावल आदियों का गल जाना) आदि को ही यहां फल शब्द से परिभाषित किया गया है। इस प्रकार 'फल' का सरल लक्षण यह है—**'तद्धात्वर्थ-जन्यत्वे सति तद्धात्वर्थत्वं फलत्वम्'** अर्थात् जो उस धातु के अर्थ व्यापार से पैदा होकर भी उसी धातु का अर्थ रहता है वह 'फल' कहाता है। जैसे 'विक्लिति' (गलना) यह पच् का फल है, क्योंकि यह पच् के व्यापार से प्रसूत होकर पच् के अर्थ के ही अन्तर्गत समझी जाती है।

साध्यत्वेन विवक्षित अर्थात् सिद्ध होने जा रही जिस क्रिया के लिये 'पचति' आदि का प्रयोग किया जाता है उस क्रिया को यहाँ 'व्यापार' कहते हैं। जैसे 'पचति' में बरतन आग पर धरना, कडुछी आदि से बीच बीच में हिलाना, अग्नि को प्रज्वलित रखने के लिए चूल्हे में बार बार फूंक मारना, वस्तु गल गई है या नहीं इसकी जांच के लिये कडुछी आदि से कुछ निकाल कर अंगुली आदि के द्वारा परीक्षा करना इत्यादि सकल क्रिया-कलाप 'व्यापार' कहलाता है। व्याकरण-शास्त्रसम्मत इसी व्यापार को ही मीमांसक लोग 'भावना' के नाम से पुकारते हैं [2]। इस प्रकार व्यापार का

---

[1] तब **'परोपकाराय वहन्ति नद्यः'** यहां वह् धातु का फल परोपकार माना जायेगा। परन्तु वैसा मानने पर परोपकाररूप फल तो रहेगा दूसरी जगह पर, और वहन-क्रिया रहेगी दूसरी जगह पर। इस प्रकार फल और व्यापार के व्यधिकरण होने से वह् धातु सकर्मक हो जायेगी जो लोक और सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध होगी॥

[2] उत्पत्त्यर्थक भू धातु को णिजन्त बना कर उससे 'ण्यासश्रन्थो युच्' (३.३.१०७) सूत्र द्वारा युच् प्रत्यय करने पर यु को अन, णि का लोप तथा टाप् करने पर 'भावना' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार उत्पादना और भावना दोनों पर्याय ठहरते हैं। तभी तो आगे कहेंगे—**"व्यापारो भावना सैवोत्पादना सैव च क्रिया"** (कारिका ५)॥

सरल लक्षण यह समझना चाहिये—'**तद्धात्वर्थ-फल-जनकत्वे सति तद्धातु-वाच्यत्वं व्यापारत्वम्**' अर्थात् जो धातु के फलांश को पैदा करता हुआ उसी धातु का वाच्य रहता है उसे 'व्यापार' कहते हैं। जैसे अधिश्रयण फूत्कारादि पूर्वोक्त क्रियाएं पच् धातु का व्यापार हैं क्योंकि इन क्रियाओं से ही पच् का वाच्य फलांश (विक्लिति=गलना) उत्पन्न होता है। सारांश यह है कि व्याकरणमत के अनुसार प्रत्येक धातु के अर्थ के दो अंश होते हैं—(१) फलांश, (२) व्यापारांश। व्यापारांश से फलांश उत्पन्न होता है। इसीलिये व्यापार को फलानुकूल व्यापार कहा जाता है। ध्यान रहे कि यहां 'अनुकूल' शब्द का अर्थ 'जनक' (पैदा करने वाला) ही है। फलानुकूल व्यापार अर्थात् फल का जनक व्यापार। उदाहरणार्थ हम कुछ धातुओं के फलांश और व्यापारांशों का निर्देश करते हैं—

(१) **पच्**—पकाना।

फल—तण्डुल आदियों की विक्लिति (गलना)।

व्यापार—बरतन को आग पर धरना, हिलाना, फूंक मारना, नीचे उतारना आदि।

(२) **हन्**—मारना।

फल—प्राणों का वियोग।

व्यापार—गला दबाना, तलवार आदि को उठा कर प्रहार करना, काटना आदि।

(३) **चुर्**—चुराना।

फल—अस्वकीय वस्तु का स्वकीय बन जाना।

व्यापार—सेंध लगाना, ताला तोड़ना, अपने आप को गुप्तभाव से प्रविष्ट करना आदि।

(४) **दृश्**—देखना।

फल—दृष्टि से संयुक्त होना या दृष्टि का विषय होना।

व्यापार—नेत्र के साथ मन को संयुक्त करना, आँख खोलकर विषय की ओर देखना आदि।

(५) **लिख्**—लिखना।

फल—पत्रादि पर रेखा-विन्यास।

व्यापार—हस्त द्वारा कलम पकड़ना, स्याही में डुबोना, धीरे धीरे हाथ को व्यापृत करना आदि।

(६) **छिद्**—काटना।

फल—द्वैधीभाव।

व्यापार—हाथ में आरी लेकर उसे काष्ठादि पर व्यापृत करना आदि।

(७) **श्रु**—सुनना।

फल—शब्द-ग्रहण।

व्यापार—कर्ण के साथ मन को संयुक्त करना आदि।

(८) **जागृ**—जागना।

फल—पुनः संसार (दृश्य) से सम्बन्ध।

व्यापार—आँख खोलना, उठ बैठना आदि।

इस प्रकार प्रत्येक धात्वर्थ के दो भाग समझने चाहियें। भूषणकार ने अपनी बात को परिपुष्ट करने के लिए यहाँ भर्तृहरि के वाक्यपदीय की एक कारिका उद्धृत की है। इसका भाव यह है कि कार्य दो प्रकार का हुआ करता है। एक सिद्ध अर्थात् जो निष्पन्न हो चुका है यथा 'अपाक्षीत्' आदि में। दूसरा असिद्ध अर्थात् जो अभी निष्पन्न नहीं हुआ है। यथा 'पचति,पक्ष्यति' आदि में। इन दोनों प्रकार के कार्यों को जब साध्यत्वेन कहा जाता है तब अवान्तर-क्रियाकलापों का जो एक क्रम सा बन जाता है उसे 'क्रिया' कहते हैं। जैसे 'पचति' कहने पर बरतन आग पर धरना, कड़छी आदि से हिलाना, फूंक मारना, गले न गले की परीक्षा करना और अन्त में बरतन को आग से नीचे उतारना इन सब क्रियाओं का जो एक सिलसिला सा प्रतीत होता है उसे ही 'क्रिया' के नाम से पुकारा जाता है[1]॥

---

[1] जहां यह क्रम-सिलसिला प्रतीत नहीं भी होता वहां भी आरोप या रूढि स्वीकार कर ली जाती है। इसका कुछ विवेचन द्वितीय कारिका की व्याख्या के अन्त में किया गया है। एतदनुसार 'क्रिया' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार समझनी चाहिये—'**क्रियतेऽवयवानां क्रमेण उत्पत्त्या इति क्रिया**'॥

'पचति' आदि में क्रिया साध्यत्वेन विवक्षित होती है। परन्तु 'साध्यत्वेन विवक्षित' का क्या अभिप्राय है इस को स्पष्ट करते हैं—

भूषण-सारः—

न च साध्यत्वेनाऽभिधाने मानाऽभावः। 'पचति, पाकः'; 'करोति, कृतिः'—इत्यादौ धात्वर्थाऽवगमाऽविशेषेऽपि क्रियान्तराऽऽकाङ्क्षाऽनाकाङ्क्षयोर्दर्शनस्यैव मानत्वात्[1]। तथा च क्रियान्तराऽऽकाङ्क्षाऽनुत्थापकताऽवच्छेदकरूपं साध्यत्वम्। तद्रूपवत्त्वम् असत्त्वभूतत्वम्। एतदेवाऽऽदाय—

"असत्त्वभूतो भावश्च तिङ्पदैरभिधीयते"

इति वाक्यपदीयम् इति द्रष्टव्यम्॥

जैसे 'पाकः, कृतिः' इत्यादियों के कहने पर दूसरी क्रिया की आकांक्षा दिखाई देती है वैसे 'पचति, करोति' आदि के कहने पर दिखाई नहीं देती। हालांकि 'पचति, पाकः' दोनों स्थलों पर धातु तथा उसका अर्थ एक जैसा ही है उसमें कोई अन्तर नहीं। बस इसी से प्रतीत होता है कि 'पचति, करोति' आदि में क्रिया साध्यत्वेन कही जा रही है और 'पाकः, कृतिः' आदि में वह सिद्धत्वेन। दूसरी क्रिया की आकाङ्क्षा का न उठना ही साध्यावस्था का लक्षण है। इसी अवस्था में क्रिया असत्त्वभूत (अद्रव्यभूत) रहती है। इसी को लेकर वाक्यपदीय में कहा गया है—**"तिङन्त पदों से असत्त्वभूत क्रिया कही जाती है"**॥

वक्तव्य—'पचति, करोति, पठति' इत्यादि तिङन्तों को सुनकर श्रोता के मन में किसी अन्य क्रिया की आकाङ्क्षा नहीं उठती। जब हम 'पचति' (वह पकाता है) कहते हैं तब सुनने वाले को उससे पूरी तसल्ली अर्थात् पूरा बोध हो जाता है, वह किसी अन्य क्रिया की अपेक्षा नहीं रखता। परन्तु

---

[1] यद्यपि 'पचति, पाकः' में क्रमशः क्रियान्तर की अनाकाङ्क्षा और आकाङ्क्षा अभीष्ट है तथापि यहां मूल में समासवशात् पहले आकांक्षा और फिर अनाकांक्षा का कथन किया गया है। समास में 'अल्पाच्तरम्' (२.२.३४) के नियमानुसार अल्पाच् पद का पहले प्रयोग किया जाता है॥

यदि हम 'पाकः' कहें तो सुनने वाले के मन में अन्य क्रिया के जानने की आकाङ्क्षा बनी रहेगी, उसे केवल 'पाकः' सुनकर तसल्ली नहीं होगी, वह जानना चाहेगा कि 'किं पाकः प्रवर्त्तते, नश्यति, भविष्यतीति वा' क्या पाक हो रहा है, नष्ट हो रहा है या होने जा रहा है इत्यादि। जब तक श्रोता दूसरी क्रिया न सुन ले उसकी आकाङ्क्षा शान्त नहीं होगी। बस यही साध्यावस्था और सिद्धावस्था का अन्तर है। जब क्रिया साध्यावस्था में होती है तो उसे सुनकर अन्य क्रिया को जानने की आकाङ्क्षा उत्पन्न नहीं हुआ करती परन्तु जब सिद्धावस्था में आ जाती है तो उसे सुनकर श्रोता अन्य क्रिया को जान कर ही उससे पूरा पूरा बोध प्राप्त कर सकता है अन्यथा नहीं।

प्रश्न—'पचति' और 'पाकः' ये दोनों तथा 'करोति' और 'कृतिः' ये दोनों एक ही धातु से निष्पन्न होते हैं। इधर आप प्रत्येक धात्वर्थ के दो अंश मानते हैं—एक फलांश और दूसरा व्यापारांश। व्यापारांश को आप साध्यावस्था मान रहे हैं। तो फिर इन दोनों में अन्तर कैसा ? जो धातु 'पाकः' में है वही 'पचति' में है, जो धातु 'कृतिः' में है वही 'करोति' में है। एक में आप व्यापारांश की साध्यावस्था और दूसरे में उसकी सिद्धावस्था मानते हैं। आखिर इसमें नियामक क्या है ?

उत्तर—यद्यपि 'पचति' और 'पाकः' दोनों स्थानों पर एक ही अर्थ वाली एक ही धातु विद्यमान है तथापि 'पचति' में धातु की स्वाभाविक साध्यावस्था किसी ने नष्ट नहीं की, वह अक्षुण्ण है। परन्तु 'पाकः' आदि में उसकी साध्यावस्था को घञ् आदि प्रत्यय अभिभूत कर लेते हैं इसलिये उसकी साध्यावस्था दब जाती है और घञ्प्रत्ययोत्थापित सिद्धावस्था ऊपर आकर प्रतीत होने लगती है। इसका अधिक स्पष्टीकरण आगे १५वीं कारिका की व्याख्या में करेंगे वहीं देखें।

सिद्धावस्था में धातुवाच्य व्यापार द्रव्यवत् प्रतीत हुआ करता है। जैसे द्रव्य के साथ लिङ्ग, विभक्ति और वचन लगा करते हैं वैसे उसके साथ भी प्रयुक्त हुआ करते हैं। यथा—'पाको जायते, पाकौ जायेते, पाकाः जायन्ते, पाकेन कार्यं सेत्स्यति, पाके प्रवर्त्तते सूदः' इत्यादि। परन्तु साध्यावस्था में व्यापार अमूर्त्त होने से असत्त्ववत्—अद्रव्यवत् समझा जाता है अतः उसके

साथ लिङ्ग विभक्ति और वचन का योग नहीं रहता[1]। भर्तृहरि ने यही बात अपनी कारिका में कही है—

"सत्त्व-स्वभावमापन्ना व्यक्तिर्नामभिरुच्यते।
असत्त्व-भूतो भावश्च तिङ्पदैरभिधीयते॥"[2]

अर्थात् जब क्रिया सत्त्व अर्थात् द्रव्य के स्वभाव को धारण कर लेती हैं तब विभक्ति आदि का योग हुआ करता है। परन्तु तिङन्तपदों से तो अद्रव्यभूत क्रिया का ही प्रतिपादन किया जाता है॥

भूषण-सारः—

अयं[3] च व्यापारः फूत्कारत्वाऽधःसन्तापनत्व-यत्नत्वादि-तत्तद्रूपेण वाच्यः। पचतीत्यादौ तत्तत्प्रकारक-बोधस्याऽनुभव-सिद्धत्वात्। न च नानार्थताऽऽपत्तिः। तदादिन्यायेन बुद्धि-विशेषादेः शक्यताऽवच्छेदकानाम्[4] अनुगमकस्य सत्त्वात्।

---

[1] 'भवति, भवतः, भवन्ति' इत्यादियों में जो वचन दृग्गोचर होते हैं वे क्रिया के साथ सम्बद्ध नहीं होते, उनका सम्बन्ध तो 'देवदत्तः' आदि कर्त्ताओं के साथ किया जाता है। क्रिया तो अमूर्त्त होने से वचनातीत है। यही कारण है कि भाववाच्य में—कौन सा वचन किया जाये? इस के लिये '**एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते**' के अनुसार एकवचन का विधान किया जाता है॥

[2] यह कारिका इस समय वाक्यपदीय में उपलब्ध नहीं। '**असत्वभूतो भावश्च क्रियाऽन्येनाऽभिधीयते**' इस प्रकार का पाठ वाक्यपदीय के २.१९५ पर उपलब्ध है। हमने कारिका का पूर्वार्ध 'दर्पण' से उद्धृत किया है॥

[3] अयम्—साध्यत्वेन प्रतीयमान इत्यर्थः॥

[4] अभिधा-शक्ति से बोधित होने वाले अर्थ को '**शक्यार्थ**' कहते हैं। इसे आलंकारिक लोग वाच्यार्थ या अभिधेयार्थ कहते हैं। शक्य अनेक हैं; घट, पट, गो आदि सब शब्द शक्तिद्वारा किसी न किसी अर्थ का बोध कराते हैं अतः ये सब शक्य हैं। इन शक्यों में रहने वाले धर्म को यदि '**शक्यत्व**' कहा जाये तो घट और पट इन दो शक्य पदों में एक ही शक्यत्व धर्म रहेगा; इससे घट शब्द का अर्थ पट, और पट शब्द का अर्थ घट आदि भी हो जायेगा। अतः शक्यत्व से भिन्न अन्य शक्यताऽवच्छेदक धर्म मानना जरूरी है जो केवल उसी शक्य में ही रहेगा। इस प्रकार 'घट' इस शक्य का

आख्याते[1] क्रियैकत्व-व्यवस्थाऽपि अवच्छेदकबुद्धि-विशेषैक्यम् आदायैव । उक्तञ्च वाक्यपदीये[2]-

"गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्[3] ।
बुद्धया प्रकल्पिताऽभेदः[4] क्रियेति व्यपदिश्यते" ॥इति॥

साध्यत्वेन प्रतीयमान यह व्यापार—फूत्कारत्व (फूंक मारना), अधःसन्तापनत्व (नीचे आग जलाना) तथा विविध प्रकार का यत्नत्व आदि उन उन विशेष रूपों से धातु का वाच्य होता है। क्योंकि 'पचति' के कहने पर उन सब का बोध अनुभव-सिद्ध है।

अजी! यदि उन सब क्रियाओं का बोध 'पचति' इस एक शब्द से ही होने लगे तो 'पचति' नानार्थक हो जायेगा। यह आशङ्का यहाँ नहीं उठाई जा सकती क्योंकि उन नाना क्रियाओं के पीछे भी उनको एक लड़ी में पिरोने वाला बुद्धि-विशेष (ज्ञानविशेष) हुआ करता है। जैसे तद् इदम् आदि शब्द नाना पदार्थों का बोध कराते हुए भी नानार्थक नहीं होते वैसे

शक्यताऽवच्छेदक 'घटत्व' होगा तथा 'पट' इस शक्य का शक्यताऽवच्छेदक 'पटत्व' होगा। इस तरह भिन्न भिन्न शक्यताऽवच्छेदकों के कारण घट का अर्थ पट तथा पट का अर्थ घट आदि नहीं हो सकेगा।

शक्यपदार्थस्य असाधारणो धर्मः शक्यताऽवच्छेदकम् इत्युच्यते। यथा घट-शब्दो घटत्ववन्तं पदार्थं बोधयति अतस्तदसाधारणधर्मो घटत्वं घटशब्दस्य शक्यताऽवच्छेदकम् इति ॥

[1] आख्यातक्रियैकत्व इति पाठो दर्पणसम्मतः ॥

[2] तृतीय-काण्डे क्रियासमुद्देशे श्लोक० ४ ॥

[3] क्रमेण जन्म येषां ते क्रमजन्मानः, तेषाम्—क्रमजन्मनाम्, अधिश्रयणादि-व्यापाराणामित्यर्थः। समूहं प्रति गुणभूतैः—तत्तद्रूपेण फूत्कारत्वादिना भासमानैरवयवैर्युक्तः समूहः। अत्र 'गुणभूतैः' इत्यस्य 'अङ्गभूतैः' इत्यर्थे पौनरुक्त्यापत्तिः। अतो गुणशब्दो धर्मपरः, भूतशब्दो **'ये प्राप्त्यर्थास्ते ज्ञानार्थाः'** इतिन्यायेन 'भू प्राप्तौ' (चुरा०, आत्मने०) इत्युक्तेर्ज्ञानपरो वर्त्तमानक्तप्रत्ययान्त इति तत्तद्रूपेण भासमानैरित्यर्थः सम्पद्यते ॥

[4] प्रकल्पितोऽभेदो यस्य सोऽयं प्रकल्पिताऽभेदः, समूहविशेषणमेतत् ॥

यहां भी समझना चाहिए। **'एक धातु से एक ही क्रिया का बोध हुआ करता है'** यह नियम भी अनेक क्रियाओं को एक लड़ी में पिरोने वाले बुद्धि-विशेष की एकता को लेकर ही उपपन्न होता है। इसीलिए तो वाक्यपदीय में कहा गया है—**"क्रमशः उत्पन्न होने वाले व्यापारों का समूह जो तत्तद्रूपेण भासमान अवयवों से युक्त होता है जब बुद्धिद्वारा एक लड़ी में पिरोया जा कर अभिन्नरूपेण प्रतिपादित किया जाता है तब उसे 'क्रिया' कहते हैं ॥"**

वक्तव्य—धात्वर्थ व्यापार से उन सभी अवान्तर-क्रियाओं की प्रतीति होती है जो उस व्यापार के अन्तर्गत आती हैं। जैसे 'पच्' के अर्थ व्यापार से फूंके मारना, चूल्हे पर रखे बरतन के नीचे ताप उत्पन्न करना, कडुछी आदि से हिलाना, गले न गले की परीक्षा करना आदि नाना प्रकार के यत्न आदियों का बोध होता है। परन्तु इन अवान्तर व्यापारों के कारण धातु को नानार्थक नहीं मानना चाहिये। अर्थात् यदि कोई यह कहे कि तब तो पच् धातु के अनेक अर्थ हो जायेंगे—'बरतन आग पर धरना' भी पच् धातु का अर्थ होगा, 'कडुछी आदि से हिलाना' भी पच् धातु का अर्थ होगा, 'नीचे ताप देना' भी पच् धातु का अर्थ होगा, 'गले अधगले की परीक्षा करना' भी पच् धातु का अर्थ होगा। तब जैसे हम 'हरि'[1] आदि अनेकार्थक शब्दों को मनचाहे किसी एक अर्थ में प्रयुक्त कर सकते हैं वैसे पच् को भी 'फूंके मारना' आदि किसी एक अर्थ में प्रयुक्त करने लगेंगे। तो इसका समाधान यह है कि हम पच् धातु को अनेकार्थक नहीं मान सकते, क्योंकि उन अवान्तर क्रियाओं के पीछे उन क्रियाओं को एक लड़ी में पिरोने वाला बुद्धि-विशेष (ज्ञान-विशेष) हुआ करता है। जैसे माला के मनके अनेक होने पर भी एक सूत में पिरोये गये होने से एक मालात्व की बुद्धि उत्पन्न करते हैं वैसे यहां अनेक अवान्तर-क्रियाओं के होने पर भी उन सब का उद्देश्य विक्लितिरूप फल को उत्पन्न करना होता है। बस इसी ज्ञान-विशेष को लेकर वे सब क्रियाएं एक लड़ी में पिरोई हुई होती हैं, अतः 'पच्'

---

[1] **"हरिर्विष्णावहाविन्द्रे भेके सिंहे हये रवौ।**
चन्द्रे कोले प्लवङ्गे च यमे वाते च कीर्तितः॥"

हरिशब्द के बारह अर्थ होते हैं—(१) भगवान् विष्णु, (२) साँप, (३) इन्द्र, (४) मेंढक, (५) शेर, (६) घोड़ा, (७) सूर्य, (८) चन्द्र, (९) सूअर, (१०) वानर, (११) यमराज, (१२) वायु।

से उन में से किसी एक क्रिया का ही बोध नहीं हो सकता, अपितु समूहरूप से पच् उन सबका वाचक होता है। जैसे तद्, इदम् आदि शब्द अनेक पदार्थों का बोध कराते हैं—स वानरः, सा लता, तत् कुलम्, अयं घटः, इयं बाला, इदं फलम् इत्यादि,परन्तु उन सब का बोध कराने पर भी एक बुद्धि-विशेष के कारण वे सब के वाचक होकर नानार्थक नहीं हो जाते। ठीक इसी प्रकार यहाँ पच् आदियों के विषय में भी समझना चाहिए।

किञ्च **'आख्यातेन एका क्रिया प्रत्याय्यते'** आख्यात अर्थात् तिङन्त धातु से एक ही क्रिया का बोध होता है—यह न्याय भी इसी प्रकार संगत हो जाता है। क्योंकि आख्यात द्वारा अनेक क्रियाओं का बोध होने पर भी उन अनेक क्रियाओं में उनको परस्पर बान्धने वाला एक बुद्धि-विशेष हुआ करता है। उसी बुद्धिविशेष के एकत्व के कारण अनेक क्रियाएं भी समूहात्मना एक क्रिया प्रतीत होती हैं। भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में इसी बात की पुष्टि अत्यन्त सुन्दर शब्दों में की है—

''गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।

बुद्ध्या प्रकल्पिताऽभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥'' (३.८.४)

अर्थात् क्रमशः उत्पन्न होने वाली, गुणभूत अर्थात् तत्तद्रूपेण भासमान क्रियाओं का ऐसा समूह जो बुद्धि द्वारा एकाकार होकर अभिन्न सा प्रतीत होता है **'क्रिया'** नाम से पुकारा जाता है। यहां भर्तृहरि ने क्रिया का लक्षण करते हुए ऐसे शाश्वत सत्य का प्रतिपादन किया है जो आज तक झुठलाया नहीं गया। संसार के सब मनीषी, शताब्दियों पूर्व भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित क्रिया के इस लक्षण की आज भी मुक्तकण्ठ से भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं। इस संसार में कोई भी व्यक्ति क्रिया को सम्पूर्णरूपेण प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। हम सब क्रिया के एक अंश को ही देख पाते हैं। क्रिया अवान्तर क्रियाओं का समूह होती है और वह समूह कभी समुदितरूपेण देखा नहीं जा सकता। क्योंकि अवान्तरक्रियाएं क्षणिक होती हैं, क्षण भर रह कर नष्ट हो जाती हैं। जब दूसरी अवान्तरक्रिया प्रारम्भ होती है तब तक पहली नष्ट हो चुकी होती है। इसी प्रकार जब तीसरी चौथी अवान्तर-क्रियाएं प्रारम्भ होती हैं तब तक पूर्व पूर्व क्रिया नष्ट हो चुकी होती है अतः उनका समूह कभी भी एक काल में नहीं बन सकता। जब समूह ही नहीं तो उस का नाम 'क्रिया' कैसे ? इसका उत्तर अत्यन्त बुद्धिमत्ता से कारिका में

'बुद्ध्या प्रकल्पिताऽभेदः' शब्द जोड़ कर दिया गया है। अर्थात् यद्यपि हम क्षणवर्त्तिनी क्रियाओं के समूह को किसी एक काल में इकट्ठा प्रत्यक्ष नहीं कर सकते तथापि अपनी बुद्धि द्वारा उनके समूह को समझ सकते हैं। बस बुद्धि द्वारा उनमें समूह की कल्पना कर अभेद समझ कर उसकी ही 'क्रिया' सञ्ज्ञा की जाती है[1] ॥

भूषणसारः—

धात्वर्थं निरूप्य तिङर्थमाह—आश्रये त्विति। फलाऽऽश्रये व्यापाराऽऽश्रये चेत्यर्थः। फलाऽऽश्रयः कर्म। व्यापाराश्रयः कर्त्ता। तत्र फल-व्यापारयोर्धातुलभ्यत्वान्न तिङस्तदंशे शक्तिः, अन्य-लभ्यत्वात्। शक्यताऽऽवच्छेदकं चाश्रयत्वं तत्तच्छक्ति-विशेषरूपम् इति सुबर्थ-निर्णये वक्ष्यते ॥

धातु के अर्थ का निरूपण कर अब कारिका में तिङ् का अर्थ बतलाते हैं—**'आश्रये तु तिङः स्मृताः'**। अर्थात् आश्रय के वाचक तिङ् होते हैं। किस के आश्रय के? फल और व्यापार निकट पढ़े गये हैं अतः फल और व्यापार के आश्रय के वाचक तिङ् होते हैं यह अर्थ निष्पन्न होता है। फल का आश्रय कर्म हुआ करता है तथा व्यापार का आश्रय कर्त्ता, इस प्रकार कर्म और कर्त्ता के वाचक तिङ् होते हैं यह अर्थ फलित होता है। फल और व्यापार का वाचक तिङ् है ऐसा क्यों न मान लें? ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि फल और व्यापार अर्थ तो धातु से ही लब्ध हैं। **'अनन्य-लभ्यो हि शब्दार्थः'** (दूसरे से लब्ध न होने वाले अर्थ को ही शब्द का अर्थ

---

[1] यदि व्यापारों का समूह ही 'क्रिया' हो तो बरतन आग पर धरते समय 'पचति' का प्रयोग न हो सकेगा। क्योंकि तब अन्य व्यापार तो अभी पैदा ही नहीं हुए, जो पैदा ही नहीं हुए उनका सङ्कलनात्मिक बुद्धि के द्वारा अभेद कैसा? इस का उत्तर यह है कि समूह के एक अवयव में भी समूह का आरोप करके क्रिया का व्यव-हार देखा जाता है, अत एव अधिश्रयणकाल में भी 'पचति' का प्रयोग उपपन्न हो जाता है। इसीलिये तो भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है—

"एकदेशे समूहे वा व्यापाराणां पचादयः।
स्वभावतः प्रवर्त्तन्ते तुल्यरूपं समाश्रिताः ॥" ३.७.५८ ॥

मानना चाहिए) इस न्याय के अनुसार वह तिङ् का अर्थ नहीं हो सकता अतः कर्म और कर्त्ता ही तिङ् के वाच्य कहे जायेंगे। यहां आश्रय में रहने वाला असाधारणधर्म आश्रयत्व ही शक्यताऽऽवच्छेदक समझना चाहिए। वह आश्रयत्व शक्ति(धर्म)-विशेषरूप है इस का प्रतिपादन आगे सुबर्थ-निर्णय के प्रकरण में करेंगे॥

वक्तव्य—'पचति, पचतः' आदि के दो अंश हुआ करते हैं। एक धातु तथा दूसरा तिङ्। धातुके फल और व्यापार दो अर्थ होते हैं यह पीछे बताया जा चुका है। अब तिङों का अर्थ बतलाते हैं—'**आश्रये तु तिङः स्मृताः**'। आश्रय में तिङ् कहे गए हैं अर्थात् तिङ् आश्रय को बतलाते हैं। किस के आश्रय को? यह नहीं बतलाया गया। **प्रत्यासत्तिन्याय**[1] से फल और व्यापार के निकट पठित होने से फल और व्यापार के आश्रय के ही वाचक तिङ् होते हैं यह अर्थ फलित हो जाता है। फल हमेशा कर्म में रहा करता है, जैसे पच् का विक्लितिरूप फल तण्डुल आदियों में रहता है अतः फल का आश्रय कर्म होता है। व्यापार सदा कर्त्ता में रहा करता है, जैसे पच् का फूत्कारादि व्यापार कर्त्ता में रहता है अतः व्यापार का आश्रय कर्त्ता होता है। इस प्रकार तिङों द्वारा कर्म या कर्त्ता कहे जाते हैं—यह निष्कृष्टार्थ हुआ। 'तिङ् द्वारा कर्म और कर्त्ता कहे जाते हैं' ऐसा सीधा न कह कर '**आश्रये तु तिङः स्मृताः**' इस प्रकार घुमा-फिरा कर उसी बात को कहना नैयायिकों की गौरव-लाघव दौड़ के कारण किया गया है[2]। यदि सीधे तौर पर यह कह दें कि तिङ् कर्म या कर्त्ता के वाचक हैं तो शक्यताऽवच्छेदक अनेक हो जाने से गौरव-दोष प्राप्त होता है। परन्तु अब तिङ् का वाच्य

---

[1] जहाँ तक हो सके पदार्थों का सम्बन्ध निकट ही करना चाहिये, क्योंकि दूर की अपेक्षा निकट शीघ्र उपस्थित हुआ करता है। इसे ही प्रत्यासत्ति-न्याय कहते हैं॥

[2] ध्यान रहे कि 'किस बात को मानने से गौरव और किस बात को स्वीकार करने से लाघव होता है' इससे भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में बड़े बड़े सिद्धांत निर्णीत किये जाते हैं। प्रायः नवीन दार्शनिकों का सम्पूर्ण भवन इसी भित्ति पर आश्रित हुआ करता है। जब दूसरे के मतों का खण्डन किया जाता है,तब स्थान स्थान पर इसी रीति (Technic) का आश्रय लिया जाता है। इससे बढ़कर सम्भवतः बौद्धिक व्यायाम नहीं हो सकता। नव्यन्याय आदि शास्त्रों में कृत-भूरि-परिश्रम लोग इसे भली भांति समझ सकते हैं॥

आश्रय है तो शक्यतावच्छेदक एक आश्रयत्व ही रहेगा [१]। इस से लाघव होगा। इस आश्रयत्व को कर्तृत्वादि शक्तिरूप समझना चाहिए। इस का विस्तृत विवेचन आगे सुबर्थ-निर्णय के द्वितीयाप्रकरण में करेंगे वहीं देखें ॥

भूषणसारः—

नन्वनयोराख्यातार्थत्वे किम्मानम् ? प्रतीतेर्लक्षणया आक्षेपात् प्रथमान्तपदाद् वा सम्भवादिति चेत्—

अजी ! कर्त्ता और कर्म तिङ् के अर्थ हैं इसमें क्या प्रमाण ? यदि कहो कि तिङन्त पदों से कर्त्ता और कर्म की प्रतीति होती है इसलिए हम तिङों का कर्त्ता और कर्म अर्थ मान रहे हैं तो इस पर यह कहा जा सकता है कि इनकी प्रतीति तो इन तीन कारणों से भी सम्भव हो सकती है—(१) लक्षणा के द्वारा, (२) आक्षेप के द्वारा अथवा (३) निकट प्रयुक्त प्रथमान्त पद के कारण । अतः प्रतीति को लेकर आप तिङों के कर्त्ता व कर्म अर्थ नहीं मान सकते—यह यहां पूर्वपक्ष है ॥

वक्तव्य—पीछे वैयाकरणों के सिद्धान्तानुसार फल और व्यापार को धातु का वाच्य, तथा कर्त्ता व कर्म को तिङ् का वाच्य बताया गया है। परन्तु यह मीमांसकों के मत से विरुद्ध पड़ता है। मीमांसकों के अनुसार धातु केवल फल का ही वाचक होता है, भावना या व्यापार तो तिङ् का वाच्य है। कर्त्ता व कर्म की प्रतीति ऊपर से अध्याहार आदि के द्वारा हुआ करती है। तो यहाँ मीमांसक वैयाकरणों से पूछते हैं—

मीमांसक—अजी आप तिङों का कर्म व कर्त्ता अर्थ मानते हैं, भला इस में क्या प्रमाण है कि तिङों का ही कर्म व कर्त्ता अर्थ है ?

---

[१] यद्यपि—कर्तृत्वादिशक्तिविशेष में भी भेद की कल्पना करनी ही पड़ेगी अन्यथा 'सप्तमी-पञ्चम्यौ कारक-मध्ये' (२.३.७) सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकेगा। क्योंकि इस सूत्र में कारक शब्द कर्तृत्वादिशक्ति परक है; '**अद्य भुक्त्वा देवदत्तो द्व्यहे द्व्यहाद्वा भोक्ता**' इत्यादि उदाहरणों में यदि कर्तृत्वशक्ति को अखण्ड तथा एक मानेंगे तो दो कारकों (शक्तियों) के मध्य काल के न रहने से सप्तमी व पञ्चमी न हो सकेगी—तथापि आश्रयत्वों में भी 'आश्रयतात्व' ऐसा अनुगत धर्म मान कर किसी प्रकार वैयाकरण एक शक्यतावच्छेदक मान लेते हैं। यह सब आगे सुबर्थनिर्णय में स्पष्ट होगा ॥

वैयाकरण—'पचति, पठति, करोति' आदि से कर्त्ता की, तथा 'पच्यते, पठ्यते, क्रियते' आदि से कर्म की प्रतीति स्पष्टतः सबको प्रत्यक्ष है अतः इस प्रतीति के कारण हम तिङों का कर्त्ता व कर्म अर्थ मान रहे हैं।

मीमांसक—यदि आप इस प्रतीति से ही तिङों के कर्त्ता व कर्म अर्थ मानते हैं तो यह ठीक नहीं। क्योंकि कर्त्ता व कर्म की प्रतीति तो निम्नलिखित तीन कारणों से भी सम्भव हो सकती है—

(१) लक्षणा के द्वारा—

जैसे गङ्गा शब्द का अर्थ 'जल-प्रवाह' है 'तट' नहीं, परन्तु '**गङ्गायां घोषः**' (गङ्गा पर गांव है) आदियों में गङ्गा शब्द से लक्षणाशक्ति के द्वारा 'तट' अर्थ लिया जाता है वैसे यहाँ भी तिङों का निज अर्थ तो भावना ही है परन्तु लक्षणा द्वारा[१] उससे कर्त्ता व कर्म की प्रतीति हुआ करती है॥

(२) आक्षेप अर्थात् अर्थापत्ति के द्वारा—

'**येन विना यदनुपपन्नं तत् तेन कल्प्यते**' अर्थात् जिसके विना कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता वह उससे कल्पना कर लिया जाता है। यथा—कोई कहे कि '**पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते**' अर्थात् देवदत्त मोटा-ताजा तगड़ा है परन्तु दिन में नहीं खाता। यहां देवदत्त को हम भली भांति जानते हैं उसमें किसी प्रकार का यौगिक चमत्कार तो पाया नहीं जाता और इधर दिन में खाने का निषेध किया गया है। इससे अर्थापत्ति द्वारा यही आ जायेगा कि वह रात्रि में भोजन करता है, क्योंकि विना खाये उसकी पीनता सम्भव नहीं। इसी प्रकार यहां 'भवति' आदियों में तिङ्वाच्या भावना कर्त्ता व कर्म के विना उपपन्न नहीं हो सकती, अतः कर्त्ता व कर्म की ऊपर से कल्पना कर ली जायेगी[२]।

(३) प्रथमान्त पद के द्वारा—

'देवदत्तः पचति' इत्यादियों में 'पचति' के साथ प्रथमान्त पद 'देवदत्तः'

---

[१] लक्षणा का लक्षण यथा—

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद् वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥

इस का विस्तृत-विवेचन '**साहित्यदर्पण**' आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में देखें॥

[२] ध्यान रहे कि मीमांसकलोग '**अर्थापत्ति**' को पृथक् प्रमाण मानते हैं परन्तु नैयायिक इस का **अनुमान** में ही अन्तर्भाव करते हैं॥

आदि लगा रहता है उससे भी हम कर्त्ता आदि की प्रतीति की कल्पना कर लेंगे। क्योंकि साथ लगे पद का वाक्यार्थ में उपयोग किया जा सकता है।

तो इस प्रकार ऊपर कहे तीन उपायों [१] से कर्त्ता व कर्म की प्रतीति सम्भव है। इस प्रतीति को लेकर वैयाकरणों का 'कर्त्ता व कर्म तिङ् के अर्थ हैं' ऐसा कहना उचित नहीं। यह मीमांसकों द्वारा उठाया गया पूर्वपक्ष है। अब भूषणकार इस का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

भूषणसारः—

अत्रोच्यते—'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः' (३.४.६९) इति सूत्रमेव मानम्। अत्र हि चकारात् 'कर्त्तरि कृत्' (३.४.६७) इति सूत्रोक्तं 'कर्त्तरि' इत्यनुकृष्यते। बोधकतारूपां तिबादिशक्ति

---

[१] इन तीन उपायों में भी पूर्व पूर्व उपाय में अरुचि के कारण अग्रिम अग्रिम उपाय का अवलम्बन किया गया है। तथाहि—पहले उपाय में अरुचि का कारण यह है कि यदि तिङ् से लक्षणा के द्वारा कर्त्ता व कर्म की प्रतीति मानेंगे तो फिर उस से भावना की प्रतीति न हो सकेगी, क्योंकि एक साथ दो वृत्तियों (अभिधा और लक्षणा) का आश्रय नहीं किया जा सकता। किञ्च लक्षणा तब की जाती है जब मुख्यार्थ वाक्य में अनुपपन्न हो जाये। जैसे 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गाशब्द का मुख्य जलप्रवाहरूप अर्थ जब वाक्य में अनुपपन्न हो गया था तभी लक्षणा के द्वारा तटरूप लक्ष्यार्थ की कल्पना की गई थी। परन्तु यहाँ तिङ् के वाच्यार्थ भावना की अनुपपन्नता का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः लक्षणा नहीं मान सकते।

द्वितीय उपाय में अरुचि का कारण यह है कि यदि आक्षेप के द्वारा कर्त्ता व कर्म की उपलब्धि मानेंगे तो भावना विशेषणत्वेन प्रतीत होने से प्रधान न रहेगी अपितु कर्त्ता व कर्म की ही प्रधानता हो जायेगी जो मीमांसकों के मत में भी अनिष्ट है। दूसरी बात यह है कि **"शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्यते"** इस न्याय के अनुसार शाब्दी आकाङ्क्षा सदा शब्दों द्वारा ही शान्त हुआ करती है आक्षेपों से नहीं। यहाँ कर्त्ता व कर्म की आकाङ्क्षा शाब्दी है अतः किसी न किसी शब्द से ही इसे शान्त करना होगा। इसलिये यहाँ आक्षेप से काम नहीं चल सकेगा। तीसरी बात यह है कि आश्रय का आक्षेप या अनुमान तब हो सकता हैं जब उस के पृष्ठ में व्याप्तिज्ञान का बल हो। यहाँ 'पचति' आदियों से आश्रय का बोध विना व्याप्तिज्ञान के सर्वजनों को सिद्ध हैं अतः आक्षेप या अनुमान नहीं माना जा सकता॥

तत्स्थानित्वेन कल्पिते लकारे प्रकल्प्य लकाराः कर्मणि कर्त्तरि चाऽनेन विधीयन्ते । नकारविसर्गादिनिष्ठां कर्म-करणादि-बोधकता-शक्तिमादाय शसादिविधानवत् । न च सूत्रे कर्तृ-कर्म-पदे कर्तृत्व-कर्मत्व-परे । तथा च कर्तृत्वं कृतिः, कर्मत्वञ्च फलमेवार्थोऽस्तु इति शङ्कचम्, फलव्यापारयोर्धातुलभ्यत्वेन लकारस्य पुनस्तत्र शक्ति-कल्पनाऽयोगात् ॥

इसके समाधान के लिए 'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः' (३.४.६९) यह पणिनि-सूत्र प्रमाणरूपेण प्रस्तुत किया जा सकता है[1]। इस सूत्र में चकारद्वय से 'कर्त्तरि कृत्' (३.४.६७) इस पूर्व सूत्र से दो बार 'कर्तरि' की अनुवृत्ति आ कर 'लकार सकर्मक धातुओं से कर्म और कर्त्ता में तथा अकर्मक धातुओं से भाव और कर्त्ता में होते हैं' यह अर्थ निष्पन्न होता है। यद्यपि यहाँ लकार के ही कर्म और कर्त्ता अर्थ कहे गए हैं तथापि वस्तुतः वे तिङों के ही अर्थ हैं, लकारों में तो उनको कल्पित किया जाता है। जैसे नकारादियों के कर्मादि अर्थ होते हैं परन्तु उनको व्याकरण-प्रक्रियाऽनुसार शस् आदियों में कल्पित किया जाता है वैसे यहां भी समझना चाहिए।

यदि कहो कि इस सूत्र में भावप्रधान निर्देश के कारण कर्त्ता का अर्थ कर्तृत्व अर्थात् कृति या व्यापार, तथा कर्म का अर्थ फल मान लेंगे—

---

[1] यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि मीमांसकों और वैयाकरणों के विवाद में वैयाकरण किस प्रकार विपक्षियों के आगे अपने शास्त्र अष्टाध्यायी का प्रमाण उपस्थित कर सकते हैं ? जैसे देवदत्त और यज्ञदत्त के विवाद में यदि देवदत्त अपने घर का कोई प्रमाण उपस्थित करे तो वह मान्य नहीं हो सकता वैसे यहाँ वैयाकरणों का अपने विपक्षियों के आगे अपने शास्त्र का प्रमाण देना भी अनुचित कहा जा सकता है। इसका समाधान यह है कि यहाँ विवाद आधुनिक मीमांसकों और आधुनिक वैयाकरणों के मध्य चल रहा है। प्राचीन ऋषि-मुनि लोग तो दोनों पक्षों को ही मान्य हैं। वे लोग त्रिकालदर्शी तिरोहित अतिरोहित सब प्रकार के अर्थों को हस्तामलकवत् यथार्थ जानने वाले योगी पुरुष थे अतः उनका ज्ञान मिथ्या नहीं हो सकता। इसलिये विवदमान आधुनिक लोगों का अपने पक्ष की पुष्टि के लिये उभयसम्मत उन पूर्वजों का वचन उद्धृत करना किसी भी प्रकार अनुचित नहीं कहा जा सकता॥

तो यह भी ठीक नहीं होगा। क्योंकि फल और व्यापार अर्थ तो धातु से ही लब्ध हैं फिर उनको तिङ् द्वारा वाच्य मानने की क्या आवश्यकता ? एक बार उपलब्ध हुए अर्थ को पुनः दूसरे शब्द से शक्ति द्वारा उपलब्ध करना उचित नहीं कहा जा सकता ॥

वक्तव्य—पीछे मीमांसकों ने तीन उपाय बताए थे जिनसे कर्त्ता व कर्म अर्थ की प्रतीति हो सकती थी, अतः उनका प्रश्न था कि तिङ्द्वारा कर्त्ता व कर्म को वाच्य मानने में कोई प्रमाण नहीं। इसके उत्तर में वैयाकरणों का यह कहना है कि 'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः' (३. ४.६९) यह पाणिनीय-सूत्र ही स्पष्ट बता रहा है कि तिङों के कर्त्ता व कर्म अर्थ होते हैं। सूत्र में यद्यपि लकारों के ही कर्त्ता व कर्म अर्थ बताये गए हैं तिङों के नहीं तथापि लोक में वस्तुतः वे तिङों के ही अर्थ हैं। क्योंकि व्याकरण में लकार के स्थान पर ही तिङ् आदेश होते हैं अतः लकार के ही कर्त्तादि अर्थ कल्पित कर लिए जाते हैं जो बाद में स्थानिवद्भाव से उनके स्थानों पर आदेश होने वाले तिङों में सङ्क्रान्त हो जाते हैं। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्त देते हैं कि जैसे 'रामैः' आदियों में विसर्गादियों का ही करण आदि अर्थ है जो व्याकरण में भिस् आदि प्रत्ययों में कल्पित कर बाद में विसर्गादियों में पुनः सङ्क्रान्त हुआ करता है। अथवा—'रामान्' आदियों के नकारादियों के ही कर्म आदि अर्थ हैं जो शस् आदियों में कल्पित कर बाद में स्थानिवद्भाव से पुनः नकारादियों को सङ्क्रान्त हुआ करते हैं। ठीक इसी प्रकार तिङादियों के ही कर्त्ता व कर्म अर्थ हुआ करते हैं जो व्याकरण प्रक्रिया की सुविधा के लिए लकारों के अर्थ कल्पित कर बाद में स्थानिवद्भाव से तिङादियों को पुनः सङ्क्रान्त हो जाते हैं। व्याकरण-प्रक्रिया के विषय में भर्तृहरि के ये शब्द इसी सत्य को प्रकट करते हैं—

"उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥"
"उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः[1] ॥"

---

[1] वर्त्तमान मुद्रित वाक्यपदीय में इस उद्धरण का पहला श्लोक २.२३८ पर उपलब्ध होता है। शेष अन्तिम श्लोकार्ध उपलब्ध नहीं। परन्तु **भट्टोजिदीक्षित** ने **शब्द-कौस्तुभ (नवाह्निक पृष्ठ ५)** में इसे भर्तृहरि के नाम से उद्धृत किया है। **हरिभास्कर** ने भी अपने **परिभाषा-भास्कर** की चतुर्थ-परिभाषा पर इसे भर्तृहरि विरचित माना है। वैयाकरण-सिद्धान्त-कारिका की ६९ वीं कारिका में यह श्लोकार्ध अविकल पठित है। नागेशभट्ट ने भी इसे कई स्थानों पर उद्धृत किया है ॥

अर्थात् व्याकरण-प्रक्रिया तो बच्चों का खेल समझनी चाहिए। इस असत्यमार्ग का अवलम्बन करके सीखने वाले विद्यार्थी सत्य तक पहुँचा करते हैं। प्रक्रिया मार्ग के उपायों को व्यवस्थित नहीं समझना चाहिए। क्योंकि विभिन्न आचार्य इन उपायों का भिन्न भिन्न प्रकार से आश्रय किया करते हैं। परन्तु हाँ इतना सत्य है कि इन उपायों से प्रापणीय लोकवेदप्रसिद्ध प्रयोग निश्चित हैं [1]।

अब यहाँ कई लोग यह शङ्का करते हैं कि जैसे 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' (१.४.२२) सूत्र में 'एक' का अर्थ एकत्व तथा 'द्वि' का अर्थ द्वित्व लिया जाता है वैसे यहाँ कर्तृ कर्म पदों को भी भावप्रधाननिर्देश मान कर कर्तृत्व और कर्मत्व अर्थ कर लेंगे। कर्तृत्व का अभिप्राय होगा—कृति=व्यापार, तथा कर्मत्व का अभिप्राय होगा—फल [2]। इस तरह व्यापार और फल अर्थ में ही लकारों का विधान माना जाएगा। इस शङ्का का समाधान करते हुए भूषणकार यह कहते हैं कि ऐसा सोचना व्यर्थ है क्योंकि व्यापार और फल तो धातु के अर्थ हैं अतः वे पहले से ही उपलब्ध हैं। लकारों के आने पर पुनः उस अर्थ की प्राप्ति अनर्थक है[3]। अतः लकारों का कर्तृ कर्म अर्थ ही है यह सिद्ध होता है॥

---

[1] इस स्थल की व्याख्या करते हुए श्रीभट्टोजिदीक्षित **शब्द-कौस्तुभ** में लिखते हैं—

"अत एव हि केचित् सुप्रत्ययं विदधति, अपरे सिम्। तथा सूत्ररीत्या 'पाठितम्' इत्यत्र इतप्रत्ययः, भाष्यरीत्या तप्रत्ययः; सूत्ररीत्या 'तावान्' इति वतुप्, **'डावतावर्थवैशेष्यात्'** इति वार्तिकोक्तरीत्या डावतुरिति दिक्। एतेन 'पचति' इत्यादौ आदेशैः स्मार्यमाणा लडादयो बोधका इति वदन्तः परास्ताः। तथाहि—**'वृद्धव्यवहाराच्छक्तिग्रहः'** इति निर्विवादम्। ततश्च प्रयोगसमवायिनामेव तिप्रभृतीनां शक्तिः सिध्यति, न त्वलौकिकानां लादीनाम्" (देखें शब्दकौस्तुभ चौखम्बासंस्करण नवाह्निक पृष्ठ ५)॥

[2] ननु कर्तृत्व-कर्मत्वयोः कथं कृति-फल-रूपत्वम् इति चेद् उच्यते। यत्नार्थककृधातोः कर्त्तरि तृच्प्रत्ययेन निष्पन्नः कर्तृशब्दो 'यत्नवान्' इत्यर्थं वक्ति, तदुत्तरः त्वप्रत्ययश्च कृतिरिति, कर्तृत्वस्य कृतिरूपत्वम्। कर्मशब्दस्य फलाश्रये पारिभाषिकत्वात् तदुत्तर-त्वप्रत्ययेन प्रकृत्यर्थ-प्रकारीभूत-फल-बोधनात् कर्मत्वस्य फलरूपत्वं च सिद्धमित्यर्थः। [शङ्कर शास्त्री]॥

[3] जैसा कि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है—

"यस्मिंस्तूच्चारिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।

तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्॥" (२.३२९)

भूषणसारः—

अथ दर्शनान्तरीय-रीत्या[1] व्यापारस्य धात्वर्थत्वाभावात् तत्र लकारविधिः स्यादिति चेत् ? तर्हि कृतामपि कर्तृ-कर्मादिवाचित्वं न सिध्येत् । 'कर्त्तरि कृद्' (३.४.६७) इति च 'लः कर्मणि०' (३.४.६९) इत्यनेन तुल्य-योग-क्षेमम्[2] ।

अपि च मीमांसकानां कृतामिव आख्यातानामपि कर्तृवाचित्वमस्तु, भावनाया एवाक्षेपेण कृदादिवत् प्रतीति-सम्भवे वाच्यत्वं माऽस्तु ।

तथा सति प्राधान्यं तस्या न स्यादिति चेद्? न, 'घटमानय' इत्यादौ आक्षिप्तव्यक्तेरपि प्राधान्यवदुपपत्तेः । 'पचति' इत्यादौ 'पाकं करोति' इति[3] भावनाया विवरणदर्शनाद् वाच्यत्वम् इति चेन्न[4], पाकानुकूलव्यापारवतः कर्त्तुरपि विवरण-विषयत्वाऽविशेषात् ।

न च कर्त्तुर्विवरणं तात्पर्यार्थविवरणम्, 'पाकं करोति' इत्यशब्दार्थकर्मत्वविवरणवद् , इतरेतरयोगद्वन्द्वे समुच्चयांशविवरणवद् वा न तदर्थनिर्णायकमिति वाच्यम्, भावनायामपि तुल्यत्वात् ।।

यदि मीमांसाशास्त्रोक्तरीति से व्यापार को धातु का अर्थ न मानते हुए उस व्यापार अर्थ में लकारों का विधान स्वीकार करेंगे तो कृत्प्रत्यय

---

[1] दर्शनं न्यायादिशास्त्रम्, अन्यद् दर्शनम्—दर्शनान्तरम्, मीमांसाशास्त्रमित्यर्थः । तत्र भवा रीतिः दर्शनान्तरीयरीतिः, तया दर्शनान्तरीयरीत्या ।।

[2] तुल्यो योगक्षेमोऽर्थप्रतिपादकत्वं यस्येत्यर्थः ।।

[3] 'पाकं करोतीति' इति पाठः क्वचिन्नोपलभ्यते ।।

[4] 'न' इति क्वचिन्नोपलभ्यते ।।

भी कर्त्ता व कर्म के वाचक सिद्ध न हो सकेंगे। क्योंकि 'कर्तरि कृत्' (३.४.६७) सूत्र वाले 'कर्त्तरि' पद की ही 'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः' (३.४.६९) सूत्र में अनुवृत्ति आ रही है अतः दोनों स्थानों पर 'कर्तरि' पद का एक समान अर्थ करना ही उचित होगा।

तब हम मीमांसकों से यह भी पूछेंगे कि जैसे वे कृत्प्रत्ययों को कर्त्ता व कर्म का वाचक मान कर भावना का ऊपर से आक्षेप मानते हैं वैसे वे तिङों में भी क्यों नहीं मानते ? यदि वे कहें कि हम भावना की प्रधानता के कारण आख्यात-प्रत्ययों को कृत्प्रत्ययों की तरह नहीं मान सकते तो हम उन से यह निवेदन करेंगे कि आपको इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। आप तो जाति में शक्ति मानते हैं और व्यक्ति का ऊपर से आक्षेप या अध्याहार किया करते हैं। तब जैसे आप 'घटमानय' में आक्षिप्त व्यक्ति की भी प्रधानता मान लेते हैं वैसे यहाँ तिङों में भी आप आक्षिप्त भावना की प्रधानता मान सकते हैं।

यदि मीमांसक यह कहें कि 'पचति' का विवरण 'पाकं करोति' इस प्रकार किया जाता है। इसमें 'पाकम्' तो धातु के अर्थ फल को द्योतित करता है और 'करोति' से ति-प्रत्यय के अर्थ भावना को व्यक्त किया जाता है। अतः हमें इस विवरण को देखते हुए तिङों का कर्त्तादि अर्थ न मानकर भावना अर्थ ही मानना पड़ता है—तो इस पर हमारा उनके आगे यह निवेदन होगा कि 'पचति' का उपर्युक्त भावनाप्रधान विवरण जो आपने प्रस्तुत किया है उस से विपरीत कर्तृ प्रधान विवरण भी तो देखा जाता है। अतः दोनों प्रकार के विवरण उपलब्ध होने से इन विवरणों से हम किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सकते।

यदि मीमांसक यह कहें कि 'पचति' का कर्तृ प्रधान विवरण तो असल विवरण नहीं, वह तो केवल तात्पर्य को बतलाने वाला विवरण है। जैसे 'पाकं करोति' में फल के विवरण 'पाकम्' में कर्म विभक्ति लगा कर किया जाता है हालांकि धात्वर्थ में कर्म का नामोनिशान नहीं। अथवा जैसे इतरेतरद्वन्द्वसमास में दो चकारों के द्वारा समुच्चय का विवरण प्रस्तुत किया जाता है हालांकि समास में समुच्चय का किसी शब्दद्वारा उल्लेख नहीं। इसी प्रकार यहां कर्तृ प्रधान विवरण भी शब्दानुसारी विवरण नहीं अपितु तात्पर्यानुसारी विवरण है। तो इस पर हमारा यह निवेदन होगा कि हम भी उन

के भावनाप्रधान विवरण को तात्पर्यानुसारी और अपने कर्तृपरक विवरण को शब्दानुसारी कह सकते हैं। अतः दोनों विवरणों में एक समान दोष पाया जाता है, इसलिए विवरणों से आप किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सकते[1] ॥

वक्तव्य—मीमांसक लोग पच् आदि धातुओं का केवल विक्लिति आदि फल अर्थ ही मानते हैं। उनके मत में लकारों का विधान भावना अर्थात् व्यापार अर्थ में किया जाता है। पीछे कहा गया था कि '**अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः**' इस न्याय के अनुसार जब धातु का फल और व्यापार अर्थ है तब उस व्यापार अर्थ को तिङ् का वाच्य मानने में कुछ औचित्य नहीं। इस पर यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि मीमांसकों के मत में तो धातु का केवल फल अर्थ ही हुआ करता है, व्यापार का वाचक वे लोग तिङों को मानते हैं। इस प्रकार इस मत को व्यापार अर्थ पूर्वतः लब्ध नहीं, अतः '**अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः**' के साथ किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता। इसलिए क्यों न हम मीमांसकों के अनुसार लकारों का भावना (व्यापार) अर्थ ही मान लें[2]। इस पर वैयाकरणों का यह उत्तर है कि तब तो मीमांसकों के मत में कृत्प्रत्यय भी कर्त्ता व कर्म के वाचक न हो सकेंगे। क्योंकि जैसे 'लः कर्मणि च०' (३.४.६९) सूत्र में भावप्रधाननिर्देश मान कर 'कर्तृ' का अर्थ कर्तृत्व=भावना, तथा कर्म का अर्थ कर्मत्व=फल मानेंगे वैसे

---

[1] इसीलिये कहा है कि—

"यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥"

अर्थात् जहाँ दोनों पक्षों में समान दोष हो और परिहार भी समान हो, ऐसे अर्थ के विचार करते समय किसी एक पक्ष पर दोषारोपण नहीं करना चाहिये ॥

[2] तब मीमांसक-मत में कर्मणि-लकार का क्या होगा ? क्योंकि 'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः' (३.४.६९) सूत्र में भावप्रधान निर्देश मानने से 'कर्मणि' का अर्थ होगा—कर्मत्वे अर्थात् फल में लकार होते हैं। वहां पर फल अर्थ तो धातुलब्ध है ही अतः उस अर्थ में पुनः लकार विधान करने से '**अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः**' के साथ विरोध वैसे ही रहेगा। इस ओर ग्रन्थकार ने ध्यान नहीं दिया। शायद मीमांसकमत में दोष दिखाने की उत्कटता के कारण ऐसा हुआ है ॥

'कर्तरि कृत्' (३.४.६७) में भी 'कर्तृ' का अर्थ मानना पड़ेगा। इस प्रकार मीमांसकों के मत में कृत्प्रत्यय भी भावना अर्थ में होने लगेंगे जो उन के मत में अनिष्ट हैं। ध्यान रहे कि मीमांसक तिङों को तो कर्त्ता व कर्म का वाचक नहीं मानते परन्तु कृत्प्रत्ययों को मानते हैं। यहां वैयाकरणों का मीमांसकों से स्पष्ट प्रश्न है कि आप एक जगह (कृत्प्रत्ययों में) तो 'कर्तरि' का अर्थ 'कर्त्ता में' और दूसरी जगह (तिङ्प्रत्ययों में) उसका अर्थ 'कर्तृत्व-भावना-व्यापार में' ऐसा क्यों कर रहे हैं? इसमें वैषम्य क्यों? यहां एक बात और भी उल्लेखनीय है कि 'कर्त्तरि कृत्' (३.४.६७) सूत्र के 'कर्त्तरि' पद की ही 'लः कर्मणि च भावे०' (३.४.६९) सूत्र में अनुवृत्ति आ रही है अतः दोनों स्थानों पर अभिन्न एक ही 'कर्तरि' पद का दो प्रकार का व्याख्यान विचारचारु कोटि में नहीं आता।

इसका उत्तर मीमांसक यह देते हैं कि 'पक्ता देवदत्तः' (पच्+तृच्, पकाने वाला देवदत्त) इत्यादि कृत्प्रत्ययों के प्रयोग में कर्त्ता की प्रधानता स्पष्ट प्रतीयमान होने से हम 'कर्त्तरि कृत्' (३.४.६७) में भावप्रधाननिर्देश न मानकर धर्मिप्रधान निर्देश स्वीकार करके भावना का ऊपर से अध्याहार कर लेते हैं। यदि कृत्प्रत्ययों का भी तिङों की तरह भावना अर्थ में विधान मान कर कर्त्ता का ऊपर से आक्षेप स्वीकार करेंगे तो 'पक्ता देवदत्तः' आदियों में आक्षेपलब्ध कर्त्ता की प्रधानता उपपन्न न हो सकेगी क्योंकि आक्षिप्त अर्थ सदा अप्रधान रहते हैं कभी प्रधान नहीं बन पाते।

इस पर वैयाकरण मीमांसकों के आगे उनके अपने शास्त्र का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिसमें मीमांसक स्पष्ट आक्षिप्त अर्थ की प्रधानता स्वीकार किया करते हैं। मीमांसक-लोग जाति में ही शक्ति स्वीकार करते हैं द्रव्य में नहीं[1] उनके मतानुसार 'घट' पद घत्वजाति का ही वाचक है, द्रव्य या व्यक्ति का तो ऊपर से आक्षेप हुआ करता है। जब '**घटम् आनय**' कहा जायेगा तो "**घटत्वजातिम् आनय**" यह अर्थ प्रतीत होगा। परन्तु जाति का लाना-लेजाना बन नहीं सकता अतः अर्थ की उपपन्नता के लिए आक्षेप-द्वारा घटव्यक्ति का बोध माना जायेगा। अब यहाँ पर मीमांसक

---

[1] एक एक व्यक्ति में शक्ति मानने से गौरव होता है, जाति में शक्ति मानने से अत्यन्त लाघव है अतः मीमांसक प्रत्येक व्यक्ति में शक्ति न मान कर जाति में ही शक्ति स्वीकार करते हैं॥

के प्रति वैयाकरण कहता है कि '**घटमानय**' में तो आप आक्षेप-लब्ध घट-व्यक्ति की प्रधानता स्वीकार कर लेते हैं हालाँकि वाच्य अर्थ वहां घटत्व-जाति था, परन्तु यहाँ कृत्प्रत्ययों में आप को वैसा करने में आपत्ति हो रही है। जैसे आप '**घटमानय**' में निर्वाह कर लेते हैं वैसे यहां कृत्प्रत्ययों में भी आक्षिप्त अर्थ की प्रधानता स्वीकार कर निर्वाह कर लें। यदि एक स्थान पर आप को आपत्ति नहीं तो दूसरे स्थान पर भी नहीं होनी चाहिए। अतः आप के मत में कृत्प्रत्ययों के लिए '**कर्त्तरि**' पद को धर्मिप्रधान, और तिङों के लिए उसे भावप्रधान मानना अयुक्त ही है।

अब मीमांसक अपने पक्ष की पुष्टि दूसरे ढंग से करने का प्रयत्न करता है। उसका कथन है कि विवृति अर्थात् विवरण से भी शब्दों के अर्थ का निश्चय हुआ करता है। जैसा कि कहा है—

"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान--कोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥"

अर्थात् व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवचन, व्यवहार, वाक्यशेष, विवरण तथा प्रसिद्धपद की समीपता से शक्तिग्रह हुआ करता है—ऐसा वृद्ध लोग कहते हैं[1]। लोक में '**पचति**' का विवरण '**पाकं करोति**' किया जाता है।

---

[1] इनके संक्षिप्त उदाहरण यथा—

'**दाशरथिः**' पद का अर्थ '**दशरथ पुत्र**' है, यह बात व्याकरण से प्रतीत होती है—**दशरथस्यापत्यं दाशरथिः**, '**अत इञ्**' (४.१.९५)।

'**गौ के सदृश गवय होता है**' यह वाक्य सुन कर जंगल में गोसदृश व्यक्ति के देखने पर, पूर्ववाक्य के स्मरण द्वारा '**यह गवय है**' इस प्रकार का ज्ञान उपमान से होता है।

'**अमरा निर्जरा देवाः**' (अमरकोष स्वर्ग०) इत्यादि कोष से भी शक्तिग्रह होता है।

कहीं आप्त अर्थात् प्रामाणिक पुरुष के उपदेश से भी शक्तिग्रह होता है। जैसे किसी बालक से उसके पिता आदि ने कहा कि यह घोड़ा है तो बालक को '**घोड़ा**' पद की शक्ति गृहीत हो गई।

यहां 'पाकम्' यह अंश तो धातु के अर्थ फल को द्योतित करता है और 'करोति' यह अंश तिप्रत्ययद्वारा वाच्य भावना अर्थात् व्यापार को प्रकट करता है। इस प्रकार इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि धातु का अर्थ 'फल' तथा तिङों का अर्थ 'भावना' है अतः हम इस विवरण के अनुसार भावना में ही तिङ्प्रत्ययों का विधान स्वीकार करते हैं। इस पर मीमांसकों के प्रति वैयाकरण कहता है कि **'देवदत्तः पचति'** का विवरण लोक में **'देवदत्तैककर्तृका पचिक्रिया'** (एकत्वविशिष्ट देवदत्त कर्त्ता वाली पचन क्रिया) इस प्रकार कर्त्रर्थक भी देखा जाता है। अतः विवरणों को देख कर तिङों का वाच्य 'कर्त्ता' होता है या 'भावना' इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। वैयाकरणों के इस आक्षेप का प्रत्युत्तर देता हुआ मीमांसक कहता है कि मेरा विवरण तो शब्दानुसारी है परन्तु आपका विवरण केवल तात्पर्य को ही प्रकट करता है। विवरण, शब्दानुसारी और तात्पर्यानुसारी दोनों प्रकार के हो सकते हैं, लेकिन शब्दों के अर्थों का विवेचन शब्दानुसारी विवरणों से ही हुआ करता है तात्पर्यानुसारी विवरणों से नहीं। इसकेलिये मीमांसक दो दृष्टान्त उपस्थित करता है—

व्यवहार से भी शक्तिग्रह होता है जैसे बड़ों का व्यवहार देखकर बच्चों को शब्दों का अर्थ विदित हो जाता है। इसका सविस्तर उदाहरण **'साहित्य-दर्पण'** के द्वितीय परिच्छेद में चौथी कारिका पर देखें।

वाक्यशेष से शक्तिग्रह का उदाहरण— **'यवमयश्चरुर्भवति'** यहां यवशब्द से आर्यजाति के व्यवहारानुसार 'जौ' लेना चाहिये या म्लेच्छजाति के व्यवहारानुसार 'मालकंगनी' लेनी चाहिये, इस सन्देह में **'वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्रशातनम्। मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः'** इस पिछले वाक्य से 'जौ' ही लिये जाते हैं, क्योंकि वसन्त में वे ही फलते हैं।

विवृति अर्थात् विवरण से शक्तिग्रह के उदाहरणों की चर्चा ऊपर मूल में ही की गई हैं।

कहीं प्रसिद्ध पद की समीपता के कारण भी शक्तिग्रह हो जाता है यथा— **'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति'** यहां प्रसिद्धार्थक कमल पद की समीपता के कारण **'मधुकर'** का **'भ्रमर अर्थ है या शहद की मक्खी'**—यह सन्देह निवृत्त होकर भ्रमर अर्थ में ही उसकी शक्ति गृहीत हो जाती है॥

(१) पाकं करोति

यह 'पचति' का यद्यपि शब्दानुसारी विवरण है तथापि 'पाकम्' यहां कर्मविभक्ति के प्रयोग के विषय में यह तात्पर्यानुसारी हो गया है। क्योंकि विव्रियमाण 'पचति' में धातु+तिङ् विद्यमान है। धातु का अर्थ 'फल' तथा तिङ् का अर्थ 'भावना' (व्यापार) है। विव्रियमाण में फल को कर्म नहीं कहा गया, परन्तु विवरण में उसे कर्म कहा गया है। यह सब तात्पर्य के वशीभूत होकर किया गया है शब्दों के अनुसार नहीं। अतः विवरणगत इस कर्म के लिये विव्रियमाण में कर्मवाचक शब्द ढूंढा नहीं जा सकता।

(२) धवश्च खदिरश्च—धवखदिरौ।

'धवखदिरौ' यह विव्रियमाण है। इसका विवरण है-'धवश्च खदिरश्च'। इस विवरण में दो चकार समुच्चय को द्योतित करने के लिये लगाये गये हैं। परन्तु विव्रियमाण में समुच्चय अर्थ का वाचक कोई शब्द नहीं है। यहां दो चकार तात्पर्य के वशीभूत हो कर लगाये गये हैं।

तदित्थं तात्पर्यानुसारी विवरणों के पीछे भाग कर शब्दों के अर्थों का निर्णय नहीं किया जा सकता। 'पचति' का **'एककर्तृका पचिक्रिया'** यह विवरण तात्पर्यानुसारी है शब्दानुसारी नहीं अतः हम इस विवरण को देख कर 'पचति' में तिङ् कर्त्ता का वाचक है यह स्वीकार नहीं कर सकते।

मीमांसकों के इस तर्क का वैयाकरण यह उत्तर देते हैं कि अमुक विवरण शब्दानुसारी है और अमुक तात्पर्यानुसारी इस में नियामक कुछ नहीं। किसी भी विवरण को कोई किसी भी प्रकार का कह सकता है। विवरण अपने अपने बोध के अनुसार हुआ करते हैं। हम आप के विवरण को तात्पर्यानुसारी और अपने विवरण को अर्थानुसारी मानते हैं। अतः विवरणों से तिङों के वाच्य का आपके अनुसार निर्णय नहीं किया जा सकता॥

अब वैयाकरण अन्य प्रकार से तिङों के कर्त्रादि वाच्य सिद्ध करते हैं—

भूषणसारः—

किञ्च 'पचति देवदत्तः' इत्यत्राऽभेदान्वयदर्शनात् तदनुरोधेन कर्त्तुर्वाच्यत्वमावश्यकम्, 'पक्ता देवदत्तः' इतिवत्। न चाऽभेद-

बोधे समानविभक्तिकत्वं नियामकम्, तच्चात्र[1] नास्तीति वाच्यम्, 'सोमेन यजेत' 'स्तोकं पचति' 'राजपुरुषः' इत्यादावप्यभेद-बोधाऽऽनापत्तेः ॥

एक बात और है–**'पचति देवदत्तः'** यहां दोनों पदों में अभेदान्वय देखा जाता है अतः इसके अनुरोध से तिङों का वाच्य कर्त्रादि मानना आवश्यक है, जैसे **'पक्ता देवदत्तः'** यहां कृदन्तस्थल में स्वीकार किया जाता है।

यदि आप यह कहें कि अभेदबोध के लिए दोनों पदों में समानविभक्ति का पाया जाना परमावश्यक है और वह यहां है नहीं तो कैसे अभेदबोध हो सकेगा ? तब इस पर हमारा यह उत्तर है कि यदि आप अभेदबोध में समानविभक्तिकत्व को ही ले बैठेंगे तो आप (मीमांसक) के मत में **'सोमेन यजेत' 'स्तोकं पचति' 'राजपुरुषः'** इत्यादियों में भी अभेदबोध उपपन्न न हो सकेगा। क्योंकि समानविभक्तिकत्व तो इनमें कहीं भी पाया नहीं जाता ॥

वक्तव्य—मीमांसकों के प्रति वैयाकरण पुनः तिङों का कर्त्रादिवाचक-त्व सिद्ध करते हैं। वैयाकरणों का कथन है कि 'पचति देवदत्तः' इस स्थान पर 'पचति' और 'देवदत्तः' में अभेदान्वय की प्रतीति सार्वजनीन है[2] अतः इस प्रतीति का अपलाप नहीं किया जा सकता। तब इस प्रतीति के अनु-रोध से 'पचति' का 'ति' प्रत्यय 'देवदत्तः' आदि कर्त्ता का वाचक मानना चाहिए न कि भावना का—यह स्पष्ट प्रतीत होता है। इस पर मीमांसक यह आक्षेप करते हैं कि अभेदान्वय तो उन पदोंमें माना जाता है जहाँ समान विभक्ति हो जैसे—**नीलो घटः, कृष्णः कम्बलः** आदि। यहाँ 'देवदत्तः पचति' में समानविभक्ति ही नहीं, पुनः अभेदान्वय का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इस पर वैयाकरण यह उत्तर देते हैं कि यदि आप समानविभक्ति के होने पर ही अभेदान्वय मानने लगेंगे तो आप के मत में **'सोमेन यजेत' 'स्तोकं पचति' 'राज-पुरुषः'** आदियों में भी अभेदान्वय न हो सकेगा। परन्तु आपके हां तो इनका अभेदान्वय प्रसिद्ध है ही। तथाहि—

---

[1] 'तच्च तत्र' इति पाठान्तरम् ॥

[2] 'देवदत्ताऽभिन्नैककर्तृको वर्तमानो विक्लित्यनुकूलो व्यापारः' इत्याकारकस्य शाब्दबोधस्यानुभवसिद्धत्वात् ॥

(१) **सोमेन यजेत ।**

यहां मीमांसा-शास्त्र के अनुसार 'यजेत' का अर्थ है—**'यागेन इष्टं भावयेत्'** (यागद्वारा स्वर्गादि इष्ट सिद्ध करे)। जब यहाँ 'इष्टम्भावयेत्' के प्रति 'याग' करण हो गया तो 'सोम' को करण कैसे मानें ? इसके लिए मीमांसकों ने 'सोम' में लक्षणा मान कर **'सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्'** इस प्रकार अभेद-बोध स्वीकार किया हुआ है। तो यहां समानविभक्तिकत्व कहां है ?

(२) **स्तोकं पचति ।**

यहां 'स्तोकम्' यह क्रिया-विशेषण है। क्रिया-विशेषण धातु के अर्थ फल को विशिष्ट किया करते हैं अतः उनकी कर्म-सञ्ज्ञा हो कर द्वितीया सिद्ध हो जाती है। इसमें मीमांसक भी सहमत हैं। तब यहां अभेद-बोध में क्रियाविशेषण और फल की समानविभक्तिकता कहां चली गई ?

(३) **राज-पुरुषः ।**

राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः। यहां षष्ठी-तत्पुरुषसमास में मीमांसकों के अनुसार 'राज्ञः'पद का लक्षणा द्वारा **'राजस्वत्ववान्'** (राजा के स्वत्व वाला, राजा की मल्कीयत) अर्थ है। इससे **'राज-स्वत्ववान् पुरुषः'** इस प्रकार अभेद-बोध उत्पन्न होता है। तब यहां समानविभक्तिकत्व कहां रहा ?

जैसे उपर्युक्त तीन स्थानों पर समान-विभक्ति के न होते हुए भी मीमांसक अभेद-बोध स्वीकार करते हैं वैसे **'पचति देवदत्तः'** में विभक्ति के समान न होने पर भी उन को अभेद-बोध मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। तब इस अभेद-बोध की प्रतीति के लिए उनको तिङों के कर्त्ता आदि अर्थ स्वीकार करने ही पड़ेंगे ॥

भूषणसारः—

न च लक्षणया कर्त्तुरुक्तत्वात् सामानाधिकरण्यम्, पिङ्गाक्ष्यादि-यौगिकानामपि द्रव्यवाचित्वाऽनापत्तेः । एवं 'वैश्वदेवी'त्यादि-तद्धितानामपि[1] । 'अनेकमन्यपदार्थे' (२.२.२४) 'साऽस्य देवता' (४.२.२३) इत्यनुशासनेन, 'पिङ्गे अक्षिणी यस्याः' 'विश्वे देवा'

---

[1] 'तद्धितान्तानामपि' इति पाठान्तरम् ॥

देवता अस्याः' इति विग्रह-दर्शनात् प्रधान-षष्ठ्यर्थे एवाऽनुशासन-लाभात् । तथा च "अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति" इति वाक्ये द्रव्याऽनुक्तेरारुण्यस्य स्व-वाक्योपात्तद्रव्ये एवाऽन्वय-प्रतिपादकाऽरुणाधिकरणोच्छेदाऽऽपत्तिः । द्रव्यवाचकत्व-साधक-मूल-युक्तेः सामानाधिकरण्यस्योक्तरीत्यो[1]पपत्तेरिति प्रपञ्चितं विस्तरेण वैयाकरण-भूषणे[2] ॥

यदि कहो कि '**पचति देवदत्तः**' इत्यादियों में लक्षणा के द्वारा कर्त्ता आदि की कल्पना कर सामानाधिकरण्य[3] के उत्पन्न हो जाने से अभेद बोध उपपन्न हो जायेगा तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि तब पिङ्गाक्षी आदि यौगिक तथा वैश्वदेवी आदि तद्धितान्त शब्द भी द्रव्य के वाचक नहीं हो सकेंगे। कारण कि '**अनेकमन्यपदार्थे**' (२.२.२४) तथा '**साऽस्य देवता**' (४.२.२३) ये दोनों पाणिनीय-सूत्र '**पिङ्गे अक्षिणी यस्याः**' तथा '**विश्वे देवा देवता अस्याः**' इस प्रकार के विग्रह में प्रधानषष्ठ्यर्थ अर्थात् सम्बन्धमात्र में ही व्यापृत होते हैं। इस प्रकार यदि 'पिङ्गाक्षी' आदि द्रव्यवाचक नहीं रहते तो '**अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति**' इस वाक्य में 'अरुणया' पद में द्रव्य ग्रहण न होने से '**आरुण्य-गुण का स्ववाक्य में गृहीत द्रव्य के साथ ही अन्वय करना चाहिये**' इस बात का पोषक मीमांसा-शास्त्र के तृतीयाध्याय के प्रथम-पाद में प्रतिपादित सम्पूर्ण **अरुणाधिकरण** ही विच्छिन्न हो जाएगा। क्योंकि तब जिस सामानाधिकरण्य के बल पर आप पिङ्गाक्षी आदि शब्दों को द्रव्य-वाचक सिद्ध करते हैं, वह सामानाधिकरण्य तो लक्षणा से ही उपपन्न हो जाएगा। इस विषय का विस्तृत विवेचन '**वैयाकरण-भूषण**' ग्रन्थ में किया गया है विशेष-जिज्ञासु इसे वहीं देखें ॥

वक्तव्य—'**पचति देवदत्तः**' में सामानाधिकरण्य के कारण अभेदान्वय का दर्शन होता है। अतः इसके अनुरोध से 'पचति' में तिङ् को कर्त्ता का

---

[1] उक्तरीतिः—लक्षणारीतिः, तया ॥

[2] 'बृहद्वैयाकरण-भूषणे' इति पाठान्तरम् ॥

[3] दो पदों का एक ही अर्थ को कहना सामानाधिकरण्य कहलाता है। **समानम् अधिकरणं (वाच्यम्) ययोस्ते समानाधिकरणे पदे । तयोर्भावः—सामानाधिकरण्यम् । पदयोरेकार्थाभिधायित्वम् इत्यर्थः ॥**

वाचक मानना चाहिए—यह वैयाकरणों के द्वारा उद्भावित एक युक्ति थी। परन्तु तिङ् का भावना अर्थ मानने वाले मीमांसक इस प्रयत्न में थे कि तिङ् को कर्तृवाचक माने विना किसी तरह अभेदान्वय हो जाए। अब मीमांसकों को एक उपाय सूझता है, वे कहते हैं कि—'पचति देवदत्तः' में तिप्रत्यय तो भावना में ही हुआ है पर यहां लोकप्रसिद्ध अभेदान्वय की सिद्धि के लिए लक्षणाद्वारा कर्त्ता की कल्पना कर के सामानाधिकरण्य के उत्पन्न हो जाने से अभेदबोध की प्रतीति होने लगती है। इस प्रकार हमारे मत में कोई दोष नहीं आता।

इस समाधान को सुन कर मीमांसकों के सिद्धान्तों का सुविज्ञ वैयाकरण कहता कि यदि आप इस प्रकार लक्षणाद्वारा कल्पना कर सामानाधिकरण्य उपपन्न हो जाने से काम चलाने लगेंगे तो आपके शास्त्र का सम्पूर्ण **अरुणाधिकरण** (मीमांसादर्शन अ० ३, पाद १, अधिकरण ६, सूत्र १२) ही विच्छिन्न होकर व्यर्थ हो जाएगा। तब उसका कुछ भी प्रयोजन नहीं रहेगा। तथाहि—

पिङ्गाक्षी आदि यौगिक तथा वैश्वदेवी आदि तद्धितान्त शब्द द्रव्य-वाचक नहीं अपितु सम्बन्धवाचक हैं—यह पाणिनीय-सूत्रों से भली भांति सिद्ध होता है[1]। परन्तु मीमांसक **'पिङ्गाक्षी गौः, वैश्वदेवी आमिक्षा'**[2] इत्यादि प्रयोगों में सामानाधिकरण्य देखकर इनको द्रव्यवाचक मान लेते हैं। इसका स्पष्ट प्रमाण मीमांसादर्शन के अरुणाधिकरण में मिलता है। अरुणा-धिकरण का सार यह है—

---

[1] बहुव्रीहिसमास का विधायक-सूत्र है–**'अनेकमन्यपदार्थे'** (२.२.२४)। अन्य पद के अर्थ में वर्त्तमान अनेक सुबन्त विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं और वह समास बहुव्रीहि-सञ्ज्ञक होता है—यह इस सूत्र का अर्थ है। यहाँ **'अन्य पद के अर्थ में'** ऐसा कहा गया है। सुबन्त तिङन्त की पदसञ्ज्ञा है। पद में प्रत्ययार्थ प्रधान हुआ करता है अतः 'अन्यपद का अर्थ' इससे विभक्त्यर्थ की प्रधानता ही द्योतित होती है। **'पिङ्गे अक्षिणी यस्याः'** इत्यादि विग्रहों में षष्ठ्यर्थ देखा जाता है। षष्ठी का अर्थ है–सम्बन्ध। अतः यहाँ सम्बन्धार्थ में बहुव्रीहिसमास होता है ऐसा कहा गया है। **'वैश्वदेवी'** आदि तद्धितान्त शब्दों में तद्धितप्रत्यय के विधायक **'साऽस्य देवता'** आदि सूत्रों में भी ऐसा ही समझना चाहिए। **(श्री दुर्बलाचार्य के आधार पर)**॥

[2] **'वैश्वदेवी'** यदि द्रव्यवाचक नहीं रहेगा तो **'तप्ते पयसि दध्यानयति सा**

ज्योतिष्टोम-प्रकरण में एक श्रुति आती है–'**अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति**' अर्थात् अरुण, पीली आंखों वाली तथा एक वर्ष की आयु वाली गौ से सोम का क्रय करे। यहाँ 'अरुणया' पद के विषय में जिज्ञासा होती है कि इसे किसके साथ अन्वित किया जाए। मीमांसकों के मतानुसार 'अरुणा' शब्द केवल गुणवाची है गुणविशिष्ट द्रव्यवाची नहीं। जब यह गुणवाची है तो इससे क्रय सम्भव नहीं, क्योंकि किसी गुण से किसी वस्तु का क्रय नहीं हो सकता। क्रय तो वस्त्र हिरण्य आदि मूर्त्त द्रव्यों के द्वारा ही सम्भव होता है। जैसाकि कहा गया है—

> **"अमूर्त्तत्वाद् गुणो नैव क्रियां साधयितुं क्षमः।**
> **तस्मात् क्रीणातिना नास्य सम्भवत्येकवाक्यता ॥"**

अर्थात् गुण क्योंकि मूर्त्त नहीं होता अत: उससे कोई क्रिया सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए 'अरुणया क्रीणाति' यहाँ एकवाक्यता उपपन्न नहीं हो सकती। अब यहां पूर्वपक्षी का कहना है कि जब 'अरुणया' पद की 'क्रीणाति' के साथ एकवाक्यता नहीं बनती तो इस पद को वाक्य से पृथक् कर इसकी प्रकरण के साथ एकवाक्यता कर लेनी चाहिए। प्रकरण है ज्योतिष्टोमयज्ञ का। अत: ज्योतिष्टोम में चमस आदियों में आरुण्यधर्म मान लेना चाहिए। इस पर मीमांसक सिद्धान्ती इस का खण्डन करता है। सिद्धान्ती कहता है कि यद्यपि 'अरुणया' पद की 'क्रीणाति' के साथ एकवाक्यता सम्भव नहीं तथापि उस वाक्य में उपात्त (गृहीत) किसी पद के वाच्य द्रव्य के साथ मिल कर उसकी एकवाक्यता उपपन्न हो सकती है। यथा यहाँ 'पिङ्गाक्षी' और 'एकहायनी' पद पढ़े गए हैं, ये दोनों द्रव्य के वाचक हैं। वह द्रव्य 'गौ' है। अतः आरुण्यगुण भी उसी वाक्य में स्थित पदों के वाच्य द्रव्य (गौ) के साथ सम्बद्ध हो कर 'क्रीणाति' में करणतया अन्वित हो जाता है।

अब यहां वैयाकरणों द्वारा मीमांसकों से यह प्रश्न पूछा जाता है कि आप तो 'पचति देवदत्त:' में सामानाधिकरण्य को देखकर लक्षणाद्वारा कर्त्ता

वैश्वदेवी आमिक्षा वाजिभ्यो वाजनम्' इस वाक्य पर आधारित मीमांसादर्शन का सम्पूर्ण **बलाऽबलाधिकरण** (मीमांसादर्शन अ० ४,पाद १, सूत्र २२–२४ नवमाधिकरण) ही उच्छिन्न हो जायेगा। इसका विस्तृत विवेचन दर्पण आदि टीकाओं में देखना चाहिये। भूषणसार में वर्णित न होने से तथा विद्यार्थियों के लिये सामान्यत: उपयोगी न होने के कारण हम इसका विवेचन यहाँ नहीं कर रहे ॥

की कल्पना करने को कहते हैं, परन्तु यदि यह कार्य इतनी आसानी से सिद्ध हो सकता है, तो अरुणाधिकरण की क्या आवश्यकता ? वहाँ 'अरुणया' पद की 'क्रीणाति' के साथ एकवाक्यता सिद्ध करने के लिए ही अधिकरण की स्थापना की गई है। क्या वहाँ आप वाला उपाय नहीं हो सकता था ? अर्थात् 'अरुणया' पद का वाच्यार्थ आरुण्यगुण जब अन्वय में उपपन्न नहीं होता तब लक्षणा से उसके आश्रयभूत द्रव्य का ग्रहण करके क्या एकवाक्यता न हो जाती ? फिर उसके लिए नये अधिकरण बनाने का बखेड़ा क्यों किया गया ? किञ्च 'पिङ्गाक्षी' आदि बहुव्रीहिसमास वाले शब्द भी पाणिनीयानुशासन के अनुसार द्रव्यवाचक नहीं अपितु सम्बन्धवाचक हैं। आप **'पिङ्गाक्षी गौः'** इत्यादि प्रयोगों में सामानाधिकरण्य को देखकर ही उनको द्रव्यवाचक मान रहें हैं—तो हम आप से यह पूछते हैं कि वहां भी आप लक्षणा से द्रव्य की कल्पना कर सामानाधिकरण्य क्यों नहीं कर लेते ? ध्यान रहे कि यदि आपने वहां लक्षणा से द्रव्य की कल्पना कर ली तो 'अरुणया' का 'पिङ्गाक्ष्या' या 'एकहायन्या' पदों के वाच्य के साथ सम्बन्ध न हो सकेगा। क्योंकि वहाँ नियम तो यह स्थिर किया गया है कि **स्ववाक्योपात्तपद के वाच्य द्रव्य के साथ ही सम्बन्ध होना चाहिए**। तब 'पिङ्गाक्षी' आदि का वाच्यार्थ केवल सम्बन्ध ही होगा, द्रव्य अर्थ तो लक्ष्यार्थ रहेगा। उससे 'अरुणया' का सम्बन्ध न हो सकेगा। अतः सारे का सारा आपका अरुणाधिकरण ही उच्छिन्न हो जाएगा। इसलिए 'पचति देवदत्तः' में आप लक्षणा से कर्त्ता की कल्पना करके सामानाधिकरण्य उपपन्न नहीं कर सकते, इसके लिए तो आपको सीधा वैयाकरणमतानुसार तिङ्प्रत्ययों का वाच्य कर्त्ता आदि ही मानना पड़ेगा—**'नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** ॥

भूषणसारः—

तिङ् इति । बोधकतारूपा शक्तिस्तिङ्क्ष्वेव इत्यभिप्रेत्येदम् ॥

अर्थबोधक शक्ति तिङों में ही रहती है लकारों में नहीं अतः **'आश्रये तु तिङः स्मृताः'** में **'तिङः'** का ग्रहण किया गया है॥

वक्तव्य—कारिका में **'आश्रये तु तिङः स्मृताः'** कहा गया है। अर्थात् तिङ्प्रत्यय आश्रय के वाचक होते हैं। किसके आश्रय के ? प्रत्यासत्तिन्याय से फल और व्यापार के आश्रय के। फल का आश्रय कर्म तथा व्यापार का आश्रय कर्त्ता होता है। इस प्रकार तिङ् कर्म व कर्त्ता

के वाचक सिद्ध होते हैं। अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पाणिनि ने तो '**लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः**' (३.४.६९) सूत्र में लकारों को ही कर्त्ता व कर्म का वाचक माना है तिङों को नहीं, अतः सूत्र के साथ कारिका का विरोध आता है। इसका कौण्डभट्ट इस प्रकार समाधान प्रस्तुत करते हैं कि—वस्तुतः कर्त्ता व कर्म को बोध कराने की शक्ति तिङों में ही पाई जाती है। लोक में 'पचति, पच्यते' आदि के द्वारा ही कर्त्ता व कर्म का बोध होता है न कि 'पच्+लट्' के द्वारा। लकारों में तो यह शक्ति व्याकरण प्रक्रिया के अनुसार कल्पित की जाती है। यह तो व्याकरण का समझाने का अपना ढंग है। मूलशक्ति तो तिङों में ही है, उससे ही लोक में बोध उत्पन्न होता है। इसीलिए कारिकाकार ने '**आश्रये तु तिङः स्मृताः**' कहा है। सूत्र द्वारा लकारों में शक्ति मान कर भी आदेशों में उस शक्ति को स्थानिवद्भाव के कारण सङ्क्रान्त किया जाता है अतः तिङों में वह शक्ति आ जाती है। इस प्रकार सूत्र के साथ कारिका का कुछ विरोध नहीं॥

भूषण-सारः—

पदार्थं निरूप्य वाक्यार्थं निरूपयति—'फले' इत्यादि। विक्लित्यादि फलं प्रति। तिङर्थः=कर्तृ-कर्म-सङ्ख्या-कालाः। तत्र कर्तृ-कर्मणी फलव्यापारयोर्विशेषणे, सङ्ख्या कर्तृप्रत्यये कर्त्तरि, कर्मप्रत्यये कर्मणि, समानप्रत्ययोपात्तत्वात्॥

इस प्रकार पदों के अर्थ का निरूपण कर अब कारिकाकार वाक्यार्थ का निरूपण करते हुए '**फले प्रधानं व्यापारः**' इत्यादि वचन कहते हैं। '**फले प्रधानं व्यापारः**' अर्थात् विक्लिति आदि फल के प्रति व्यापार प्रधान होता है। '**तिङर्थस्तु विशेषणम्**' तिङ् के अर्थ सदा विशेषण होते हैं। तिङ् के चार अर्थ होते हैं (१) कर्त्ता, (२) कर्म, (३) सङ्ख्या, और (४) काल। इनमें से कर्त्ता अर्थ व्यापार का तथा कर्म अर्थ फल का विशेषण होता है। सङ्ख्या के विषय में यह समझना चाहिए कि जब तिङ् कर्त्रर्थ में प्रयुक्त होता है तब सङ्ख्या कर्त्ता की विशेषण होती है, जब तिङ् कर्म में प्रयुक्त होता है तब सङ्ख्या कर्म की विशेषण हुआ करती है। इसका कारण यह कि वे दोनों (सङ्ख्या+कर्त्ता, यद्वा सङ्ख्या+कर्म) एक ही प्रत्यय के द्वारा कहे गए होते हैं॥

वक्तव्य—जब तक पदों के अर्थ का ज्ञान न हो तब तक वाक्य के अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता । इस का कारण स्पष्ट है कि पदार्थज्ञान वाक्यार्थज्ञान में कारण हुआ करता है । तिङन्त पद धातु और तिङ् को मिला कर बना करते हैं अतः कारिका के पूर्वार्ध में तिङन्त पदों के वाच्यार्थ का वर्णन कर दिया गया है । अब पदार्थ-विवेचन के बाद वाक्य के अर्थ के विवेचन की बारी आती है । अतः कारिकाकार कारिका के उत्तरार्ध में वाक्यार्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं--'**फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम्**' । इस में व्याकरण के दो दार्शनिक सिद्धान्तों को गुम्फित किया गया है—

(१) फल के प्रति व्यापार प्रधान होता है ।

(२) तिङ् के अर्थ विशेषण ही होते हैं विशेष्य नहीं ।

पहले सिद्धान्त में व्यापार को प्रधान तथा फल को अप्रधान कहा गया है । दूसरे शब्दों में—व्यापार को विशेष्य तथा फल को विशेषण प्रतिपादित किया गया है । विशेष्य सदा प्रधान तथा विशेषण सदा अप्रधान हुआ करता है यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है । फल और व्यापार यद्यपि दोनों समुदितरूपेण धातु के अर्थ हुआ करते हैं तथापि फल को व्यापार का विशेषण मानना चाहिए । अतः फलानुकूल व्यापार ही धातु का अर्थ ठहरता है न कि इस से विपरीत व्यापारजन्य फल ।

दूसरे सिद्धान्त में तिङ् के अर्थों को विशेषण कहा गया है । तिङ् के अर्थ किस किस के प्रति विशेषण होते हैं—इसका विवेचन करने से पूर्व व्याख्याकार श्री कौण्डभट्ट तिङों के अर्थ गिनाते हैं । व्याकरण सिद्धान्त के अनुसार तिङों के चार अर्थ होते हैं—

(१) **कर्त्ता**, (२) **कर्म**, (३) **सङ्ख्या और**, (४) **काल** ।

इन चारों में कौन किसका विशेषण होता है इसका विवेचन करते हुए कहते हैं—

(क) कर्त्ता तो व्यापार का विशेषण होता है । यथा—'**देवदत्तः पचति**' में '**देवदत्तनिष्ठो विक्लित्यनुकूलव्यापारः**' इस प्रकार का बोध होता है । कैसा व्यापार ? इसका विशेषण है 'देवदत्तनिष्ठः' अर्थात् देवदत्त में रहने वाला व्यापार । इस प्रकार कर्त्ता विशेषण तथा व्यापार विशेष्य होता है ।

(ख) कर्म सदा फल का विशेषण होता है। **'तण्डुलाः पच्यन्ते'** यहां तिङ् कर्म में प्रयुक्त हुआ है, अतः तण्डुलरूप कर्म विक्लितिरूप फल का विशेषण है।**'तण्डुलनिष्ठं विक्लितिरूपं फलम्'** इस प्रकार के बोध में विक्लिति-रूप फल विशेष्य तथा तण्डुलरूप कर्म उसका विशेषण है।

(ग) तिङर्थ सङ्ख्या, कर्त्ता व कर्म किसी एक की विशेषण होती है। जब तिङ् कर्त्ता में किया जाता है तब सङ्ख्या कर्त्ता की विशेषण होती है। यथा—**बालः पचति, बालौ पचतः** इत्यादि में **'एकत्वविशिष्ट बालकर्तृकं पचनम्, द्वित्वविशिष्टबालकर्तृकं पचनम्'** इत्यादिप्रकारेण बोध होता है। जब तिङ् कर्म में किया जाता है तब सङ्ख्या कर्म की विशेषण होती है। यथा—**'तण्डुलाः पच्यन्ते'** यहां **'बहुत्वविशिष्टतण्डुलकर्मकं पचनम्'** यह बोध होता है।[1]

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जैसे सुबन्तों में सङ्ख्या का अन्वय प्रकृति के अर्थ के साथ हुआ करता है[2] वैसे यहां सङ्ख्या का अन्वय पास पड़े धातु के अर्थ (फल या व्यापार) के साथ क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर व्याख्याकार ने **'समानप्रत्ययोपात्तत्वात्'** द्वारा दिया है। अर्थात् जिस प्रत्यय के द्वारा कर्त्ता व कर्म कहे जा रहे हैं उसी प्रत्यय के द्वारा सङ्ख्या भी कही जाती है। इस प्रकार दोनों एक ही कोठरी में रहते हैं। यदि वे परस्पर अन्वित होते हैं तो यह कार्य धात्वर्थ में अन्वित होने की अपेक्षा सन्निहिततर है। धात्वर्थ में अन्वय करना तो इसकी अपेक्षा दूर है। अन्वय जितना निकट सम्भव हो सके उतना अच्छा होता है।

नैयायिकों के मत में तिङ्प्रत्ययों के कर्त्ता व कर्म अर्थ नहीं होते। वे तिङों का कृति अर्थ मानते हैं अतः उनके मत में सङ्ख्या को अन्वित करने के लिए प्रथमान्त पद की ओर देखना पड़ता है। इस प्रकार वैयाकरणमता-पेक्षया नैयायिकों के मत में महागौरव आता है। इसी प्रकार मीमांसक भी तिङ्प्रत्ययों का भावना अर्थ मानते तथा कर्त्ता व कर्म का ऊपर से आक्षेप करते हैं। तो उनके मत में भी आक्षिप्त अर्थ के साथ सङ्ख्या को अन्वित करना पड़ता है। अतः उन का मत भी गौरवदोषग्रस्त समझना चाहिए॥

---

[1] तिङर्थ काल के विषय में थोड़ा आगे चल कर विचार किया गया है॥

[2] **'रामः-रामौ-रामाः'** आदियों में **'सु-औ-जस्'** प्रत्ययों के द्वारा प्रतिपादित संख्या का, प्रकृति अर्थात् प्रातिपदिक के अर्थ के साथ ही अन्वय हुआ करता है॥

भूषणसार :—

तथा चाऽऽख्यातार्थ-सङ्ख्या-प्रकारक-बोधं प्रति आख्यात-जन्य-कर्तृ-कर्मोपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावः फलितः। नैयायिकादीनाम् आख्यातार्थ-सङ्ख्यायाः प्रथमान्तार्थ एवाऽन्वयाद् आख्यातार्थ-सङ्ख्या-प्रकारक-बोधे प्रथमान्त-पद-जन्योपस्थिति-र्हेतुरिति कार्यकारणभावो वाच्यः। सोऽपि 'चन्द्र इव मुखं दृश्यते' 'देवदत्तो भुक्त्वा व्रजति' इत्यादौ चन्द्र-क्त्वार्थयोराख्या-तार्थाऽनन्वयाद् इतराऽविशेषणत्व-घटित इत्यतिगौरवम्।

इदमपि कर्तृ-कर्मणोराख्यातार्थत्वे मानम् इति स्पष्टं बृहद्भूषणे[1]॥

इस प्रकार (वैयाकरणमत में) ऐसे बोध के प्रति जिसमें आख्यातार्थ सङ्ख्या विशेषण है—आख्यात से उत्पन्न होने वाली कर्त्ता व कर्म की उपस्थिति हेतु है, यह कार्यकारणभाव फलित होता है। परन्तु नैयायिकों के मत में आख्यातार्थ संख्या का प्रथमान्त के अर्थ में अन्वय हुआ करता है। अतः तदनुसारेण ऐसे बोध के प्रति जिसमें आख्यातार्थ सङ्ख्या विशेषण है—प्रथमान्तपद से उत्पन्न अर्थ की उपस्थिति कारण है, यह कार्यकारणभाव कहना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त नैयायिकों के मत में **'चन्द्र इव मुखं दृश्यते' 'देवदत्तो भुक्त्वा व्रजति'** इत्यादियों में चन्द्र तथा क्त्वार्थ प्रथमान्तों में तिङर्थ सङ्ख्या का अन्वय रोकने के लिए **'वह प्रथमान्त किसी दूसरे का विशेषण न हो'** यह भी लगाना पड़ेगा। इस प्रकार नैयायिकों के मत में वैयाकरणों के मत की अपेक्षा अतिगौरवदोष आता है।

किञ्च परमत में आने वाला यह गौरवदोष अथवा स्वमत में आने वाला यह लाघवगुण इस बात को सिद्ध करता है कि कर्त्ता व कर्म अर्थ तिङों का ही है। ग्रन्थकार ने इसका विस्तृत विवेचन **वैयाकरणभूषण (बृहद्-वैयाकरण-भूषण)** ग्रन्थ में किया है विशेषजिज्ञासु इसे वहीं देखें॥

---

[1] 'भूषणे' इति बहुत्र पाठ उपलभ्यते॥

वक्तव्य—वैयाकरणों के सिद्धान्तानुसार तिङ् के अर्थ संख्या का अन्वय उसी तिङ् के अर्थ कर्त्ता व कर्म के साथ हो जाता है—यह पीछे बताया जा चुका है। अब इस प्रघट्टक में भूषणकार यह बतलाने जा रहे हैं कि इससे विरुद्ध मानने वाले नैयायिकों के मत में अत्यन्त गौरव-दोष प्रसक्त होता है।

नैयायिकों के मत में तिङर्थ सङ्ख्या का अन्वय प्रथमान्तपद के अर्थ के साथ माना जाता है। यथा—'देवदत्तः पचति' यहां 'पचति' के तिङर्थ एकवचन का अन्वय प्रथमान्तपद 'देवदत्तः' के वाच्य के साथ होता है। 'बालौ पठतः' यहां 'पठतः' के तिङर्थ द्विवचन का अन्वय प्रथमान्तपद 'बालौ' के वाच्य के साथ होता है। 'ग्रन्थो मया पठ्यते' यहां 'पठ्यते' के तिङर्थ एकवचन का अन्वय प्रथमान्तपद 'ग्रन्थः' के वाच्य के साथ होता है। इस प्रकार नैयायिकों को तिङ्गत सङ्ख्या का अन्वय करने के लिए बाह्य प्रथमान्तपद का आश्रय करना पड़ता है। परन्तु वैयाकरण क्योंकि तिङ् का एक अर्थ कर्त्ता व कर्म भी मानते हैं अतः तिङर्थ सङ्ख्या का अन्वय उसी तिङर्थ कर्त्ता व कर्म के साथ कर लेते हैं। अर्थात् एक ही प्रत्यय के दो अर्थ परस्पर अन्वित हो जाते हैं कहीं दूर जाना नहीं पड़ता। अब यदि शाब्द-बोध में कार्यकारणभाव का विचार करते हैं तो नैयायिक और वैयाकरण दोनों के मत में तिङर्थ संख्या, कर्त्ता व कर्म की विशेषण बनती है। और जो बोध उससे उत्पन्न होता है वह तिङर्थसङ्ख्याप्रकारक बोध [तिङ् की अर्थ जो सङ्ख्या, वह है प्रकार अर्थात् विशेषण जिसमें ऐसा बोध]कहलायेगा। इस बोध को यदि कार्य मानें तो इसका कारण वैयाकरणमत में उसी प्रत्यय से उत्पन्न होने वाली कर्त्ता व कर्म की उपस्थिति मानी जायेगी, किसी बाह्य पद की उपस्थिति का आश्रय नहीं लिया जाएगा। दूसरे शब्दों में—उस बोधरूप कार्य का कारण स्वयमेव वहीं फलित हो जाएगा,कहीं दूर जाना नहीं पड़ेगा। परन्तु नैयायिकों के मत में ऐसे बोध का कारण बाह्य प्रथमान्त पद के अर्थ की उपस्थिति ही कही जाएगी। इस प्रकार वैयाकरणों का कार्यकारणभाव जहां स्वतः ही फलित होगा वहां नैयायिकों का कार्य-कारणभाव बतलाना पड़ेगा। अतः नैयायिकों का मत गौरवग्रस्त ठहरेगा।

इसके अतिरिक्त नैयायिकों को अपने मत में उत्पन्न हुए एक महान् दोष के परिहार का भी यत्न करना पड़ेगा। तथाहि—

नैयायिक कहते हैं कि हम सङ्ख्या का अन्वय उसी वाक्यगत प्रथमान्तपद के अर्थ के साथ करते हैं। तो हम उनसे पूछते हैं कि तब आप '**चन्द्र इव मुखं दृश्यते**' यहां 'दृश्यते' की तिङ्गत सङ्ख्या का अन्वय केवल 'मुखम्' के साथ ही क्यों करते हैं, 'चन्द्रः' इसके साथ भी क्यों नहीं करते[१] ? यह भी तो उसी वाक्य में पठित प्रथमान्तपद है। इसी प्रकार '**देवदत्तो भुक्त्वा व्रजति**' में 'व्रजति' की तिङ्गत संख्या का अन्वय केवल 'देवदत्तः' के साथ ही क्यों करते हैं, 'भुक्त्वा' के साथ भी क्यों नहीं कर लेते ? यह भी उसी वाक्य में पठित प्रथमान्त पद है[२]। अतः इन दोषों से बचने के लिए नैयायिकों को यह कहना पड़ेगा कि—हम तिङर्थ संख्या का अन्वय उस प्रथमान्त पद के अर्थ के साथ करेंगे जो किसी अन्य का विशेषण न होगा। '**चन्द्र इव मुखं दृश्यते**' में 'चन्द्रः' यद्यपि प्रथमान्तपद है परन्तु वह 'इव' के अर्थ

---

[१] ध्यान रहे कि यदि यहां 'चन्द्रः' के साथ तिङर्थ सङ्ख्या का अन्वय होता तो '**चन्द्र इव मुखे दृश्येते**' यहां द्विवचन न हो सकता ॥

[२] 'भुज्' धातु से '**समान-कर्तृकयोः पूर्व-काले**' (३.४.२१) सूत्र द्वारा क्त्वाप्रत्यय करने पर 'भुक्त्वा' रूप सिद्ध होता है। क्त्वाप्रत्यय यद्यपि कृत् होने के कारण '**कर्त्तरि कृत्**' (३.४.६७) से कर्त्ता में प्राप्त था तथापि '**अव्ययकृतो भावे**' इस वार्त्तिक के बल से वह भाव में ही होता है। यहां यह नहीं भूलना चाहिये कि क्त्वाप्रत्यय वाला भाव सदा असत्त्वभूत ही रहता है अतः इसमें 'पाकः, पाकौ, पाकाः' की तरह विभक्ति-वचन नहीं लगते। '**एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते**' इस भाष्य-वचन के अनुसार एकवचन का ही प्रयोग होता है और वह भी प्रथमोपस्थित होने से प्रथमा के एकवचन का ही। उसका भी '**अव्ययादाप्सुपः**' (२.४.८२) से लुक् हो जाता है।

अजी ! यदि आप 'भुक्त्वा' को भाववाचक मानोगे तो '**देवदत्तो भुक्त्वा व्रजति**' में 'देवदत्त' के साथ '**कर्तृकरणयोस्तृतीया**' (२.३.१८) से तृतीया प्राप्त होगी। यदि कहो कि तिङन्तक्रिया के द्वारा कर्त्ता के उक्त होने से तृतीया नहीं हो सकेगी तो यह उत्तर ठीक नहीं क्योंकि चाहे वह तिङन्त से उक्त है परन्तु भावार्थ भुज् धातु से तो वह कर्त्ता अनुक्त है ही। इसका समाधान यह है कि महाभाष्य में जैसे प्रधान तिङन्त क्रिया द्वारा कर्त्ता को उक्त स्वीकार किया गया है वैसे क्त्वान्तार्थक गौण क्रिया के कारण भी कर्त्ता का उक्त होना स्वीकार किया गया है अतः कोई दोष उत्पन्न नहीं होता ॥

सादृश्य का विशेषण है[1]। अतः उस के साथ अन्वय नहीं हो सकता। इसी प्रकार **'देवदत्तो भुक्त्वा व्रजति'** में 'भुक्त्वा' यद्यपि प्रथमान्तपद है तथापि वह व्रजन क्रिया का विशेषण है[2]। अतः उसके साथ अन्वय नहीं हो सकता इस प्रकार नैयायिकों को बहुत कुछ बखेड़ा करना पड़ेगा। परन्तु वैयाकरणों को ऐसा कुछ भी करना नहीं पड़ता क्योंकि उनके मत में कर्त्ता व कर्म भी उसी तिङ् के अर्थ होते हैं जिस तिङ् का संख्या अर्थ होती है।

अन्त में भूषणकार यह कहते हैं कि इससे[3] हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कर्त्ता व कर्म को तिङ् का ही अर्थ मानना उचित है,क्योंकि इसी मत में लाघव है। इसका विवेचन ग्रन्थकार ने **'बृहद्-वैयाकरण-भूषण'** में किया है, विशेष-जिज्ञासु इसे वहीं देख सकते हैं ॥

पीछे तिङ् के कर्त्ता, कर्म, संख्या और काल ये चार अर्थ बताए गए थे। पहले तीन अर्थों का विवेचन हो चुका है अब चौथे तिङर्थ काल के विषय में कहते हैं—

भूषणसारः—

कालस्तु व्यापारे विशेषणम्। तथाहि—'वर्त्तमाने लट्' (३.२.१२४) इत्यत्र अधिकाराद् धातोरिति लब्धम्। तच्च धात्वर्थं वदत् प्राधान्याद् व्यापारमेव ग्राहयतीति तत्रैव तदन्वयः। न च सङ्ख्यावत् कर्तृ-कर्मणोरेवाऽन्वयः शङ्क्यः, अतीतभावनाके कर्त्तरि 'पचति' इत्यापत्तेः, 'अपाक्षीत्' इत्यनापत्तेश्च। पाकाऽनारम्भदशायां कर्तृसत्त्वे 'पक्ष्यति' इत्यनापत्तेश्च। नाऽपि फले

---

[1] इसीलिये तो यहां **'चन्द्रनिरूपितसादृशवन्मुखं दृश्यते'** इस प्रकार का बोध होता है ॥

[2] **'भोजकर्तृकर्तृकं भोजनोत्तरकालिकं व्रजनम्'** [भुज् धातु का कर्त्ता जिसका कर्त्ता है ऐसा भोजनोत्तरकालवर्त्ती व्रजन] यह यहां बोध होता है ॥

[3] यहां 'इस' पद के दो अभिप्राय हो सकते हैं। (१) क्योंकि परमत में अतिगौरव आता है इससे। (२) क्योंकि स्वमत में अतिलाघव है इससे। दोनों प्रकार की व्याख्याओं से एक ही अभिप्राय सिद्ध होता है कोई अन्तर नहीं पड़ता ॥

तदन्वयः, फलानुत्पत्तिदशायां व्यापारसत्त्वे 'पचति' इत्यनापत्तेः, 'पक्ष्यति' इत्यापत्तेश्चेत्यवधेयम् । न चाऽऽमवात-जडीकृत-कलेवरस्य उत्थानानुकूल-यत्नसत्त्वाद् 'उत्तिष्ठति' इति प्रयोगाऽऽपत्तिः, परयत्नस्य अज्ञानाद् अप्रयोगात् । किञ्चिच्चेष्टादिनाऽवगतौ च 'अयम् उत्तिष्ठति, शक्त्यभावात् फलं तु न जायते' इति लोकप्रतीतेरिष्टत्वात् । एवं च[1] तिङर्थो विशेषणमेव, भावनैव प्रधानम् ॥

काल तो व्यापार में ही विशेषण बनकर अन्वित होता है। इसका कारण यह है कि '**वर्त्तमाने लट्**' (३.२.१२३) आदि सूत्रों में '**धातोः**' (३.१.९१) का अधिकार आ रहा है। धातु के अर्थ के यद्यपि फल और व्यापार दो भाग होते हैं तथापि उनमें व्यापारांश की प्रधानता के कारण उसका ग्रहण होता है और उनमें ही काल का अन्वय होता है । यदि कहो कि जैसे संख्या का कर्त्ता व कर्म में अन्वय होता है वैसे काल का भी कर्त्ता व कर्म में अन्वय होना चाहिए—तो यह ठीक नहीं। क्योंकि तब व्यापार को समाप्त कर चुके कर्त्ता में 'पचति' का प्रयोग करना पड़ेगा, 'अपाक्षीत्' का प्रयोग न कर सकेंगे। इसी प्रकार पाक को आरम्भ न करने की दशा में कर्त्ता के विद्यमान रहते 'पक्ष्यति' का प्रयोग भी न कर सकेंगे।

फल में भी काल का अन्वय नहीं होता। क्योंकि तब फल के पैदा न होने की दशा में व्यापार के होते हुए 'पचति' का प्रयोग न कर सकेंगे, 'पक्ष्यति' का ही प्रयोग करना पड़ेगा।

यदि कहो कि व्यापार के साथ काल का अन्वय करने पर—आमवातरोग से जब शरीर जड़ हो जाता है तब उत्थानानुकूल यत्न के होने से 'उत्तिष्ठति' का प्रयोग करना पड़ेगा। इसका समाधान यह है कि दूसरे के यत्न का हमें ज्ञान नहीं होता अतः 'उत्तिष्ठति' का प्रयोग न होगा। हां ! यदि उसकी चेष्टा आदियों से हमें ज्ञात हो रहा होगा तब तो लोक में कहा ही जायेगा कि—'**अयम् उत्तिष्ठति शक्त्यभावात् फलं तु न जायते**' अर्थात् यह उठ रहा है परन्तु शक्ति के न होने से उत्थान-फल नहीं हो रहा।

[1] एवं च—पूर्वोक्तयुक्तीनाम् अवश्याऽङ्गीकरणीयत्वे चेत्यर्थः ॥

इस प्रकार तिङ् के अर्थ विशेषण ही होते हैं। तिङन्तों में भावना की ही प्रधानता रहती है ॥

वक्तव्य—काल का व्यापार में ही अन्वय होता है—इसमें प्रमाण हैं पाणिनि के सूत्र 'वर्त्तमाने लट्' (३.२.१२३) आदि । ये सूत्र 'धातोः' (३.१.९१) के अधिकार में पढ़े गये हैं अतः इन में 'धातोः' पद की अनुवृत्ति आती है। धातु के दो अंश होते हैं एक फल और दूसरा व्यापार। इन दोनों में भी '**फले प्रधानं व्यापारः**' के अनुसार व्यापार की ही प्रधानता होती है, फलांश तो व्यापार में विशेषण हुआ करता है—यह पीछे बताया जा चुका है। अतः काल का व्यापार में ही अन्वय होता है। इस प्रकार—'वर्त्तमान काल में स्थित जो व्यापार तद्वाची धातु से लट् हो' इत्यादि प्रकारेण सूत्रों का अर्थ होता है।

अब यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि जैसे तिङर्थ संख्या का अन्वय उसी प्रत्यय के बाच्य कर्त्ता व कर्म के साथ किया जाता है वैसे यहां भी क्यों न हो ? अर्थात् वर्त्तमानादि कालों में स्थित कर्त्ता व कर्म के होने पर लट् आदि हों—ऐसा अर्थ क्यों नहीं करते ? इसका उत्तर भूषणकार यह देते हैं कि लोकप्रतीति हमें ऐसा करने की आज्ञा नहीं देती। व्याकरण तो केवल लोकप्रतीति का ही अनुकरण करता है, लोकविरुद्ध मनमाने अर्थों को व्याकरण प्रस्तुत नहीं करता। लोक में ऐसा नहीं देखा जाता अतः हम वैसा नहीं कर सकते। इसके लिए भूषणकार ने दो महान् दोष दिखाए हैं—

(क) यदि वर्त्तमान आदि कालों का सम्बन्ध कर्त्ता आदि के साथ करेंगे तो जब कर्त्ता व्यापार को समाप्त कर चुका होगा तब भी हमें 'पचति' ही कहना पड़ेगा, 'अपाक्षीत्' न कह सकेंगे। क्योंकि जब तक कर्त्ता भूतकाल में स्थित न होगा हम भूतकाल का प्रयोग न कर सकेंगे, उसके वर्त्तमानकाल में स्थित होने से वर्त्तमानकाल का ही प्रयोग करते रहेंगे। परन्तु लोक में इसके विरुद्ध, व्यापार के शांत हो जाने पर 'अपाक्षीत्' आदि का प्रयोग किया जाता है 'पचति' आदि का नहीं।

(ख) लोक में यदि कर्त्ता ने व्यापार आरम्भ न किया हो, भविष्य में आरम्भ करने वाला हो तो उसके लिये 'पक्ष्यति' (पकायेगा) का प्रयोग किया जाता है। परन्तु यदि काल का कर्त्ता के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाएगा तब कर्त्ता तो वर्त्तमानकाल में है ही, चाहे उसने व्यापार आरम्भ नहीं किया तो हम 'पचति' ही कहते रहेंगे, 'पक्ष्यति' का प्रयोग न कर सकेंगे।

इससे भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि हमें व्यापार के वर्त्तमानादिकालों में स्थित होने पर ही लट् आदियों का प्रयोग करना चाहिए न कि कर्त्ता आदियों के।

इसी प्रकार हम फल के साथ भी काल का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते। क्योंकि यदि ऐसा करेंगे तो कर्त्ता के व्यापार में लगे होने पर भी जब तक विक्लिति आदि फल उत्पन्न नहीं हो जाता हम 'पचति' नहीं कह सकेंगे परन्तु लोक में तब भी 'पचति का प्रयोग किया जाता है।

इत्थं काल का सम्बन्ध केवल व्यापार के साथ ही होगा—यह सुतरां सिद्ध हो जाता है। परन्तु यहां व्यापार के साथ काल का अन्वय करने पर एक शङ्का उत्पन्न होती है—मान लो किसी को आमवातरोग हुआ २ है। उस रोग में रोगी के अंग निश्चेष्ट हो जाते हैं वह उठ बैठ नहीं सकता। अब यदि वह उठने के लिए यत्न रूप व्यापार करता है तो व्यापार के वर्त्तमान-काल में स्थित होने के कारण हमें वहां उसके बैठे रहने पर भी 'उत्तिष्ठति'का प्रयोग करना पड़ेगा। परन्तु लोक में ऐसा देखा नहीं जाता। इसका उत्तर भूषण-कार यह देते हैं कि व्यापार के साथ काल को अन्वित करने पर भी यहां दोष नहीं आ सकता। इसका कारण यह है कि हम दूसरे व्यक्ति के अन्दर के यत्नरूप व्यापार को प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, दूसरे की चेष्टा आदियों को देख कर ही हमें तदन्तर्गत व्यापार की प्रतीति होती है। अतः जब आमवातग्रस्त रोगी हिले-जुलेगा नहीं तो हमें उसके व्यापार का ज्ञान होगा नहीं, इसलिए 'उत्तिष्ठति' का प्रयोग नहीं करेंगे। हां ! यदि वह उठने के लिए कुछ हाथ-पैर मारेगा तो उसकी चेष्टाओं को देखकर हम कहेंगे ही—'**अयम् उत्तिष्ठति परं शक्त्यभावात् फलं नोत्पद्यते**' अर्थात् यह उठता तो है पर शक्ति के न होने से इससे उठा नहीं जाता।

इस प्रकार तिङ् के चारों अर्थ किसी न किसी के विशेषण ही होते हैं। तिङन्तस्थलों में भावना (व्यापार) की ही प्रधानता रहती है—यह पहले प्रतिपादित कर चुके हैं, आगे भी यथास्थान इस मत की पुष्टि की जाएगी॥

अजी यदि आप भावना को धातु का वाच्य तथा कर्त्ता आदि को तिङ् का वाच्य मानेंगे तो 'पचति' आदि में भावना की प्रधान ता नहीं मानी जा सकेगी। क्योंकि यह नियम है कि '**प्रकृति-प्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्**' अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय के अर्थों में प्रत्यय के अर्थ की

ही प्रधानता हुआ करती है। इस प्रकार 'पचति' में तिङ्प्रत्यय के अर्थ कर्ता आदि की ही प्रधानता माननी चाहिए न कि भावना की। इस शंका को निवृत्ति के लिए अग्रिम पंक्तियां लिखी गई हैं—

भूषणसारः—

यद्यपि प्रकृति-प्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम् अन्यत्र दृष्टं तथापि 'भाव-प्रधानम् आख्यातं, सत्त्व-प्रधानानि नामानि' (निरुक्ते, अ०१ खं०१) इति निरुक्ताद् भूवादिसूत्रादिस्थ-क्रिया-प्राधान्यबोधकभाष्याच्च धात्वर्थभावनाप्राधान्यम् अध्यवसीयते ॥

यद्यपि प्रकृति और प्रत्यय दोनों के अर्थों में प्रत्यय के अर्थ की ही प्रधानता दूसरी जगह (कृदन्तों और तद्धितान्तों में) देखी जाती है तथापि—"आख्यातों में भाव की ही प्रधानता होती है, नामों में द्रव्य की ही प्रधानता होती है" इस '**निरुक्त**' के कथन से तथा '**भूवादयो धातवः**' (१.३.१) आदि सूत्रों के महाभाष्य से यह निश्चय होता है कि तिङन्तों में धात्वर्थ भावना की ही प्रधानता होती है ॥

वक्तव्य—'कारकः (करने वाला), पाचकः (पकाने वाला)' इत्यादि कृदन्तों में तथा 'औपगवः (उपगु का पुत्र), दाशरथिः (दशरथ का पुत्र)' इत्यादि तद्धितान्तों में प्रकृत्यर्थ की प्रधानता नहीं देखी जाती अपितु प्रत्यय के अर्थ की ही प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। परन्तु इस नियम का तिङन्तों में संकोच समझना चाहिए। अर्थात् तिङन्तस्थलों में यह नियम प्रवृत नहीं होता, वे इस नियम के अपवादस्थल हैं। इसमें प्रमाण यास्क और पतञ्जलि के वचन हैं। यास्कजी अपने निरुक्त में लिखते हैं कि "**भावप्रधानम् आख्यातम्, सत्त्वप्रधानानि नामानि**" अर्थात् आख्यातों (तिङतों) में भाव अर्थात् क्रिया की प्रधानता होती है तथा नामों में सत्त्व अर्थात् द्रव्य की प्रधानता रहती है। निरुक्तकार के ये वचन किसी स्पष्टीकरण की अपेक्षा नहीं रखते। इनमें स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि तिङन्तों में क्रिया अर्थात् व्यापार की ही प्रधानता होती है। इसी प्रकार '**भूवादयो धातवः**' (१.३.१) सूत्र की व्याख्या करते समय भगवान् पतञ्जलि महाभाष्य में लिखते हैं—"**पच्यादयः**

क्रिया भवतिक्रियायाः कर्त्र्यो भवन्ति'' अर्थात् 'पचति भवति' (पचनक्रिया हो रही है) यहां भवतिक्रिया की पचतिक्रिया कर्त्ता है। तो यहां स्पष्ट पचति आदि को क्रिया कहा गया है। यदि 'पचति' आदि में प्रत्ययार्थ प्रधान होता तो इसे क्रिया नहीं कहा जा सकता था। इससे स्पष्ट होता है कि भाष्यकार तिङन्तों में प्रत्ययार्थ की प्रधानता नहीं मानते अपि तु प्रकृत्यर्थ का ही प्राधान्य स्वीकार करते हैं ॥

यदि तिङन्तस्थलों में नैयायिकों के अनुसार प्रत्ययार्थ की ही प्रधानता स्वीकार की जाये तो क्या दोष उत्पन्न होगा—इसका भूषणकार स्पष्टीकरण करते हैं—

भूषण-सारः—

अपि च आख्यातार्थ-प्राधान्ये तस्य देवदत्तादिभिः समम् अभेदाऽन्वयात् प्रथमान्तस्य [1] प्राधान्याऽऽपत्तिः । तथा च 'पश्य मृगो धावति' इत्यत्र भाष्यसिद्धैकवाक्यता न स्यात्, प्रथमान्तमृगस्य धावनक्रिया-विशेष्यस्य दृशिक्रियायां कर्मत्वाऽऽपत्तौ द्वितीयाऽऽपत्तेः । न चैवम् [2] अप्रथमासामानाधिकरण्यात् शतृ-प्रसङ्गः, एवमपि [3] द्वितीयाया दुर्वारत्वेन 'पश्य मृगः' इत्यादिवाक्यस्यैवाऽसम्भवाऽऽपत्तेः ॥

यदि तिङ्प्रत्यय के अर्थ की प्रधानता स्वीकार करेंगे तो उसका 'देवदत्तः' आदि कर्त्ताओं के साथ अभेदान्वय हो जाएगा। इससे आख्यातों में प्रथमान्तपद के अर्थ की ही प्रधानता माननी पड़ेगी। परन्तु वैसा मानने से '**पश्य मृगो धावति**' (देखो मृग दौड़ता है) यहां पर महाभाष्य में प्रतिपादित एकवाक्यता उपपन्न न हो सकेगी। किञ्च तब 'धावति' के विशेष्य 'मृग' में द्वितीया करनी पड़ेगी, क्योंकि वह दृश्क्रिया के प्रति कर्म होगा। यदि कोई कहे कि द्वितीया करने पर अप्रथमान्त के सामानाधिकरण्य में '**लटः शतृशानचावप्रथमा-समानाधिकरणे**' (३.२.१२४) सूत्र से शतृप्रत्यय का प्रसङ्ग

---

[1] प्रथमान्तार्थस्येत्यर्थः ॥

[2] एवम्——मृगशब्दाद् द्वितीयाऽऽपत्तावित्यर्थः ॥

[3] एवमपि——शतरि प्रवृत्तावपीत्यर्थः ॥

उपस्थित हो जायेगा, अतः 'तिङ् आदेश हो सके' इसलिए द्वितीया नहीं करेंगे तो यह समाधान सन्तोषप्रद नहीं होगा। क्योंकि चाहे तिङ् करें या शतृ, द्वितीयाविभक्ति को तो किसी भी अवस्था में रोका नहीं जा सकता । उल्टा 'पश्य मृगो धावति' यह सारा वाक्य ही विच्छिन्न हो जायेगा ।।

वक्तव्य—नैयायिक लोग 'पचति, पचतः, पचन्ति' आदि आख्यातों में भावना (व्यापार) की प्रधानता को नहीं मानते। वे इन स्थानों पर तिङ् का अर्थ कृति मानते हैं। कृति आश्रय के विना नहीं रह सकती अतः उस का अन्वय 'देवदत्तः' आदि प्रथमान्त कर्त्ताओं के साथ किया जाता है। इस प्रकार नैयायिकों के मत में 'पचति' आदि 'देवदत्तः' आदि कर्त्ताओं के विशेषण होते हैं। 'देवदत्तः' आदि कर्त्ता ही वहां विशेष्य होते हैं। अतएव उन नैयायिकों का बोध '**प्रथमान्तार्थ-मुख्य-विशेष्यक**' [प्रथमान्त पद का अर्थ जिसमें मुख्य विशेष्य है] कहलाता है । 'देवदत्तः पचति' इस वाक्य का नैयायिकमत में '**पाकानुकूल-वर्त्तमानकालिक-कृत्याश्रयो देवदत्तः**' [विक्लिति को पैदा करने वाली, वर्त्तमानकालिक जो कृति उसका आश्रय देवदत्त है] इस प्रकार का बोध माना जाता है। परन्तु वैयाकरण भावनाप्रधान बोध मानते हैं। उनके मत में तिङ्प्रत्यय यद्यपि कर्त्ता आदि अर्थों में होते हैं तथापि वहां 'भावना' (व्यापार) ही प्रधान होती है, तिङर्थ तो विशेषण ही होते हैं (तिङर्थस्तु विशेषणम्)। 'देवदत्तः पचति' से वैयाकरणों के मत में '**देवदत्ताकर्तृक-वर्त्तमानकालिक-पाकानुकूलो व्यापारः**' (देवदत्त जिसका कर्त्ता है ऐसी जो विक्लिति उसको उत्पन्न करने वाला वर्त्तमानकालिक व्यापार) ऐसा बोध स्वीकार किया जाता है ।

अब नैयायिकों के मत में दोष दिखाते हुए वैयाकरण कहते हैं कि यदि '**प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्**' इस की प्रवृत्ति तिङन्तों में भी मानोगे तो तब आप को **प्रथमान्तार्थ-मुख्यविशेष्यक** बोध मानना पड़ेगा। क्योंकि तब तिङ् के अर्थ कर्त्ता का 'देवदत्तः' आदि प्रथमान्तपदों के अर्थ के साथ अभेदान्वय मानना पड़ेगा। इससे 'पश्य मृगो धावति' (देखो मृग दौड़ता है) यहां वाक्यार्थ में दोष आएगा । इस स्थान पर महाभाष्य में एकवाक्यता मानी गई है। एकवाक्यता में मुख्य विशेष्य एक ही हुआ करता

है। अतः **'मृगकर्तृक-धावनानुकूल-व्यापार-कर्मक-त्वत्कर्तृक-दर्शनम्'**[1] इस प्रकार का बोध मानना आवश्यक है। यदि नैयायिकों के अनुसार प्रत्ययार्थ की प्रधानता मानते हैं तो एकवाक्यता नहीं बन सकती। **'मृगो धावति'** और **'पश्य'** दो वाक्य बन जायेंगे। क्योंकि वाक्य का लक्षण है **'एकतिङ् वाक्यम्'**(एक ही तिङ् जिसमें मुख्य हो उसे वाक्य कहते हैं)। **'मृगो धावति'** का बोध होगा—**'वर्त्तमानकालिक-धावनानुकूल-कृत्याश्रयो मृगः'** और दूसरे **'पश्य'** का बोध होगा— **'तत्कर्मकदर्शनाश्रयस्त्वम्'**। इस प्रकार पृथक् पृथक् विशेष्य होने से एकवाक्यता न हो सकेगी। यदि कहो कि **'धावनानुकूलव्यापाराश्रयमृगकर्मकदर्शनाश्रयस्त्वम्'** ऐसा बोध मानकर एकवाक्यता बन जायेगी तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि तब दृश् क्रिया के प्रति मृग की कर्म संज्ञा माननी पड़ेगी। यद्यपि 'मृग' धावनक्रिया के प्रति कर्त्ता होने से अभिहित है तथापि दृश्क्रिया के प्रति अनभिहित होने से इस अनभिहित कर्म में द्वितीया करनी पड़ेगी। नैयायिक यदि कहें कि 'मृग' में द्वितीया करने पर 'धावति' में लट् के स्थान पर तिङ् नहीं हो सकेगा क्योंकि तब **'लटः शतृ-शानचावप्रथमासमानाधिकरणे'** (३.२.१२४) सूत्र से शतृप्रत्यय का प्रसंग उत्पन्न हो जायेगा। तो इस पर उनके प्रति वैयाकरणों का यह उत्तर है कि चाहे तिङ् हो शतृ, दृश् धातु के कर्म'मृग' में अनभिहित होने के कारण द्वितीया तो होगी ही, उसे कोई रोक नहीं सकता। किञ्च तब द्वितीया होकर शतृप्रत्यय का प्रसङ्ग भी अवश्य होगा। इस प्रकार **'पश्य मृगो धावति'** यह सम्पूर्ण वाक्य ही विच्छिन्न हो जायेगा, इसकी उपपत्ति नैयायिकों के मत में नहीं हो सकेगी। अतः वैयाकरणों के सिद्धान्तानुसार **'धावति'** को भावना-प्रधान मानकर ही चलना होगा तब तिङन्तस्थलों में**'प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्,** इस नियम का संकोच मानना ही युक्त होगा।

विशेष स्पष्टीकरण—**'पश्य मृगो धावति'** (देखो मृग दौड़ता है) यहाँ यह विचारणीय है कि **'पश्य'** किस कर्म की ओर संकेत करता है? यदि **'पश्य'** का सम्बन्ध 'मृग' के साथ करें अर्थात् 'मृग को देखो' तो 'मृग' में द्वितीया विभक्ति आनी चाहिए प्रथमा नहीं। चाहे 'धावति' का 'मृग' कर्त्ता है परन्तु 'पश्य' का तो वह कर्म ही है, 'पश्य' का कर्त्ता **'त्वम्'** है। इस प्रकार 'पश्य' के अनभिहित कर्म 'मृग' में द्वितीया को कोई रोक नहीं

---

[1] 'मृग' कर्त्ता वाला धावनोत्पादक व्यापार जिसमें कर्म है ऐसा युष्मत्कर्तृक दर्शन ॥

सकता। परन्तु वैयाकरणों के मत में यह दोष प्रसक्त नहीं होता। वे 'पश्य' का कर्म 'मृग' को नहीं मानते किन्तु 'धावति' द्वारा प्रतिपादित व्यापार को मानते हैं। उनका कहना है कि मृग को देखने की बात यहां नहीं कही गई है अपितु मृगगत व्यापार=दौड़ने को देखने के लिए कहा गया है अतः 'पश्य' का कर्म 'मृग' नहीं अपितु 'धावति' है। 'धावति' को कर्म मानने पर भी द्वितीया नहीं हो सकती। क्योंकि प्रत्ययान्त होने के कारण '**अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्**' (१.२.४५) सूत्र से उसकी प्रातिपदिकसञ्ज्ञा नहीं हो सकती और विना प्रातिपदिकसञ्ज्ञा किये द्वितीया लाने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। लेकिन नैयायिक इसका उत्तर नहीं दे सकते, वे लोग 'धावति' को 'मृगः' का विशेषण स्वीकार करते है। उनके मत में 'मृगो धावति' का अर्थ है—'**धावनानुकूलकृतिमान् मृगः**'। इस प्रकार उनके मत में 'पश्य' का कर्म है 'मृग', तो यहाँ द्वितीया क्यों नहीं हुई? इस का कोई उत्तर उनके पास नहीं है। अतः उनके प्रति वैयाकरण कहता है कि तुम 'धावति' को 'मृग' का विशेषण मत मानो, नहीं तो द्वितीया करनी पड़ेगी। इससे बचने का एक मात्र उपाय यही कि तुम भी हमारी तरह 'धावति' को व्यापारप्रधान मानो अन्यथा द्वितीया से छूटने का तुम्हारे लिये कोई मार्ग नहीं है। और यदि 'धावति' को व्यापारप्रधान मानना है तो '**प्रकृति-प्रत्ययार्थयोः 'प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्**' इस नियम को तिङन्तस्थलों में प्रयुक्त नहीं करना पड़ेगा। तिङन्तों के अतिरिक्त कृदन्त आदियों में ही इस की प्रवृत्ति माननी उचित होगी॥

भूषणसारः—

न च 'पश्य' इत्यत्र 'तम्' इति कर्माऽध्याहार्यम् वाक्यभेदप्रसङ्गात्। उत्कट[1]-धावन-क्रिया-विशेषस्यैव दर्शनकर्मतयाऽन्वयस्य प्रतिपिपादयिषितत्वाद्[2] अध्याहारेऽनन्वयापत्तेश्च॥

---

[1] सृ गतौ (भ्वा० पर०) धातु के स्थान पर 'पा-घ्रा-ध्मा-स्था—' (७.३.७८) सूत्र से 'धौ' आदेश '**वेगितायां गतौ धावादेशमिच्छन्ति**' (काशिका) के अनुसार वेगपूर्ण गति में ही हुआ करता है अतः भूषणकार ने 'धावन' का विशेषण '**उत्कट**' शब्द लगाया है। यदि 'धावु गतिशुद्धयोः'(भ्वा०उभय०)का प्रयोग मानेंगे तो '**उत्कट**' विशेषण की आवश्यकता नहीं॥

[2] सन्नन्तात् प्रतिपादयतेः कर्मणि क्तप्रत्यये ततो भावे त्वप्रत्ययः। प्रतिपादयितुमिष्टत्वादित्यर्थः॥

यदि आप यह कहो कि हम '**पश्य मृगो धावति**' इस वाक्य में 'तम्' इस कर्म का अध्याहार कर 'मृग दौड़ता है उसे देखो' इस प्रकार अर्थ करेंगे इससे 'मृग' में द्वितीया की प्रसक्ति ही नहीं होगी—तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि तब दो वाक्य बन जाने से महाभाष्यसिद्ध एकवाक्यता नहीं रहेगी। किञ्च वक्ता को तेज दौड़नारूप क्रियाविशेष ही दर्शन का कर्म प्रतिपादन करना अभीष्ट होने से वह सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि तब धावनक्रिया दर्शन-क्रिया का कर्म बन कर अन्वित न होगी॥

वक्तव्य—नैयायिक '**पश्य मृगो धावति**' में द्वितीया-प्रसक्ति के दोष से बचने के लिए कहते हैं कि हम यहां 'तम्' कर्म का अध्याहार कर लेंगे। '**मृगो धावति तं पश्य**' (मृग दौड़ता है उसे देख) इस प्रकार 'पश्य' क्रिया का कर्म 'तम्' हो जायेगा 'मृग' नहीं अतः 'मृग' में द्वितीया की प्रसक्ति ही न होगी। इस पर वैयाकरण कहता है कि यदि आप 'तम्' पद का अध्याहार कर लेते हैं तो दो दोष प्रसक्त होंगे। तथाहि—

(१) एकवाक्यता न रहेगी।

महाभाष्य में इसे एकवाक्य माना गया है। एकवाक्य में मुख्य विशेष्य एक ही हुआ करता है। यहां 'मृगो धावति' में मुख्य विशेष्य होगा 'मृग' तथा 'तं पश्य' में होगा 'त्वम्', इस प्रकार नैयायिकमत में वाक्यभेद प्रसक्त होगा जो महाभाष्य के विरुद्ध है।

(२) वक्ता का अभीष्ट अन्वित न होगा।

वक्ता जो कहना चाहता है उस अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन न होगा। वक्ता कहना चाह रहा है '**मृग के दौड़ने को देख**' परन्तु नैयायिक बतला रहे हैं '**मृग को देख**' इस प्रकार धावन क्रिया का दर्शनक्रिया में अन्वय न होगा[1]॥

---

[1] इसके अतिरिक्त नैयायिकों के मत में यह भी दोष आता है कि कई स्थानों पर वे अध्याहार से भी काम नहीं चला सकेंगे। यथा—'**शृणु देवदत्तो गायति**' (सुनो देवदत्त गाता है) यहाँ 'तम्' का अध्याहार करने परभी उसका 'शृणु' के साथ अन्वय उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि सुना तो शब्द जाता है न कि देवदत्त॥

भूषणसारः—

एवञ्च [1] भावनाप्रकारकबोधे [2] प्रथमान्तपदजन्योपस्थितिः कारणम् इति नैयायिकोक्तं नाऽऽदरणीयम् । किन्तु आख्यातार्थकर्तृप्रकारकबोधे [3] धातुजन्योपस्थितिर्भावनात्वाऽवच्छिन्नविषयतया कारणम् इति कार्यकारणभावो द्रष्टव्यः ॥

इस प्रकार नैयायिकों का यह कथन कि 'भावनाप्रकारक बोध में प्रथमान्तपद से उत्पन्न होने वाले अर्थ की उपस्थिति कारण है' उचित नहीं समझा जा सकता । किन्तु आख्यातार्थ कर्त्ता जिस बोध में विशेषण होता है उस बोध के प्रति व्यापारत्वावच्छिन्न विषय वाली धातु के अर्थ भावना (व्यापार) की उपस्थिति ही कारण होती है ऐसा कार्यकारणभाव समझना उचित है ॥

वक्तव्य—अब संक्षेप में पूर्वोक्त चर्चा का सार बताते हुए श्रीकौण्डभट्ट बोध में कार्यकारणभाव की स्थापना करते हैं । नैयायिकों के मत में भावनाप्रकारक (भावना अर्थात् व्यापार जिसमें विशेषण होता है ऐसा) बोध होता है, क्योंकि प्रथमान्तपद का अर्थ विशेष्य रहता है—यह सब पीछे स्पष्ट कर चुके हैं । अतः उस बोध में प्रथमान्तपद से उत्पन्न होने वाले अर्थ की उपस्थिति ही कारण होती है ऐसा उनका मन्तव्य है । परन्तु पूर्वोक्त युक्तियों से इस मत का भली भाँति खण्डन किया गया है इसलिए उनका मत ग्राह्य नहीं । इधर वैयाकरणों का मत पूर्वोक्त युक्तियों से खरा उतरता है अतः उनका मत ही ग्राह्य है । संक्षेप में वैयाकरणों के अनुसार 'पचति'

---

[1] एवम्—नैयायिकमते भाष्यकारसम्मतैकवाक्यताऽनुपपत्तिरूपदूषणध्रौव्ये चेत्यर्थः ॥

[2] भावना प्रकारो विशेषणं यस्मिन् सोऽयम् भावनाप्रकारको बोधः, तस्मिन् । **'पाकानुकूल-वर्त्तमानकालिक-कृत्याश्रयो देवदत्तः'** इत्यादिनैयायिकसम्मते बोध इत्यर्थः ॥

[3] आख्यातस्य (तिङः) अर्थः कर्त्ता प्रकारो विशेषणं यस्मिन् सोऽयम् आख्यातार्थ-कर्तृ-प्रकारको बोधः, तस्मिन् । **'देवदत्तकर्तृक-वर्त्तमानकालिक - पाकानुकूल-व्यापारः'** इत्यादौ वैयाकरणसम्मतबोध इत्यर्थः ॥

आदि में **आख्यातार्थकर्तृप्रकारक बोध** होता है अर्थात् ऐसे बोध में आख्यात का अर्थ कर्त्ता विशेषण होता है। भावना ही ऐसे बोध में विशेष्य होती है। अतः धात्वर्थ भावना की उपस्थिति ही इस बोध में कारण होती है, क्योंकि यदि वह उपस्थित न होगी तो विशिष्ट किसे करेंगे। ध्यान रहे कि बोधदशा में फूत्कारत्वादि तत्तद्विशेषों से भासित होती हुई इस भावना की भी उपस्थिति कारण नहीं हुआ करती अपितु साधारणयता भावनात्व से प्रतीयमाना भावना की उपस्थिति ही कारण होती है [1]। एतदनुसार कोष्ठक यथा—

	कार्य	कारण
नैयायिकमते—	भावनाप्रकारकबोध	प्रथमान्तपद के अर्थ की उपस्थिति
वैयाकरणमते—	आख्यातार्थकर्तृप्रकारकबोध	धात्वर्थ भावना की उपस्थिति

ध्यान रहे कि यहां कार्य के भेद के कारण ही कारण में भेद उत्पन्न हो जाता है, अतः दोनों के मतभेद का मुख्य स्थान कार्य ही समझना चाहिए॥

भूषणसारः—

भावनाप्रकारकबोधं प्रति तु कृज्जन्योपस्थितिवद् धात्वर्थभा-

---

[1] यद्यप्यं व्यापारः फूत्कारत्वादितत्तद्विशेषरूपेण धातुवाच्यस्तथापि धातूनामनेकार्थत्वात् कदाचित् सामान्यरूपेणापि धातुवाच्यो भवति। अत एव वाक्यप्रदर्शनकाले **'विक्लित्यनुकूलो व्यापारः'** इति सामान्यरूपेण बोध उच्यते, न तु विक्लित्यनुकूलः फूत्कारादिरित्येवं विशेषरूपेण निर्दिश्यत इति संगच्छते। एवञ्च मूले भावनात्वावच्छिन्नविषतयेति यद् धातुजन्योपस्थितेर्विशेषणमुक्तं तद् धातुना कदाचिद् भावनात्वप्रकारकबोधो जन्यत इत्यभिप्रेत्य बोध्यम् इतिशङ्करशास्त्रिणः। **दर्पणादौ** तु फले व्यभिचारनिरासाय भावनात्वावच्छिन्नेत्युक्तम्॥

वनोपस्थितिरपि हेतुः, 'पश्य मृगो धावति' 'पचति भवति' इत्याद्यनुरोधाद् इति दिक्[1] ।।

परन्तु जैसे कृदन्तस्थलों में—जहां भावनाप्रकारक बोध हुआ करता है—कृत्प्रत्ययों से जन्य कर्त्ता आदि की उपस्थिति कारण होती है, वैसे कहीं कहीं भावनाप्रकारक आख्यातस्थलों में धात्वर्थ भावना की उपस्थिति भी कारण हुआ करती है। **'पश्य मृगो धावति' 'पचति भवति'** इत्यादि प्रयोगों के अनुरोध से वैयाकरणों को ऐसा अवश्य स्वीकार करना पड़ता है ।।

वक्तव्य—ऊपर नैयायिकों और वैयाकरणों के बोधविषयक जिस मत-भेद का प्रतिपादन किया गया था वह आख्यात अर्थात् तिङ्-विषयक ही था। कृदन्तों के विषय में तो दोनों के बोध में कोई अन्तर नहीं। 'पाचकः हारकः' आदि कृदन्तस्थलों में दोनों के मतानुसार भावनाप्रकारक बोध होता है। अर्थात् **'पाकानुकूलव्यापार वाला देवदत्त आदि'** अथवा **'पाकानुकूलकृति का आश्रय देवदत्त आदि'** इत्यादि बोध में भावना विशेषण, तथा देवदत्त आदि कर्त्ता विशेष्य होते हैं।

परन्तु श्रीकौण्डभट्ट का कहना है कि **'पश्य मृगो धावति' 'पचति भवति'** आदि कुछ विशिष्ट आख्यातस्थलीय वाक्यों के अनुरोध के कारण[2] वैयाकरणों को कहीं कहीं आख्यातस्थलों में भी कृदन्तस्थलों की तरह भावना-प्रकारक बोध मानना पड़ता है। ऐसे बोध में—कृदन्तस्थलों में कर्त्ता आदि की उपस्थिति की तरह—धात्वर्थभावना की उपस्थिति भी कारण हुआ करतो है। तात्पर्य यह है कि **'पश्य मृगो धावति' 'पचति भवति'** इत्यादि वाक्यों के बोध में विशेष्य और विशेषण दोनों रूपों में भावना की ही उपस्थिति हुआ करती है। परन्तु इतना विशेष है कि विशेषण बनने वाली भावना अन्य धातु का अर्थ होती है और विशेष्य बनने वाली भावना किसी दूसरी धातु का। यथा—**'पश्य मृगो धावति'** में **'मृगकर्तृक-धावन-**

[1] इहत्यो दिगर्थस्तु विशेषं जिज्ञासमानै**र्दर्पणादौ** अवसेयः । विस्तरभयाद् विद्यार्थिनां कृत उपयोगाल्पत्वाच्चेहास्माभिरुपेक्षितः ।।

[2] अनुरोध का कारण भाष्यसम्मत एकवाक्यता ही है—यह पीछे स्पष्ट कर चुके हैं ।।

कर्मक-त्वत्कर्तृक-दर्शन' ऐसा बोध वैयाकरणों को अभीष्ट है। इस बोध में धाव्धातुवाच्या भावना विशेषण है और दृश्धातुवाच्या भावना विशेष्य है। इसी प्रकार '**पचति भवति**' (पाक होता है) में '**पाककर्तृक भावना**' ऐसा बोध होता है। इसमें पच्धातुवाच्या भावना विशेषण तथा भूधातुवाच्या भावना विशेष्य है। यद्यपि आख्यातस्थलों में वैयाकरणों को भावनाप्रधान बोध होता है और उसमें देवदत्त आदि कर्तृसुबन्तों के अर्थ की उपस्थिति ही विशेषण होती है तथापि '**पश्य मृगो धावति**' आदि एकवाक्यतापन्न कुछ वाक्यों के अनुरोध पर भावनाप्रधान बोध में सुबन्तार्थों की तरह धातुवाच्या भावना की उपस्थिति भी विशेषण हुआ करती है[1]। अतएव महाभाष्य में कहा है—"**पचयादयः क्रिया भवतिक्रियायाः कर्त्र्यो भवन्ति**" (१.३.१ सूत्र के भाष्य में)॥

भूषणसारः—

इत्थञ्च[2] 'पचति' इत्यत्र एकाश्रयिका पाकानुकूला भावना, 'पच्यते' इत्यत्र एकाश्रयिका या विक्लितिस्तदनुकूला भावनेति बोधः। देवदत्तादि-पद-प्रयोगे तु आख्यातार्थ-कर्त्रादिभिस्तदर्थ-स्याऽभेदान्वयः॥

इस प्रकार '**पचति**' में '**एक आश्रय वाली पाकोत्पादिका भावना**' यह बोध होता है। '**पच्यते**' में '**एक आश्रय वाली जो विक्लित्ति उसको पैदा करने वाली भावना**' यह बोध होता है। जब 'देवदत्तः' आदि पदों का प्रयोग किया जाता है तब उन पदों का आख्यात के अर्थ कर्त्ता आदि के साथ अभेद हो कर अन्वय हो जाता है॥

वक्तव्य—उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि 'पचति' 'पच्यते' आदि तिङन्तों में संख्या का अन्वय आख्यातार्थ कर्त्ता व कर्म के

---

[1] "**सुबन्तं हि यथाऽनेकं तिङन्तस्य विशेषणम्।**
तथा तिङन्तमप्याहुस्तिङन्तस्य विशेषणम्॥ [परमलघु-मञ्जूषा]

[2] इत्थम्—प्रत्ययार्थस्य कर्त्रादेर्धात्वर्थं प्रति विशेषणत्वे प्रत्ययार्थसंख्यायाःप्रत्यार्थकर्त्रादिविशेषणत्वे चेत्यर्थः। अथवा—आख्यातार्थकर्तृप्रकारकबोधे जननीये धात्वर्थभावनोपस्थितेः, आख्यातार्थकर्मप्रकारकबोधे जननीये धात्वर्थफलोपस्थिते-र्हेतुत्वे चेत्यर्थः॥

साथ करना है, किञ्च आख्यातपदों में भावना की ही प्रधानता माननी चाहिए। तब '**पचति**' से इस प्रकार का बोध उत्पन्न होगा—'**एकाश्रयिका पाकानुकूला भावना**' अर्थात् एकत्वविशिष्ट कर्तृरूप आश्रय में रहने वाली पाक (विक्लिति) को उत्पन्न करने वाली भावना (व्यापार)। यदि काल को भी बोध में सम्मिलित करेंगे तो—'**एकत्वविशिष्ट कर्तृरूप आश्रय में रहने वाली वर्त्तमानकालिका भावना**' ऐसा बोध होगा। '**पच्यते**' का बोध होगा—'**एकाश्रयिका या विक्लितिः, तदनुकूला भावना**' अर्थात् एकत्वविशिष्ट कर्मरूप आश्रय में रहने वाली जो विक्लिति उसे पैदा करने वाली भावना। यदि यहां पर काल को भी अन्वित करेंगे तो बोध होगा—**एकत्वविशिष्ट कर्मरूप आश्रय में रहने वाली जो विक्लिति, उसे उत्पन्न करने वाली वर्त्तमानकालिका भावना।**

ध्यान रहे कि यहां 'पच्यते' का बोध '**प्राचीन-वैयाकरणों**' के अनुसार वर्णन किया गया है। **नवीन वैयाकरण** आख्यातों के कर्तृवाच्य और भाववाच्य में तो भावनाप्रधान बोध मानते हैं परन्तु कर्मवाच्य में भावनाप्रधान बोध नहीं मानते। इसमें वे महाभाष्य का एक स्थल अपने पक्ष की पुष्टि में प्रमाणत्वेन उद्धृत किया करते हैं—

"अथेह क्यचा भवितव्यम् 'इष्टः पुत्रः' 'इष्यते पुत्रः'। —इहभवन्तस्तावदाहुः—न भवितव्यम् इति। किं कारणम्? यश्चेहाऽर्थो वाक्येन गम्यते 'इष्टः पुत्रः' 'इष्यते पुत्रः' इति नाऽसौ जातुचित् प्रत्ययान्तेन गम्यते[1] (३.१.८ पर)।

इसका भाव यह है कि 'सुप आत्मनः क्यच्' (३.१.८) सूत्र के 'पुत्रमात्मन इच्छतीति पुत्रीयति' इत्यादि उदाहरण हैं। परन्तु प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि 'पुत्र इष्यते' यहां कर्मवाच्य में क्यच्प्रत्यय करें या नहीं? इसका उत्तर भाष्यकार ने यह दिया है कि ऐसे स्थलों पर क्यच्प्रत्यय नहीं होगा क्योंकि अर्थ का भेद है। अब विचारणीय यह है कि '**पुत्रमिच्छति**' और '**पुत्र इष्यते**' में अर्थ का भेद कैसा? यदि दोनों स्थानों पर भावना प्रधान होती

---

[1] इस अंश की व्याख्या करते हुए '**उपाध्याय कैय्यट**' प्रदीप में इस प्रकार लिखते हैं —

"यदा क्रियाफलस्य कर्मणः प्राधान्यं प्रतिपिपादयिषति तदा वाक्यमेव प्रयुज्यते 'पुत्र इष्टः' इत्यादि, न तु क्यजन्तः॥"

तो भेद न होता, परन्तु भाष्यकार यहां भेद मान रहे हैं। अतः इससे स्पष्ट है कि कर्तृवाच्य में तो भावनाप्रधान बोध होता है लेकिन कर्मवाच्य में कर्मणिकृदन्त प्रयोगों की तरह फलविशेष्यक बोध हुआ करता है। अर्थात् इस बोध में फल विशेष्य तथा व्यापार विशेषण व अप्रधान रहता है। इस प्रकार 'पच्यते' का बोध होगा—**वर्त्तमानकालिक व्यापार से उत्पन्न होने वाली एकाश्रयिका विक्लित्ति।**

भाववाच्य में नवीन व प्राचीन दोनों वैयाकरणों के मतानुसार भावनाप्रधान बोध होता है। वहां धात्वर्थ भावना के ही लट् आदि अनुवादक होते हैं। इसमें तिङर्थ संख्या अनन्वित रहती है क्योंकि भावना के अद्रव्य होने से उसमें संख्या का अन्वय उपपन्न नहीं होता। फिर भी '**एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते**' के अनुसार औत्सर्गिक एकवचन कर लिया जाता है[1]॥

भूषणसारः—

'घटो नश्यति' इत्यत्रापि घटाऽभिन्नाश्रयको नाशानुकूलो व्यापार इति बोधः। स च व्यापारः प्रतियोगित्व-विशिष्ट-नाशसामग्री-समवधानम्। अत एव तस्यां सत्यां 'नश्यति', तदत्यये 'नष्टः', तद्भावित्वे 'नङ्क्ष्यति' इति प्रयोगः।

'देवदत्तो जानाति, इच्छति' इत्यादौ च देवदत्ताऽभिन्नाश्रयको ज्ञानेच्छाद्यनुकूलो वर्त्तमानो व्यापार इति बोधः। स चाऽन्तत आश्रयतैवेतिरीत्योह्यम् ॥२॥

---

[1] '**द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने**' (१.४.२२) इस योग का विभाग कर '**एकवचनम्, द्वयोर्द्विवचनम्**' तदनन्तर '**बहुषु बहुवचनम्**' इस प्रकार पाठ करके एकवचन को निर्निमित्तक सिद्ध कर लिया जाता है। '**एकवचनम्**'—प्रत्येक शब्द से एकवचन हुआ करता है। '**द्वयोर्द्विवचनम्**'—द्वित्व की विवक्षा में द्विवचन होता है। '**बहुषु बहुवचनम्**'—बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन होता है। इस प्रकार सङ्ख्या की अपेक्षा के विना एकवचन को औत्सर्गिक—स्वाभाविक सिद्ध कर लिया जाता है। यही है '**एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते**' का मूल ॥

'घटो नश्यति' (घड़ा नष्ट होता है) यहां पर भी 'घटाभिन्न आश्रय वाला नाशोत्पादक व्यापार' इस प्रकार व्यापार का बोध हुआ करता है। वह व्यापार 'प्रतियोगित्वविशिष्ट नाशसामग्री की वर्त्तमानता' ही है। इसीलिए तो उस सामग्री की वर्त्तमानता में '**नश्यति**' का, उसकी भूतकालिकता में '**नष्टः**' का, तथा उसकी भविष्यत्कालिकता में '**नङ्क्ष्यति**' का प्रयोग किया जाता है।

'देवदत्तो जानाति, देवदत्त इच्छति' इत्यादियों में भी 'देवदत्ताभिन्न आश्रय वाला ज्ञानानुकूल व इच्छानुकूल वर्त्तमानकालिक व्यापार का बोध समझना चाहिए। इन स्थलों पर यह व्यापार अन्ततोगत्वा आश्रयता ही सिद्ध होता है॥

वक्तव्य—सब धातुओं में व्यापार पाया जाता है—इसे सिद्ध करने के लिए यह प्रघट्टक लिखा गया है। पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि 'नश्यति' (नाश होता है) में केवल नाशरूप फल ही देखा जाता है व्यापार का कहीं पता नहीं चलता अतः '**प्रत्येक धातु का फल और व्यापार अर्थ है**' यह सिद्धान्त ठीक नहीं बैठता। इसका उत्तर भूषणसार में यह दिया गया है कि यहां भी व्यापार विद्यमान है उस व्यापार का यहां स्वरूप है—'प्रतियोगित्वविशिष्ट नाशसामग्री का पाया जाना'। '**यस्य यत्राऽभावः स तस्य प्रतियोगी**' अर्थात् जिसका जिसमें अभाव होता है वह उसका प्रतियोगी कहाता है। जैसे घटाभाव का प्रतियोगी है 'घट'। इसी प्रकार जिसका नाश कहना अभीष्ट हो वह अपने नाश का प्रतियोगी है। इस प्रकार घटनाश का प्रतियोगी है 'घट'। प्रतियोगित्वविशिष्ट नाशसामग्री (दण्ड आदि का प्रहार) का होना ही 'घटो नश्यति' में व्यापार है। अर्थात् घड़े पर दण्डादिजन्य प्रहार आदि की वर्त्तमानता ही यहां व्यापार समझनी चाहिए। क्योंकि विना प्रहार के घट का नाश सम्भव नहीं अतः प्रहार आदि का घड़े में होना ही नश् धातु का व्यापार है और उससे फल उत्पन्न होता है घट का नाश। इस तरह यहां भी व्यापार की विद्यमानता है ही। इसीलिए तो जब इस प्रकार का व्यापार हो रहा होता है हम '**घटो नश्यति**' का प्रयोग करते हैं, जब हो चुका होता है तब '**घटो नष्टः**' का प्रयोग करते हैं, जब होने वाला होता है तब '**घटो नङ्क्ष्यति**' का प्रयोग करते हैं।

अब पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि '**स जानाति, स इच्छति**' यहां ज्ञान और इच्छारूप फलों की प्रतीति तो स्पष्ट होती है परन्तु व्यापार कुछ दिखाई नहीं देता, क्योंकि ज्ञान और इच्छा आत्मा के गुण हैं और वे उस में समवायसम्बन्ध से रहते हैं। इसका उत्तर यहां यह दिया गया है कि इन स्थलों पर भी ज्ञानानुकूल (ज्ञानरूप फल को उत्पन्न करने वाला) व इच्छानुकूल (इच्छारूप फल को उत्पन्न करने वाला) व्यापार का बोध होता ही है। हां ! यह सत्य है कि यदि गहराई से सोचें तो यह व्यापार आत्मा में ज्ञान और इच्छा की आश्रयता के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सिद्ध नहीं होता[1]। इस प्रकार प्रत्येक धातु में व्यापार की कल्पना कर लेनी चाहिए। 'अस्ति, विद्यते' आदियों में यद्यपि सत्ता (फल) की ही प्रतीति होती है किसी व्यापार की नहीं तथापि सत्ता के अनेकक्षणव्यापिनी होने के कारण उसमें भी व्यापार की कल्पना कर ली जाती है[2]। इस विषय का और अधिक विचार इसी ग्रन्थ की १३वीं कारिका पर किया गया है वहीं देखें ॥ २ ॥

भूषण-सार:—

नन्वाख्यातस्य कर्तृ-कर्म-शक्तत्वे 'पचति' इत्यत्रोभयबोधाऽऽपत्तिः, कर्तृमात्रबोधवत् कर्ममात्रस्याऽपि बोधाऽऽपत्तिरित्यतस्तात्पर्यग्राहकम्[3] आह—

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि आख्यात (तिङ्) कर्त्ता और कर्म दोनों के वाचक हैं तो 'पचति' में उन दोनों का बोध क्यों नहीं

---

[1] यहां अन्य लोगों का कहना है कि ऐसे स्थलों पर भी आत्मा और मन का संयोगरूप व्यापार विद्यमान रहता है, क्योंकि जब तक आत्मा का मन के साथ संयोग न हो ज्ञान इच्छा आदि फलों की उत्पत्ति नहीं हुआ करती ॥

[2] **"अस्ति-भवति-वर्त्तति-विद्यतीनामर्थः सत्ता। सा चाऽनेककालस्थायिनीति कालगतपौर्वापर्येण क्रमवतीति तस्याः क्रियात्वम्"**—इति परमलघु-मञ्जूषायां धात्वर्थ-निरूपणे **नागेशभट्टः** ॥

[3] अनादितात्पर्यग्राहकम् इत्यर्थः। तेन कस्यचिद् आधुनिकस्य 'पच्यते' इत्यत्र कर्तृबोधे तात्पर्ये सत्त्वेऽपि अनादितात्पर्याभावान्न कर्तृ-बोध इति भावः ॥

होता? केवल कर्त्ता का ही क्यों होता है? अथवा[1] जैसे 'पचति' में केवल कर्त्ता का बोध होता है वैसे केवल कर्म का भी बोध होना चाहिए। इस गुत्थी को सुलझाने के लिए अग्रिम-कारिका में किसी एक ही प्रकार के बोध के निर्देशक चिह्न दर्शाते हैं—

कारिका—

फलव्यापारयोस्तत्र फले तङ्-यक्-चिणादयः।
व्यापारे शप्श्नमाद्यास्तु द्योतयन्त्याश्रयान्वयम्॥३॥

तङ्, यक्, चिण् आदि प्रत्यय, फल और व्यापार दोनों के मध्य फल में आश्रय के अन्वय को द्योतित करते हैं तथा शप्, श्नम् आदि प्रत्यय व्यापार में आश्रय के अन्वय को प्रकट करते हैं॥

भूषणसारः—

तङादयः फले आश्रयान्वयं द्योतयन्ति। फलाऽन्वय्याश्रयस्य कर्मत्वाद् तद्द्योतकाः कर्मद्योतकाः, व्यापाराऽन्वय्याश्रयस्य कर्तृत्वात् तद्द्योतकाः कर्तृद्योतका इति समुदायार्थः। द्योतयन्ति—तात्पर्यं ग्राहयन्ति॥३॥

फल का आश्रय कर्म होता है। तङ्, यक्, चिण् आदि प्रत्ययों के द्वारा उस कर्म को द्योतित कराया जाता है अतः तङ्,[2] यक्, चिण् आदि कर्मद्योतक कहलाते हैं। इसीप्रकार व्यापार के आश्रय अर्थात् कर्त्ता को शप्, श्नम् आदि द्योतित कराते हैं अतः वे कर्तृद्योतक कहलाते हैं।

वक्तव्य—'**आश्रये तु तिङः स्मृताः**' अर्थात् तिङ् (आख्यात) फल और व्यापारके आश्रयको बतलाते हैं—यह पीछे कह आये हैं। फलका आश्रय

---

[1] 'अथवा' से पूर्वोक्त बात में असन्तोष की प्रतीति होती है। क्योंकि '**सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयति**' इस न्याय से एककाल में दो अर्थों की प्रतीति सम्भव नहीं—यह समाधान वहां किया जा सकता है॥

[2] तङ् से यहां यगादि समभिव्याहृत तङ् का ही ग्रहण करना चाहिये, अन्यथा 'एधते, निविशते, धत्ते' इत्यादियों में भी अतिप्रसक्ति होगी॥

कर्म तथा व्यापार का आश्रय कर्त्ता होता है, इस प्रकार तिङ् कर्म और कर्त्ता दोनों के बोधक हैं। पर तिङ् द्वारा किस समय किस आश्रय का बोध कराया जाता है—यह यहां प्रश्न उत्पन्न होता है। इसका समाधान यह किया गया है कि जब तिङ् में आत्मनेपद, यक् व चिण् प्रत्यय आदि लगा हो तो फल के आश्रय अर्थात् कर्म का बोध होता है। जैसे—पठ्यते ग्रन्थः, पच्यते तण्डुलः, अपाठि ग्रन्थः, अपाचि ओदनः इत्यादि। एवं जब तिङ् में परस्मैपद, शप्, श्नम्, [1], श्ना, श्यन्, श आदि प्रत्यय लगे हों तो व्यापार के आश्रय अर्थात् कर्त्ता का बोध होता है। इस प्रकार तिङ् कर्म व कर्त्ता किसी एक का ही एक समय में बोध कराते हैं। इसमें नियामक व्याकरण-प्रक्रिया है। 'पचति' आदि में व्याकरण के अनुसार '**कर्त्तरि शप्**' (३.१.६८) आदि के द्वारा शप् आदि प्रत्यय कर्त्ता का ही बोध कराते हैं। 'पच्यते, अपाचि' आदि में '**भावकर्मणोः**' (१.३.१३), '**सार्वधातुके यक्**' (३.१.६७), '**चिण् भाव-कर्मणोः**' (३.१.६६) आदि [2] कर्म का ही बोध करायेंगे। इस प्रकार व्यवस्था होने से कोई दोष नहीं आयेगा ॥ ३ ॥

भूषणसारः—

नन्वेवं 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः' (शिशुपालवधे १.३) 'पच्यते ओदनः स्वयमेव' इत्यादौ च व्यभिचारः। कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायां कर्त्तरि लकारे सति 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' (३.१.८७) इत्यतिदेशेन यगात्मनेपदचिण्चिण्वदिटामतिदेशाद् यगादिसत्त्वेऽपि कर्त्तुरेव बोधाद्, व्यापार एवाऽऽश्रयान्वयाच्च। 'अबोधि' इत्यत्रापि बुध्यतेः कर्त्तरि लुङ्। तस्य 'दीपजन०' (३.१.६८) इति चिण्, 'चिणो लुक्' (६.४.१०४) इति तस्य लुगिति साधनाद्—इत्याशङ्कायामाह—

---

[1] कारिका में '**शप्श्नमाद्यास्तु**' के स्थान पर '**शप्श्यनाद्यास्तु**' पाठ होता तो अधिक अच्छा था। क्योंकि पाणिनि ने '**कर्त्तरि शप्**' (३.१.६८) '**दिवादिभ्यः श्यन्**' (३.१.६९) इस प्रकार शप् के बाद श्यन् का ही अष्टाध्यायी में उल्लेख किया है॥

[2] आदि से चिण्वद् इट् (यथा—'कारिष्यते घटः' में) कुषिरजोः प्राचां श्यन् परस्मैपदं च (३.१.९०) का ग्रहण समझ लेना चाहिये॥

अजी यदि आप यह कहेंगे कि तङ्, यक्, चिण् आदि के द्वारा कर्म का द्योतन होता है तो '**क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः**' (शिशुपालवध१.३) यहां 'अबोधि' में तथा '**पच्यते ओदनः स्वयमेव**' यहां कर्मकर्तृप्रक्रिया के 'पच्यते' में दोष प्राप्त होगा। क्योंकि इन दोनों स्थलों पर क्रमशः चिण् और यक् का प्रयोग होने पर भी कर्त्ता का बोध होता है कर्म का नहीं॥

वक्तव्य—'अबोधि' यह रूप 'बुध अवगमने' (दिवादि० आत्मने०) धातु के कर्तृवाच्य में लुङ् के प्रथमपुरुष के एकवचन का है। यहां '**दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्**' (३.१.६८) से च्लि को चिण् होकर '**चिणो लुक्**' (६.४.१०४) से उसके आगे 'त' प्रत्यय का लुक् हो जाता है। 'पच्यते ओदनः स्वयमेव' (ओदन अपने आप पकता है) यहां 'पच्यते' यह प्रयोग कर्मकर्तृप्रक्रिया का है। इस प्रक्रिया में लकार (तिङ्) तो कर्त्ता में हुआ करते हैं। परन्तु '**कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः**' (३.१.८७) सूत्र से उसे कर्मवत् मानकर यक् आदि किए जाते हैं[1]। इस प्रकार 'अबोधि' (उसने जाना) तथा 'पच्यते' (स्वयं पकता है) रूपों में क्रमशः चिण और यक् आदि के होने पर भी कर्त्ता का द्योतन होता है कर्म का नहीं। अतः '**तङ्, यक्, चिण् आदि के द्वारा कर्म का द्योतन होता है**' यह पिछली कारिका (३) में कहा गया वचन संगत नहीं होता।

इस आशङ्का का समाधान अग्रिम-कारिका द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

कारिका—

उत्सर्गोऽयं कर्मकर्तृविषयादौ विपर्ययात्।
तस्माद् यथोचितं ज्ञेयं द्योतकत्वं यथागमम्[2]॥४॥

---

[1] इन रूपों की अविकल सिद्धि तथा कर्मकर्तृप्रक्रिया का सम्पूर्ण रहस्य हमारी **लघु-सिद्धान्त-कौमुदी की भैमीव्याख्या** में देखें। इस बृहद्व्याख्या का '**द्वितीयभाग**' शीघ्र प्रकाशित होने जा रहा है॥

[2] आगमः शास्त्रम्, यथागमम्—यथाशास्त्रम्॥

'तङ्, यक्, चिण् आदि कर्म का बोध कराते हैं तथा शप्, श्नम् आदि कर्त्ता के बोधक हैं' यह जो पिछली कारिका में बताया गया है उसे उत्सर्ग अर्थात् सामान्यनियम समझना चाहिये । क्योंकि इस का अपवाद कर्मकर्तृप्रक्रिया का 'पच्यते ओदनः' आदि में तथा 'अबोधि' आदि में पाया जाता है । अतः उपर्युक्त नियम की व्याकरणशास्त्र के अनुसार यथोचित व्यवस्था समझनी चाहिये [1] ।

भूषणसारः—

कर्मकर्तृविषयादौ—'पच्यते ओदनः स्वयमेव' इत्यादौ । अत्र हि 'एकौदनाऽभिन्नाऽऽश्रयकः पाकानुकूलो व्यापारः' इति बोधः । क्रमादिति आदिपदग्राह्यम् । अत्र[2] 'सामान्यविशेषज्ञानपूर्वक एकनारदविषयकज्ञानाऽनुकूलः कृष्णाभिन्नाश्रयकोऽतीतो व्यापारः' इति बोधः । यथोचितमिति—सकर्मक-धातु-समभिव्याहृत-भावसाधारणविधि-विधेय-चिण्यगादि कर्मद्योतकमिति भावः ॥४॥

कर्मकर्तृविषयादि के उदाहरण 'पच्यते ओदनः स्वयमेव' इत्यादि हैं । यहां '**एकत्व संख्या वाले ओदन से अभिन्न आश्रयवाला विक्लितिजनक व्यापार**' यह बोध होता है । 'कर्मकर्तृविषयादौ' यहां 'आदि' शब्द के द्वारा 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः' इत्यादि स्थलों का ग्रहण होता है । यहां '**सामान्यविशेषज्ञानपूर्वक[3] एकनारदविषयक ज्ञान का जनक कृष्णाऽभिन्न आश्रय में रहने वाला भूतकालिक व्यापार**' यह बोध उत्पन्न होता है ।

---

[1] अर्थात् जहां जहां चिण् यक् आदि के द्वारा व्याकरण कर्त्ता का बोध कराये वहां वहां कर्त्ता का बोध होगा इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर सामान्यतः कर्म का बोध होगा ।।

[2] 'अत्र' इत्यस्य स्थाने 'तत्र' इति पाठः क्वचिदुपलभ्यते ।।

[3] यह 'क्रमात्' पद का बोध है । आकाश से पृथ्वी पर उतरते हुए नारद को श्रीकृष्ण ने पहले '**त्विषां चयः**' (ज्योतिः-पुञ्ज), फिर '**शरीरी**', पुनः '**पुमान्**' तथा अंत में '**नारद**' समझा । इसप्रकार श्रीकृष्ण का नारदविषयकज्ञान सामान्य से उत्तरोत्तर विशेष की ओर गया है । **शिशुपालवध** का समग्र श्लोक इस प्रकार है—

'यथोचितम्' इत्यादि का यह अभिप्राय फलित होता है कि सकर्मक धातु से साधारणभावकर्मप्रक्रिया द्वारा विधान किये गये चिण् यक् आदि प्रत्यय कर्म के द्योतक हैं [१] ॥ ४ ॥

भूषणसारः—

एवं सूचीकटाहन्यायेन सोपपत्तिकं वाक्यार्थमुपवर्ण्य 'फलव्यापारयोः' इति प्रतिज्ञातं धातोर्व्यापारवाचित्वं लडाद्यन्ते भावनाया अवाच्यत्वं वदतः प्राभाकरादीन् प्रति व्यवस्थापयति—

सूचीकटाह-न्याय से वाक्यार्थ का पहले सयुक्तिक व्याख्यान किया है। अब अपने पूर्वप्रतिज्ञात '**फलव्यापारयोर्धातुः**' (फल और व्यापार दोनों का वाचक धातु होता है) इस सिद्धान्त का सयुक्तिक निरूपण करते हैं।

"चयस्त्विषामित्यवधीरितं पुरा ,
ततः शरीरीति विभाविताकृतिम् ।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति ,
क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः ॥"

वंशस्थं छन्दः
(सर्ग १, श्लो० ३)

सरलार्थः—श्रीकृष्णजी ने पहले उसे तेजःपुञ्ज समझा। फिर (निकट आने पर) आकृति देखकर 'शरीरधारी' समझा। बाद में (सर्वथा निकट आ जाने पर) स्पष्टरूप से मुख-हाथ-पांव आदि अङ्गों के पृथक् पृथक् दीखने से उसे 'पुरुष' समझा। इस प्रकार क्रम से जान लिया कि यह 'नारदजी' हैं।

'नारद इति' इत्यत्र निपातेन इतिनाऽभिहितत्वात् कर्मणि द्वितीया नेति दीक्षितादयः। नागेशमते तु—'नारदः' इत्याकारकं यज्ज्ञानं तदनुकूल इत्यादिर्बोधः। तत्र 'नारद' इति प्रथमान्तस्य अप्रातिपदिकत्वान्न द्वितीयाप्राप्तिः। भाष्ये तिङ्कृत्तद्धितसमासानामेव परिगणनात् 'क्वचिन्निपातेनाभिधानम्' इति तु निर्मूलमेव ॥

१ 'पच्यते' में धातु यद्यपि सकर्मक थी परन्तु कर्मकर्तृ प्रक्रिया में कर्म के कर्तृवत् हो जाने से वह अकर्मक हो गई है अतः इससे परे यक् आदि साधारण भावकर्मप्रक्रिया से विहित होने पर भी कर्म के द्योतक नहीं। 'अबोधि' में चिण् साधारणभावकर्मप्रक्रिया से नहीं लाया गया अपितु कर्तृ प्रक्रिया से लाया गया है अतः वहां पर भी चिण् कर्म का द्योतक नहीं ॥

धातु का अर्थ भावना नहीं होता—ऐसा मानने वाले प्राभाकर मीमांसकों[1] तथा कुछ एक नैयायिकों के मत का खण्डन करने के लिए अग्रिमकारिका का अवतरण करते हैं ॥

वक्तव्य—कोई लुहार लोहे का बड़ा कटाह (कढ़ाई) बना रहा था। बीच में एक व्यक्ति उसके पास आकर कहता है कि मुझे जरा सूई तो बना दो। लुहार प्रथमगृहीत कटाह निर्माण को बीच में छोड़कर उसे सूई बना कर दे देता है; वह समझता है कि कटाह का निर्माण तो कई दिनों में होने वाला है और इस सूई का निर्माण एक दो मिनट का कार्य है। बस इसे संस्कृत में **सूची-कटाह-न्याय** कहते हैं। इस न्याय का प्रयोग ऐसे स्थलों पर किया जाता है जहां बहु-आयास-साध्य कार्य को बीच में छोड़ कर स्वल्प आयास-साध्य कार्य को हाथ में पकड़ा जाए। प्रकृत में 'फलव्यापारयोर्धातुः' इस द्वितीयकारिका में 'फलव्यापारयोर्धातुः' यह सिद्धान्त तो अनेक प्रकार के शङ्काजालों से ग्रस्त होने के कारण कटाहनिर्माणतुल्य बह्वायाससाध्य था। परन्तु उससे अगला 'आश्रये तु तिङः स्मृताः' आदि वाक्यार्थविषयक भाग तदपेक्षया स्वल्पशंकाओं से व्याप्त होने के कारण सूचीनिर्माणवत् अल्पायाससाध्य था। अतः ग्रन्थकार (कारिकाकार) ने भी सूचीकटाहन्याय का अनुसरण करते हुए लुहार की तरह पहले अल्पायाससाध्य कार्य को हाथ में लेते हुए वाक्यार्थविषयक विचार किया। अब वह समाप्त हो चुका है। अतः पूर्वप्रतिज्ञात बह्वायाससाध्य 'फल-व्यापारयोर्धातुः' इस सिद्धान्त का विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

लडाद्यन्ते=धातौ। अत्र परसमीपवचनोऽन्तशब्दः। लडादयोऽन्ते यस्माद् असौ लडाद्यन्तः, तस्मिन् लडाद्यन्ते। यहां **'आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य'** (१.३.६३) सूत्रगत 'आम्प्रत्यय' की तरह अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि-समास है[2]। अतः जैसे **'चित्रगुम् आनय, दृष्टमथुरम् आनय'**

---

[1] मीमांसक भावना को आख्यात का अर्थ मानते हैं, धातु को केवल फलवाची कहते हैं। इस विषय में उन की युक्तियां आगे आठवीं कारिका की अवतरणिका में देखें ॥

[2] **तद्गुणसंविज्ञान** और **अतद्गुणसंविज्ञान** ये बहुव्रीहिसमास के दो भेद हैं। इन का सोदाहरण विवेचन हमारी बनाई **लघुसिद्धान्तकौमुदी की 'भैमीव्याख्या'** (सूत्र १३३) में किया गया है। विशेषजिज्ञासु इसे वहीं देखें ॥

इत्यादियों में केवल अन्यपदार्थ का ही क्रिया में अन्वय होता है गोआदियों का नहीं इसीप्रकार यहाँ भी लट् आदि जिससे परे किये जाते हैं केवल उसी का ही ग्रहण अभीष्ट है। लट् आदि धातु से परे किये जाते हैं अतः **'लडाद्यन्त'** का अर्थ **'धातु'** है ॥

कारिका—

व्यापारो भावना सैवोत्पादना[१] सैव च क्रिया।
कृञोऽकर्मकताऽऽपत्तेर्न हि यत्नोऽर्थ इष्यते ॥५॥

व्यापार को ही भावना कहते हैं उसी का ही दूसरा नाम उत्पादना और क्रिया है। यदि धातु का व्यापार अर्थ न मान कर केवल फल अर्थ मानेंगे तो 'कृञ्' का अर्थ 'यत्न' रखना पड़ेगा, इस प्रकार कृञ् अकर्मक हो जायेगी। अतः उसे केवल यत्नार्थक मानना अभीष्ट नहीं ॥

---

[१] उद्देश्य और विधेय का ऐक्य प्रतिपादन करने वाले सर्वनाम कौन सा लिङ्ग ग्रहण करें—इस विषय में शिष्टजनों ने कामचारिता बताई है। यथा **क्षीरस्वामी** ने अमरकोष की व्याख्या करते हुए लिखा है—**"सर्वनाम्नाम् उद्दिश्यमान-विधीयमानयोर्लिङ्ग-ग्रहणे कामचारः"**। कैयट ने भी प्रदीप में लिखा है—**"उद्दिश्यमान-प्रतिनिर्दिश्यमानयोरेकत्वम् आपादयन्ति सर्वनामानि पर्यायेण तल्लिङ्गमुपाददते"**। इन उद्धरणों का अभिप्राय यह है कि ऐसे स्थलों पर सर्वनाम का प्रयोग विधेय या उद्देश्य किसी के भी लिङ्ग के अनुसार हो सकता है। विधेयानुसार लिङ्ग के उदाहरण यथा:—

(१) **"शैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य"**। (कालिदास)

(२) **"तत् तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः"**। (भवभूति)

उद्देश्यानुसार लिङ्ग के उदाहरण यथा:—

(१) **"यद् अधमर्णेन उत्तमर्णाय मूलधनातिरिक्तं देयं तद् वृद्धिरिति"** (काशिका ५.१.४७)।

(२) **"तदनन्तरं गवयो गवयपदवाच्य इति ज्ञानं यज्जायते तद् उपमितिरिति"** (मुक्तावली)।

तो इस के अनुसार 'जो व्यापार है वह उत्पादना है' यहां पर भी दो प्रकार से सर्वनाम का प्रयोग हो सकता है—

भूषणसारः—

पचति—पाकमुत्पादयति, पाकानुकूला भावना, तादृश्युत्पादना इत्यादिविवरणाद् विव्रियमाणस्यापि तद्वाचकतेति भावः ॥

धातु का फल के अतिरिक्त व्यापार अर्थ भी होता है—यह वैयाकरणों की मान्यता है। इसमें प्रमाण 'पचति' का विवरण है। यह नियम है कि विव्रियमाण (जिसका विवरण किया जा रहा है) और विवरण समानार्थक हुआ करते हैं। यथा--मघवा=इन्द्रः। यहां विव्रियमाण है'मघवा',तथा'इन्द्रः' यह उसका विवरण है, अतः दोनों समानार्थक हैं। इसी प्रकार यहां 'पचति' के 'पाकम् 'उत्पादयति' (पाक को उत्पन्न करता है), 'पाकाऽनुकूला भावना' (पाक को पैदा करने वाली क्रिया), 'पाकानुकूला उत्पादना' (पाक को उत्पन्न करने वाला उत्पादन) इत्यादि विवरण हैं। इन सब विवरणों में व्यापार की स्पष्ट प्रतीति हो रही है। अतः विव्रियमाण धातु भी व्यापार-वाचक है—यह सुतरां सिद्ध हो जाता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि करिका में 'व्यापारः' कहने का क्या प्रयोजन है, क्योंकि 'या क्रिया भावना सैवोत्पादनाऽपि च सा स्मृता' इस प्रकार कारिका बना करके भी क्रियाशब्द के पठित होने से वह प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। इसका उत्तर देते हुए भूषणकार लिखते हैं—

भूषणसारः—

व्यापारपदं फूत्कारादीनाम् अयत्नानामपि [1] फूत्कारत्वादि-रूपेण वाच्यतां ध्वनयितुमुक्तम्। अत एव 'पचति' इत्यत्र अधः-

---

(१) **यो व्यापारः सा उत्पादना,** (२) **यो व्यापारः स उत्पादना** । कारिका में यदि 'सा+उत्पादना' छेद मानेंगे तो गुणसन्धिद्वारा 'सोत्पादना' बन जायेगा। यदि उद्देश्यानुसार पुल्ँलिङ्ग का निर्देश मानकर 'सः+उत्पादना' इस प्रकार छेद मानेंगे तो '**सैष दाशरथी रामः**' की तरह '**सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्**' (६.१.१३०) सूत्र से सु का लोप होकर गुण करने से प्रयोगसिद्धि समझी जायेगी ॥

[1] कृतिपदवाच्यो यः प्रयत्नस्तद्भिन्नानामपि फूत्कारादिव्यापारणां तत्तद्विशेष-रूपेण भावनापदवाच्यत्वसिद्ध्यर्थं व्यापारपदमुपात्तम् इति '**शङ्करशास्त्रिणः**' ॥

सन्तापनत्व-फूत्कारत्व-चुल्ल्युपरिधारणत्व-यत्नत्वादिभिर्बोधः सर्वसिद्धः ॥

'व्यापार' पद के ग्रहण का यह अभिप्राय है कि पचनक्रिया में यत्न के अतिरिक्त अन्य व्यापारों का भी समावेश समझा जाए। इसीलिए तो 'पचति' के कहने पर—नीचे आग जलाना, उसे फूंके मारना, बरतन को चूल्हे पर रखना, कड़ुछी आदि से हिलाना, नीचे उतारना, यत्न इत्यादि सब प्रकार के व्यापारों का बोध सर्वसाधारण को भी लोक में हुआ करता है। अतएव 'देवदत्तः पचति' इस प्रकार कहने पर **'देवदत्तः फूत्कारादिमान् न वा'** (देवदत्त फूंके मारता है या नहीं) यह सन्देह श्रोता को कभी नहीं हुआ करता, क्योंकि 'पच्' में इन सब क्रियाओं की भी वाचकता है[1]। प्राचीन नैयायिक कृति=यत्न (कोशिश) को ही धातु का वाच्य मानते हैं। उनके मत से असहमति दर्शाने के लिए ही व्यापार पद को कारिका में रखा गया है ॥

भूषणसारः—

न चैवमेषां शक्यतावच्छेदकत्वे गौरवापत्त्या कृतित्वमेव तदवच्छेदकं वाच्यम्, 'रथो गच्छति,' 'जानाति' इत्यादौ च व्यापारादिप्रकारकबोधो लक्षणयेति नैयायिकरीतिः साध्वी, शक्यतावच्छेदकत्वस्यापि लक्ष्यतावच्छेदकत्ववद् गुरुणि सम्भवात्, तयोर्वैषम्ये बीजाभावात् ॥

अब आक्षेपकर्त्ता वैयाकरणों पर आक्षेप करता है कि आपके अनुसार 'पच्' इस शक्य के शक्यतावच्छेदक फूत्कारत्व, अधःसन्तापनत्व, चुल्ल्युपरिधारणत्व आदि अनेक हो जायेंगे, परन्तु यदि आप धातु का अर्थ कृति(यत्न)[2]

---

[1] परन्तु उन सब क्रियाओं को एकात्मक बुद्धि के द्वारा एक लड़ी में पिरोया जाता है—यह यहां नहीं भूलना चाहिये। भर्तृहरि की—"**गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्। बुद्ध्या प्रकल्पिताऽभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते**" (पृष्ठ २३) इस पूर्वोक्त कारिका को ध्यान में रखना चाहिये ॥

[2] अर्थात् फलानुकूल कृति। यथा 'पच्' में विक्लित्यनुकूल कृति, 'गम्' में उत्तरदेशसंयोगानुकूल कृति आदि ॥

मान लेते हैं तो शक्यतावच्छेदक 'कृतित्व' यह एक ही रहता है—इस प्रकार हमारे मत की अपेक्षा आप के मत में गौरवदोष प्रसक्त होता है [१]। यदि आप यह कहें कि धातु का अर्थ कृति (यत्न) मान लेने से '**रथो गच्छति**, '**चक्षुर्जानाति**' आदि प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकेंगे, क्योंकि रथ और चक्षु में यत्न नहीं पाया जा सकता, वह तो चेतन का गुण है, रथ और चक्षु जड़ हैं—तो इसका उत्तर नैयायिकों की रीति [२] के अनुसार यह दिया जा सकता है कि ऐसे स्थलों में मुख्यार्थ के बाधित हो जाने से लक्षणाद्वारा व्यापार आदि की कल्पना कर ली जाएगी अतः कोई दोष नहीं आयेगा। इस प्रकार आपके मत में गौरवदोष वैसे का वैसा रहेगा।

इस गौरवदोष का उद्धार करते हुए श्रीकौण्डभट्ट कहते हैं कि आप जिस गौरवदोष की बात करते हैं वह सर्वथा अयुक्त है। जब आप '**गङ्गायां घोषः**' में 'गङ्गा' शब्द का लक्ष्यतावच्छेदक '**गङ्गातीरत्व**' मानते हैं तब क्यों आपको गौरवदोष नहीं सूझता ? वहां यदि आपको नहीं सूझता तो यहां भी सूझना नहीं चाहिए। एक में सूझे और दूसरे में न सूझे—यह भेद नितान्त अनुचित है। वस्तुतः बात तो यह है कि शक्तिद्वारा जिस अर्थ के बोध की प्रतीति सर्वजनविदित है, उसका अपलाप नहीं किया जा सकता, फिर चाहे वह गुरु हो या लघु इसका विचार नहीं करना चाहिए। 'पच्' धातु के द्वारा फूत्कार आदि अनेक क्रियाओं का बोध होता है अतः यदि फूत्कारत्व आदि शक्यतावच्छेदक माने जाते हैं तो इसमें कोई गौरवकी बात नहीं अपितु यह वस्तुस्थिति है। लाघव समझकर कोई गलत बात नहीं की जा सकती और न ही गौरव के भय से सार्वजनीन प्रतीति का अपलाप किया जा सकता है॥

---

[१] यहां गौरवदोष इसलिये भी समझना चाहिये कि वैयाकरणों के सिद्धान्त में प्रत्येक धातु के नानाविध विभिन्न विभिन्न शक्यतावच्छेदक होंगे, परन्तु इस मत में प्रत्येक धातु का केवल एक '**कृतित्व**' ही शक्यतावच्छेदक होगा॥

[२] आख्यातार्थविचारे नैयायिकैर्व्यापारे लक्षणां स्वीकृत्यायं प्रयोगः समर्थितस्तद्वन्मयाऽपि समर्थनीय इत्यभिप्रेत्य रीतिपदोपादानम्, न तु अन्यांशे तन्मतादर इति भावः॥

भूषणसारः—

न च 'पचति—पाकं करोति' इति यत्नार्थककरोतिना विवरणाद् यत्न एवाऽर्थः[1] इति वाच्यं, 'रथो गमनं करोति' 'बीजादिनाऽङ्कुरः कृतः' इति दर्शनात् कृञो यत्नार्थकताया असिद्धेः ॥

यदि आप यह कहो कि '**पचति**' का विवरण है—'**पाकं करोति**', यहां कृधातु के यत्नार्थक होने से यह सिद्ध हो जाता है कि धातु का वाच्य कृति=यत्न ही है भावना या व्यापार नहीं—तो यह आपका कथन ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि हम आपको सैंकड़ों स्थल ऐसे बता सकते हैं जहां 'कृ' का यत्न अर्थ नहीं किया जा सकता। जैसे—'**रथो गमनं करोति, बीजादिना अङ्कुरः कृतः**' इन स्थानों पर 'कृ' धातु का यत्न अर्थ नहीं माना जा सकता, यतः 'यत्न' आत्मा का गुण है[2] वह रथ बीज आदि जड़ पदार्थों में नहीं रह सकता ॥

अब '**भावना (व्यापार) धातु का वाच्य नहीं होता**' ऐसा मानने वालों के मत में एक अन्य दोष दिखाते हैं—

भूषणसारः—

किञ्च भावनाया अवाच्यत्वे 'घटं भावयति' इत्यत्रेव 'घटो भवति' इत्यत्रापि द्वितीया स्यात्। न चात्र घटस्य कर्तृत्वेन तत्सञ्ज्ञया कर्मसञ्ज्ञाया बाधाद् न द्वितीयेति वाच्यम्, अनुगत-कर्तृत्वस्य[3] त्वन्मते दुर्वचत्वेन घटस्याऽकर्तृत्वात्। कृत्याश्रय-त्वस्य कारकचक्रप्रयोक्तृत्वस्य वा घटादावभावात् ॥

यदि व्यापार को धातु का वाच्य न मानकर केवल फल को ही उस का वाच्य स्वीकार करेंगे तो आपको '**फलाश्रयत्वं कर्मत्वम्**' अर्थात् जो फल का आश्रय हो वह कर्म होता है—ऐसा कर्म का लक्षण करना पड़ेगा। तब

---

[1] 'यत्न एवाख्यातार्थः' इति क्वाचित्कः पाठोऽपपाठ एवेति बोध्यम् ॥

[2] '**सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि**' (वैशेषिक० ३.२.४) ॥

[3] चेतनाऽचेतनोभयवृत्तिकर्तृत्वलक्षणस्येत्यर्थः ॥

जैसे आप '**घटं भावयति**' (घट को बनवाता है) में उत्पत्तिरूपफल के आश्रय घट को कर्म मानकर उसमें द्वितीयाविभक्ति करते हैं वैसे '**घटो भवति**' यहां भी उत्पत्तिरूप फल के आश्रय घट की कर्मसञ्ज्ञा कर उसमें आपको द्वितीयविभक्ति करनी पड़ेगी जो स्पष्टतया लोक-वेद-विरुद्ध है। इसका यदि आप यह समाधान करें कि कर्तृसञ्ज्ञा से कर्मसञ्ज्ञा बाधित हो जाने से द्वितीया प्रसक्त नहीं होगी तो यह समाधान आपके मत में ठीक नहीं बैठेगा, क्योंकि लोकप्रसिद्ध जड़ व चेतन उभयविध कर्त्ता का लक्षण करना आपके मत के उपपन्न नहीं होगा। [आपके मत में केवल चेतन ही कर्त्ता हो सकता है जड़ नहीं, फिर यहां 'घट' तो जड़ है वह कैसे कर्त्ता बनेगा ?] अधिक से अधिक आप कर्त्ता का यह लक्षण करेंगे—'**कृत्याश्रयत्वं कर्तृत्वम्**' जो कृति अर्थात् यत्न का आश्रय हो उसे कर्त्ता कहते हैं। परन्तु यहां घट जड़ है वह यत्न का आश्रय न होने से कर्त्ता नहीं बनेगा[1]। इसीप्रकार यदि आप '**कारक-चक्र-प्रयोक्तृत्वं कर्तृत्वम्**' जो कारकसमूह का प्रयोक्ता=सञ्चालक हो वह कर्त्ता होता है—यह लक्षण करेंगे तो वह भी '**असिश्छिनत्ति, स्थाली पचति, घटो भवति**' इत्यादियों में असि (तलवार), स्थाली, घट आदि जड़ पदार्थों में उपपन्न नहीं होगा। इत्थं जब आप कर्त्ता का लक्षण ही नहीं कर सकते तो उस कर्तृसञ्ज्ञा से कर्मसञ्ज्ञा के बाधित होने की बात को समन्वित करना आपके मतमें सम्भव नहीं होगा। अतः '**घटो भवति**' यहां द्वितीया की प्राप्ति अनिवार्य होगी॥

इस प्रकार नैयायिकों का खण्डन कर अब मीमांसकों के प्रति कहते हैं—

भूषणसारः—

धात्वर्थाऽनुकूल-व्यापाराऽऽश्रयत्वस्य च कारकमात्रातिव्यापकत्वात्[2] ॥

---

[1] परन्तु वैयाकरणों के मत में यहां कोई दोष नहीं आता क्योंकि '**धातु के व्यापार का आश्रय कर्त्ता होता है**' इस प्रकार उन के मत में कर्त्ता का लक्षण किया गया है॥

[2] मात्रशब्दः कात्स्न्यें। कर्म-करणादिसर्वेष्वपि कारकेषु तत्तद्धात्वर्थफलानुकूल-यत्किञ्चित्क्रियाश्रयत्वसत्त्वेन अतिप्रसङ्गाद् इति भावः॥

मीमांसकों के मत में कर्त्ता का लक्षण होगा—'**धात्वर्थाऽनुकूलव्यापाराश्रयत्वं कर्तृत्वम्**' अर्थात् धातु के अर्थ (फल) को उत्पन्न करने वाले व्यापार (भावना) का जो आश्रय वह कर्त्ता होता है। इस प्रकार '**घटो भवति**' में भूधातु के उत्पत्तिरूप फल के आश्रय 'घट' की कर्तृसञ्ज्ञा हो जाने से कर्मसञ्ज्ञा का बाध होकर द्वितीया की प्राप्ति का दोष नहीं आयेगा। इस पर भूषणकार का कहना है कि मीमांसकों ने जो कर्त्ता का लक्षण '**धात्वर्थानुकूलव्यापाराश्रयत्वम्**' किया है वह अयुक्त है क्योंकि सब कारक कुछ न कुछ धातु के फल को पैदा करनें वाली क्रिया के आश्रय होते ही हैं, यदि वे क्रिया को उत्पन्न करने में आश्रय न हों तो कारक ही नहीं रह जाते। क्योंकि कारक का लक्षण है—'**क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्**' अर्थात् जो क्रिया का जनक हो उसे कारक कहते हैं। जैसे '**देवदत्तो गृहे हस्ताभ्यां विप्राय पात्राद् अन्नं ददाति**' यहां 'ददाति' क्रिया के जनक सब कारक हैं। 'देवदत्त' कर्तृत्वेन, 'गृह' अधिकरणत्वेन, 'हस्त' करणत्वेन, 'विप्र' सम्प्रदानत्वेन, 'पात्र' अपादानत्वेन, तथा 'अन्न' कर्मत्वेन दानक्रिया को निष्पन्न करते हैं अतः वे सब कारक हैं। इस प्रकार मीमांसकों के लक्षण से सभी कारक कर्तृसञ्ज्ञक हो जायेंगे अतः मीमांसकों के पास भी द्वितीया को रोकने का कोई उपाय नहीं॥

वक्तव्य—वस्तुतः मीमांसकों के उपर्युक्त लक्षण में कोई दोष नहीं आता, क्योंकि यदि सब कारक क्रियाजनकत्वेन कर्त्ता हो जायें तो अपादान आदि सञ्ज्ञाओं का विधान ही व्यर्थ हो जाये। अतः सब कारक यद्यपि अपने अपने स्थान पर क्रिया के जनक हैं तथापि जो स्वातन्त्र्येण विवक्षित होगा उसकी ही कर्तृसञ्ज्ञा होगी अन्य की नहीं। '**स्वतन्त्रः कर्त्ता**'(१.४.५४) सूत्र का अभिप्राय भी यही है। '**कारके**' (१.४.२३) सूत्र के महाभाष्य में भी यही अभिप्राय प्रकट किया गया है—"**प्रधानेन समवाये स्थाली परतन्त्रा, व्यवाये स्वतन्त्रा। किं प्रधानम्? कर्त्ता। कथं ज्ञायते कर्त्ता प्रधानमिति? यत् सर्वेषु कारकेषु सन्निहितेषु कर्त्ता प्रवर्त्तयिता भवति**"। भर्तृहरि ने भी कहा है—

"**निष्पत्तिमात्रे कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके।**
व्यापारभेदापेक्षायां करणादित्वसम्भवः"॥३.७.१८॥

यही भाव नागेशभट्ट ने लघुमञ्जूषा के सुबर्थनिर्णय में व्यक्त किया

है—"सर्वेषां स्वस्वव्यापारद्वारा स्वातन्त्र्येणैव क्रियानिष्पादकत्वात् कर्तृकारकत्वम्"[१] ॥

अब श्रीकौण्डभट्ट अपने पूर्वोक्त कथन की असारता को जानते हुए भावना को धात्वर्थ सिद्ध करने के लिए ठोस कारण प्रस्तुत करते हैं—

भूषणसारः—

अपि च भावनाया अवाच्यत्वे धातूनां सकर्मकत्वाऽकर्मकत्व-विभाग उच्छिन्नः स्यात् । स्वार्थ[२]-फल-व्यधिकरण-व्यापार-वाचित्वं स्वार्थ-व्यापार-व्यधिकरण-फल-वाचकत्वं वा सकर्मकत्वं भावनाया वाच्यत्वम् अन्तेरणासम्भवि[३]। अन्यतमत्वं तत्त्वम्[४] इति चेद् ? न । एकस्यैवाऽर्थभेदेन अकर्मकत्व-सकर्मकत्वदर्शनात् । तदेतदभिसन्धायाह[५]—कृञ इति ॥

यदि भावना (व्यापार) को धातु का वाच्य नहीं मानेंगे तो धातुओं की सकर्मक और अकर्मक व्यवस्था न बन सकेगी। क्योंकि सकर्मक का लक्षण इस प्रकार है–**'स्वार्थ-फल-व्यधिकरण-व्यापार-वाचित्वं सकर्मकत्वम्'** अथवा **'स्वार्थ-व्यापार-व्यधिकरण-फल-वाचकत्वं सकर्मकत्वम्'** अर्थात् धातु का अपना अर्थ जो फल[६] उसके स्थान से भिन्न स्थान पर रहने वाले व्यापार

---

[१] अत्र स्वातन्त्र्येत्यस्य स्वातन्त्र्यविवक्षयैवेत्यर्थः ।।

[२] स्वशब्देनाऽत्र धातुर्ग्राह्यः । तथा च धातुवाच्यं यत् फलं तादृश-फल-व्यधिकरणो यो व्यापारस्तद्वाचकत्वं धातोश्चेद् भवति तदा सोऽयं धातुः सकर्मक इत्युच्यते ।।

[३] अन्तरेण–विना असम्भवि ।।

[४] सकर्मकत्वेनाऽभिमता यावन्तो धातवस्तान् सर्वान् शृङ्गग्राहिकया परिगणय्य **'एतदन्यतमत्वं सकर्मकत्वम्'** इति लक्षणम् इति भावः ।।

[५] तदेतत्—पूर्वोक्तं दोषजातम् अभिसन्धाय–मनसिकृत्याहेत्यर्थः ।।

[६] ध्यान रहे कि सकर्मकत्व के लक्षण में **'स्वार्थं'** शब्द अतिव्याप्ति-दोष से बचने के लिये डाला गया है । इस का प्रयोजन यह है कि धातु के अपने ही फल का व्यधिकरण व्यापार होना चाहिये न कि यत्किञ्चित् फल का व्यधिकरण व्यापार ।

का वाचक धातु सकर्मक होता है, अथवा—धातु का अपना अर्थ जो व्यापार उसके अधिकरण (स्थान) से भिन्न अधिकरण वाले फल का वाचक धातु सकर्मक होता है। दोनों लक्षणों का तात्पर्य यही है कि धातु के अर्थ के दो भाग होते हैं एक फल और दूसरा व्यापार, यदि ये दोनों भिन्न भिन्न अधिकरणों (स्थानों) में रहें तो धातु 'सकर्मक' और यदि ये एक ही अधिकरण में रहें तो धातु 'अकर्मक' होती है। यथा—'**देवदत्तस्तण्डुलान् पचति**' (देवदत्त चावलों को पकाता है) यहां 'पच्' का फल (विक्लिति) तण्डुलों में और पकाने का व्यापार (चूल्हा जलाना, बटलोही में चावल डाल पानी डालना, उसे आग पर धरना आग को प्रज्वलित करने के लिए फूंके मारना आदि अनेक क्रियाएं) देवदत्त में रहने से पच् धातु सकर्मक है[१]। '**देवदत्तः शेते**' (देवदत्त सोता है) यहां 'शीङ्' धातु का फल शयन और शयनानुकूल व्यापार (आंखें मूंदना आदि) दोनों देवदत्त में रहते हैं अतः 'शीङ्' धातु अकर्मक है। इस प्रकार धातुओं के सकर्मकत्व और अकर्मकत्व की व्यवस्था तब तक नहीं बन सकती जब तक धातु को फल और व्यापार दोनों का वाचक न माना जाये।

यदि लक्षण में '**स्वार्थ**' पद नहीं डालते तो सब अकर्मक धातुएं भी सकर्मक हो जायेंगी, क्योंकि उनका व्यापार भी किसी न किसी धातु के फल का व्यधिकरण है ही। यथा तब शीङ् धातु भी सकर्मक हो जायेगी, क्योंकि यह भी विक्लितिरूप फल के व्यधिकरण व्यापार की वाचक है। अतः लक्षण में '**स्वार्थ**' पद को अवश्य डालना चाहिये। धातु का व्यापार यदि उसी धातु के फल का व्यधिकरण हो तभी धातु सकर्मक होती है अन्यथा नहीं। उपर्युक्त शीङ् धातु का व्यापार यद्यपि विक्लिति आदि फलों का व्यधिकरण है तथापि उस धातु के अपने फल का व्यधिकरण नहीं, क्योंकि विक्लिति पच् का फल है शीङ् का नहीं, अतः शीङ् धातु सकर्मक नहीं हो सकती। इस प्रकार '**स्वार्थ**' पद लक्षण को अतिव्याप्त होने से बचाता है॥

[१] उपर्युक्त लक्षण के अनुसार '**जीव प्राणधारणे**' (भ्वा० परस्मै०) धातु सकर्मक हो जायेगी जो वस्तुतः अकर्मक है। तथाहि—जीव् धातु का अर्थ है प्राणों को धारण करना; यहां प्राणधारणानुकूल व्यापार देवदत्त आदि में तथा धारणात्मक फल प्राणों में रहेगा। इस प्रकार फल और व्यापार के भिन्न भिन्न अधिकरणों में रहने से जीव् धातु सकर्मक हो जायेगी जो वस्तुतः अनिष्ट है। इसका परिहार लक्षण में '**स्वार्थफल**' का विशेषण '**धात्वर्थाऽप्रविष्टाश्रयक**' लगा कर किया जाता है। अर्थात्

यदि कोई यह कहे कि सब सकर्मक धातुओं को एक साथ गिना दिया जायेगा और तब कह दिया जाएगा कि इन से भिन्न धातु अकर्मक होते हैं अतः सकर्मकाकर्मकव्यवस्था के उपपन्न हो जाने से फल और व्यापार दोनों को धातु का वाच्य मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी—तो इसका उत्तर भूषणकार यह देते हैं कि यह तभी सम्भव हो सकता है जब धातुओं का सकर्मकत्व या अकर्मकत्व निश्चित हो, पर यहां तो एक ही धातु किसी अर्थ में सकर्मक और किसी अन्य अर्थ में अकर्मक बन जाती है। यथा—'वह प्रापणे (भ्वा० उभय०) यह धातु 'सेवको भारं वहति' यहां प्रापण अर्थ में सकर्मक तथा 'नदी वहति' यहां स्यन्दन अर्थ में अकर्मक है। उपसर्गों के योग से भी अनेक अकर्मक धातुएं सकर्मक हो जाती हैं। यथा–स भवति, स दुःखम् अनुभवति।अतः धातुओं की सकर्मकाकर्मकव्यवस्था के लिए फल और व्यापार दोनों को धातु का अर्थ मानना अत्यावश्यक है। इसीलिए इन सबका विचार कर कारिकाकार ने कहा है—**'कृञोऽकर्मकताऽऽपत्तेर्न हि यत्नोऽर्थ इष्यते'** ॥

भूषणसारः—

अयम्भावः—व्यापाराऽवाच्यत्वपक्षे फलमात्रमर्थ इति फलितम्। तथा च 'करोति' इत्यादौ यत्नप्रतीतेस्तन्मात्रं वाच्यमभ्युपेयम्। तथा च 'यती प्रयत्ने' इतिवत् फलस्थानीययत्नवाचकत्वाऽविशेषाद् अकर्मकताऽऽपत्तिरुक्तरीत्या दुर्वारेति। तथा च—'न हि यत्नः' इत्यत्र फलस्थानीयत्वेनेति शेषः। 'कृञः' इति धातुमात्रोपलक्षणम्। सर्वेषामप्यकर्मकता सकर्मकता वा स्यादिति भावः॥

लक्षण इस प्रकार करना होगा—**'धात्वर्थाऽप्रविष्टाश्रयक-स्वार्थफल-व्यधिकरण-व्यापार-वाचित्वं सकर्मकत्वम्'**। धातु का स्वार्थ फल ऐसा होना चाहिये जो धात्वर्थ के अन्तर्गत आने वाली किसी वस्तु का आश्रय न करे। यहां जीव् धातु में धारणात्मक फल का आश्रय हैं प्राण, वे 'जीव प्राणधारणे' इस प्रकार धातु के अर्थ में प्रविष्ट हैं अतः ऐसी धातु सकर्मक न होगी। इसीलिये तो अकर्मक धातुओं को गिनाते समय **'धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात्'** कहा जाता है। इस का विशेष विवेचन त्रयोदशी कारिका के व्याख्यान में करेंगे वहीं देखें॥

कारिका के उत्तरार्ध का भाव वर्णन करते हुए भूषणकार कहते हैं कि—यदि धातु को व्यापार का वाचक न मानकर केवल फल का ही वाचक मानेंगे तो कृञ् (डुकृञ् करणे, तनादि० उभय०) धातु भी यत् (यती प्रयत्ने, भ्वादि० आत्मने०) धातु के समान अकर्मक हो जायेगी, क्योंकि कृञ् धातु का फल 'यत्न' प्रतीत होता है और इधर यत् धातु का भी फल 'यत्न' है। इस प्रकार दोनों धातु एक समान होने के कारण उक्तरीति[1] से अकर्मक ठहरती हैं जो वस्तुतः लोकव्यवहारविरुद्ध है। इस लिए कृञ् धातु का केवल फलस्थानीय यत्न अर्थ नहीं माना जा सकता अपितु उसके साथ व्यापार अर्थ मानना भी अत्यावश्यक है। 'कृञ्' का ग्रहण यहां उपलक्षणार्थ है; अभिप्राय यह है कि धातुमात्र का केवल फल अर्थ नहीं माना जा सकता, उसके साथ व्यापार अर्थ भी मानना पड़ेगा। यदि धातु का व्यापार अर्थ नहीं मानते तो धातुओं की सकर्मक-अकर्मक-व्यवस्था नहीं बन सकेगी। सब के सब धातु सकर्मक या अकर्मक कुछ भी हो जाएंगे। अर्थात् यदि **'फलवाचित्वम् अकर्मकत्वम्'** कहेंगे तो सब धातु फल के वाचक होने से अकर्मक हो जाएंगे, और यदि **'फलवाचित्वं सकर्मकत्वम्'** कहेंगे तो सब धातु सकर्मक हो जायेंगे॥

अब श्रीकौण्डभट्ट कारिका के उत्तरार्ध की अन्य प्रकार से व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

भूषणसारः—

अथवा 'व्यापारो भावना' इत्यर्धेन व्यापारस्य वाच्यत्वं प्रसाध्य फलांशस्यापि तत् साधयन् नैयायिकाऽभ्युपगतं जानाति-

---

[1] **'उक्तरीति'** का यहाँ क्या अभिप्राय हो सकता है? यह यहां विचारणीय है। जब पूर्वपक्षी व्यापार को धातु का वाच्य मानता ही नहीं केवल फल को ही वाच्य मान रहा है तो उक्तरीति कैसे प्रवृत्त होगी? उक्तरीति में तो **'व्यापार और फल दोनों यदि एक स्थान पर रहें तो धातु अकर्मक, और यदि भिन्न भिन्न स्थानों पर रहें तो धातु सकर्मक'** ऐसा प्रतिपादन किया गया है। यहां तो केवल फल ही फल है व्यापार अभिमत नहीं, तब उक्तरीति कैसे प्रवृत्त होगी?

इस का समाधान टीकाकारों ने गोलमाल रीति से किया है उन का कथन है कि **'सकर्मकभिन्नत्वम् अकर्मकत्वम्'** इस प्रकार की पूर्वोक्त आर्थिक रीति से यहां अकर्मकत्व हो जायेगा॥

करोत्यादेः केवल-ज्ञान-यत्नादि-क्रिया-मात्र-वाचित्वं दूषयति—कृञ्ञ इति । अयम्भावः—फलांशस्याऽवाच्यत्वे व्यापार एव धात्वर्थः स्यात्; तथा च स्वार्थ-फल-व्यधिकरण-व्यापार-वाचित्वादिरूप-सकर्मकत्वोच्छेदाऽऽपत्तिः । न च कृञ्ञादौ सकर्मकत्वव्यवहारो भाक्त[1] इति नैयायिकोक्तं युक्तम्, व्यवहारस्य भाक्तत्वेऽपि कर्मणि लकाराऽसम्भवात् । न हि तीरे गङ्गापदस्य भाक्तत्वेऽपि तेन स्नानादि कार्यं कर्त्तुं शक्यम् । एवञ्च 'न हि यत्न' इत्यत्र यत्नमात्रमित्यर्थः ॥५॥

कारिका के पूवार्ध-द्वारा व्यापार को धातु का वाच्य भली-भांति सिद्ध किया जा चुका है। अब कारिका के उत्तरार्धद्वारा फल को भी धातु का वाच्य सिद्ध करते हुए उन नैयायिकों के मत का खण्डन प्रस्तुत करते हैं जो 'ज्ञा, कृ' आदि धातुओं का केवल ज्ञान और यत्न मात्र व्यापार ही वाच्य मानते हैं[2]। इस प्रकार मानने से दोष उत्पन्न हो जाएगा। तथाहि—यदि फल धातु का वाच्य नहीं रहेगा तो केवल व्यापार को ही धातु का वाच्य स्वीकार करना पड़ेगा, इस प्रकार '**स्वार्थ-फल-व्यधिकरण-व्यापारवाचित्वं सकर्मकत्वम्**' यह सकर्मक का लक्षण उच्छिन्न अर्थात् अनुपपन्न हो जायेगा। क्योंकि धातु का वाच्य फल तो रहेगा नहीं पुनः उस फल के व्यधिकरण व्यापार को कैसे निर्दिष्ट किया जा सकेगा ? अतः धातु का वाच्य फल भी मानना उचित है। विना उसे स्वीकार किये कृञ् धातु सकर्मक न बन सकेगी। तब उससे '**क्रियते घटः**' आदि प्रयोगों के लिये '**लः कर्मणि च**

---

[1] भज्यत आमृश्यते सेव्यते वा शक्यार्थोऽनयेति भक्तिर्लक्षणा, तया शक्यार्थस्य तिरोधानात् स्वज्ञाने घटकतया शक्यार्थस्यापेक्षणाच्च । भक्त्या आगतः—भाक्तः, लाक्षणिक इत्यर्थः ।।

[2] प्राचीन नैयायिकों का कहना है कि प्रायः सकर्मक धातुएं फल और व्यापार दोनों की वाचक होती हैं, परन्तु 'ज्ञा, कृ' आदि सविषयक (ज्ञान, इच्छा, कृति अर्थ वाली) धातुएं केवल ज्ञान, यत्न आदि व्यापारमात्र की ही वाचक होती हैं उनमें फलांश वाच्य नही रहता। अकर्मक धातुएं भी सब फल की वाचक नहीं होतीं क्योंकि उनसे फल की प्रतीति नहीं होती (देखें इसी स्थान की '**दर्पण**' टीका) ।।

भावे चाऽकर्मकेभ्यः' (३.४.६९) सूत्र द्वारा कर्म में लकार भी नहीं हो सकेगा। यदि कहो कि कृञ् धातु को लक्षणाद्वारा गौणरूप से सकर्मक मान कर कर्मणि लकार कर लेंगे तो यह भी ठीक नहीं। आप लक्षणा द्वारा उसे सकर्मक भले ही मान लें परन्तु कार्य के समय तो लक्ष्यार्थ से काम नहीं लिया जा सकता। जैसे 'गङ्गायां घोषः' में आप लक्ष्यार्थ गङ्गातीर को भले ही मान लें परन्तु स्नानादि कार्य उससे उपपन्न नहीं हो सकते। प्यास लगी होगी तो गङ्गा से ही बुझेगी गङ्गातीर से नहीं, स्नान करना होगा तो गङ्गा में ही सम्भव होगा गङ्गातीर में नहीं। इसीप्रकार यहां कर्मणि लकार विधान करते समय कृञ् धातु का वास्तविक रूप जो अकर्मक है उससे कर्मणि लकार नहीं हो सकेगा। अतः कृञ् धातु का केवल यत्नरूप व्यापार अर्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता उसके साथ फल अर्थ भी मानना पड़ेगा अर्थात् **'उत्पत्तिरूप-फलसहित यत्न'** यह अर्थ उसका करना पड़ेगा ॥५॥

भूषणसारः—

अत एवाऽऽह—

क्योंकि कृञ् को केवल यत्नार्थक मानना अनिष्ट है इसी लिए कारिकाकार कहते हैं—

कारिका—

किन्तूत्पादनमेवातः कर्मवत् स्याद् यगाद्यपि।
कर्मकर्तर्यन्यथा तु न भवेत् तद् दृशेरिव ॥६॥

किन्तु[1] 'कृञ्' धातु का उत्पादन (उत्पत्तिरूपफल+यत्नादिव्यापार) ही अर्थ है। इसीलिये तो 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' (३.१.८७) सूत्र से कर्मवद्भाव होकर यक् आदि भी हो जाते हैं; अन्यथा कर्मकर्तृप्रक्रिया में 'कृञ्' धातु से वे न हो सकते जैसे 'दृश्' धातु से नहीं होते ॥

---

[1] 'किन्तु' यह अव्यय हिन्दी भाषा में तो बहुत प्रचलित है पर संस्कृत में भी इसका प्रचुर प्रयोग पाया जाता है। यथा **रघुवंश में—**

"किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम्।" (१.१६५)

"अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान्मतो मे।" (१४.४०)

भूषणसारः—

उत्पादनम्—उत्पत्तिरूपफलसहितं यत्नादि कृञर्थ इत्यर्थः। फलस्य वाच्यत्वे युक्त्यन्तरम्[1] आह—अत इत्यादि। यतः कृञो यत्नमात्रमर्थो नेष्यते, अतः। कर्मवत् स्यादिति पदेन 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' (३.१.८७) इति सूत्रं लक्ष्यते[2]। अयमर्थः—यत एवास्योत्पादनार्थकता, अतः 'पच्यते ओदनः स्वयमेव' इतिवत् 'क्रियते घटः स्वयमेव' इति यगादयोऽप्युपपद्यन्ते। अन्यथा यत्नस्य कर्मनिष्ठत्वाऽभावात्[3] तन्न स्याद्, दृशिवत्। यथा 'दृश्यते घटः स्वयमेव' इति न, दर्शनस्य घटाऽवृत्तित्वात् तथा यत्नस्यापि, इति तथा प्रयोगाऽनापत्तेरिति ॥६॥

उत्पादन अर्थात् उत्पत्तिरूप फल के सहित यत्नादि जो व्यापार वह ही कृञ् धातु का अर्थ है। '**फल धातु का वाच्य होता है**' इसमें अन्य युक्ति दर्शाते हैं—'अतः' इत्यादि। क्योंकि 'कृञ्' का केवल यत्नमात्र अर्थ अभीष्ट नहीं अतः 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' (३.१.८७) सूत्र-द्वारा अतिदेश होकर यक् आदि प्रत्यय हो जायेंगे। अर्थात् जैसे '**पच्यते ओदनः स्वयमेव**' (ओदन अपने आप पकता है) यहां कर्मवद्भाव के कारण 'पच्यते' में यक् आदि प्रत्यय उपपन्न होते हैं वैसे '**क्रियते घटः स्वयमेव**' (घट अपने

---

[1] सकर्मकाऽकर्मकविभागोच्छेदस्य पूर्वोक्तत्वात् तदपेक्षया युक्त्यन्तरम् इत्यर्थः॥

[2] कर्मवद् यगाद्यपि स्याद् इत्यन्वयानुपपत्तौ तदर्थमाह—'**सूत्रं लक्ष्यते**' इति॥

[3] कर्ममात्रनिष्ठत्वाऽभावाद् इत्यर्थः। 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' (३.१.८७) इति सूत्रेण यः कर्मवद्भाव उच्यते स कर्मस्थक्रियकाणामेव भवति न तु कर्तृस्थक्रियकाणामिति नियमः। यत्र फलं कर्ममात्रे वर्तते स कर्मस्थक्रियकः। यथा 'पचति' इत्यत्र विक्लितिरूपं फलं कर्मण्येव वर्त्तते न तु कर्तरि। एवं 'भिनत्ति' इत्यत्र द्वैधीभावरूपं फलं काष्ठादावेव वर्तते न तु देवदत्तादौ कर्त्तरि। यत्र तु फलं कर्त्तरि कर्मणि चोभयत्र वर्त्तते स कर्तृस्थक्रियको मन्तव्यः, तत्र न भवति कर्मवद्भावः। यथा 'दृश्यते घटः स्वयमेव' इत्यत्र दृशेर्दर्शनरूपं फलं समवायेन कर्त्तरि, विषयतासम्बन्धेन च घटे वर्त्तते, अतोऽत्र कर्मवद्भावो नोपपद्यते। ईदृशेषु स्थलेषु '**पश्यति घटः स्वयमेव**' इत्येवमेव प्रयोगस्य साधुत्वं ज्ञेयम्॥

आप बनता है) यहां 'क्रियते' में भी उपपन्न हो जाते हैं। यदि 'कृञ्' का केवल यत्न अर्थ ही होता तो यत्न के घटादि कर्म में स्थित न होने के कारण [1] कर्मवद्भाव न होता और तब यक् आदि भी न होते। कारण कि कर्मवद्भाव तभी होता है जब क्रिया केवल कर्म में ही स्थित हो। यदि क्रिया केवल कर्म में स्थित न होगी तो कर्मवद्भाव न होगा। यथा '**दृश्यते घटः स्वयमेव**' इसप्रकार का प्रयोग नहीं किया जाता क्योंकि दर्शन-क्रिया घट में नहीं पाई जाती ॥

वक्तव्य—'**कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः**' (३.१.८७) सूत्र द्वारा कर्त्ता को कर्मवद्भाव का अतिदेश किया जाता है। परन्तु यह अतिदेश तभी होता है जब धातु का फल केवल कर्म में ही विद्यमान रहे कर्त्ता में नहीं। यथा—'**पच्यते ओदनः स्वयमेव, भिद्यते काष्ठं स्वयमेव**' इन स्थलों पर पच् का फल विक्लिति केवल ओदनरूप कर्म में तथा भिद् का फल द्वैधीभाव (दो टुकड़े होना) केवल काष्ठरूप कर्म में ही रहते हैं कर्त्ता में ये फल कदापि नहीं, अतः इन स्थलों पर '**कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः**' (३.१.८७) सूत्र से कर्मवद्भाव होकर यक् आदि प्रत्यय आ जाते हैं। परन्तु '**दृश्यते घटः स्वयमेव**' यह प्रयोग अशुद्ध है क्योंकि दृश् धातु का फल=दर्शन (साक्षात्कार) उसके कर्म घट में नहीं रहता अपितु देवदत्त आदि कर्त्ता में रहता है। अतः यहां कर्मवद्भाव नहीं हो सकता [2]। अब इस प्रसङ्ग में यदि कृञ् धातु का अर्थ केवल यत्न-मात्र होता तो वह यत्न घट पट आदि जड़ पदार्थों में न पाया जाता अतः कर्मवद्भाव न होने से '**क्रियते घटः स्वयमेव**' (घट

---

[1] क्योंकि यत्न चेतन का धर्म है घट आदि अचेतन का नहीं ॥

[2] जब हम '**देवदत्तो घटं पश्यति**' कहते हैं तो दृश् धातु का फल दर्शन दो स्थानों पर रहता है एक कर्त्ता में दूसरा कर्म में। कर्त्ता में तो दर्शन समवायसम्बन्ध से रहता है परन्तु कर्म में विषयतासम्बन्ध से। इसी प्रकार '**देवदत्तो ग्रामं गच्छति**' यहां गम् धातु का उत्तरदेशसंयोगरूप फल, देवदत्त और ग्राम दोनों में संयोगसम्बन्ध से रहता है क्योंकि संयोग उभयनिष्ठ हुआ करता है। परन्तु यहां ऐसी क्रियाओं में कर्मवद्भाव नहीं होता जहां फल दोनों स्थानों पर रहे अपितु फल यदि केवल कर्म में ही रहे तो कर्मवद्भाव होता है जैसे पच् और भिद् धातु। इन के फल विक्लिति और द्वैधीभाव कर्त्ता में न तो समवायसम्बन्ध से और न ही विषयतासम्बन्ध से रहते हैं। अतः ऐसे स्थलों पर ही कर्मवद्भाव होता है ॥

अपने आप बनता है) यह प्रयोग न बन सकता। परन्तु यह प्रयोग लोक और शास्त्र दोनों में अत्यन्त प्रसिद्ध है। भाष्यकार ने भी इसका अनेकशः प्रयोग किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि कृञ् धातु का केवल यत्न अर्थ नहीं अपितु उत्पत्तिरूप फल के सहित यत्नादि अर्थ है। अतएव उत्पत्तिरूप फल के केवल घट आदि कर्म में विद्यमान रहने के कारण कर्मवद्भाव हो जाता है कोई दोष नहीं आता। तदेवं **'क्रियते घटः स्वयमेव'** इस प्रयोग में होने वाला कर्मवद्भाव यह प्रमाणित करता है कि कृञ् धातु का केवल यत्न अर्थ नहीं अपितु फल (उत्पत्ति) अर्थ भी इसके साथ संलग्न है।

नोटः—'कर्मकर्तृप्रक्रिया' को समझे विना यह कारिका तथा इससे अगली कारिका भली भांति समझ में नहीं आ सकती। अतः हम विद्यार्थियों से अनुरोध करते हैं कि वे इन कारिकाओं को समझने से पूर्व **सिद्धान्तकौमुदी या हमारी बनाई लघुसिद्धान्तकौमुदी की भैमीव्याख्या** में कर्मकर्तृप्रक्रिया का भली भांति अनुशीलन कर लें ।।६।।

भूषणसारः—

नन्वेवं कृञादेरिव 'जानाति' इत्यादेरपि विषयावच्छिन्नावरणभङ्गादिफलवाचित्वम् आवश्यकम्। अन्यथा सकर्मताऽनापत्तेः। तथा च 'ज्ञायते घटः स्वयमेव' इति किं न स्यात्। एवं 'ग्रामो गम्यते स्वयमेव' इत्याद्यपि—इत्याशङ्कां मनसिकृत्याऽऽह—

पीछे 'कृञ्' धातु का अर्थ केवल व्यापार नहीं अपितु फल (उत्पत्ति) सहित व्यापार अर्थात् उत्पादन कहा गया है। फल अर्थ मानने के कारण ही 'क्रियते घटः स्वयमेव' इस प्रकार कर्मकर्तृप्रक्रिया में कर्मवद्भाव होकर यक् आदि प्रत्यय सिद्ध हो जाते हैं। अब पूर्वपक्षी उस रहस्य को[1] न समझता हुआ प्रश्न करता हैं कि यदि आप 'कृञ्' के अर्थ में फल का समावेश कर उससे कर्मकर्तृप्रक्रिया में कर्मवद्भाव मान लेते हैं तो हम 'ज्ञा'

---

[1] इस रहस्य का उद्‌घाटन छठी कारिका के संस्कृत तथा हिन्दी के टिप्पणों में भली भांति किया गया है ।।

धातु का भी फल '**विषयाऽवच्छिन्नाऽऽवरणभङ्ग**'[1] मान लेंगे क्योंकि यह धातु सकर्मक है और सकर्मक धातुओं में फल अवश्यम्भावी होता है। इस प्रकार इस धातु से भी कर्मकर्तृ प्रक्रिया में कर्मवद्भाव हो कर '**ज्ञायते घटः स्वयमेव**' बनना चाहिए। इसी प्रकार गम् धातु का फल उत्तरदेशसंयोग-रूप होने से उससे भी कर्मकर्तृ प्रक्रिया में कर्मवद्भाव होकर '**गम्यते ग्रामः स्वयमेव**' बनना चाहिए। परन्तु लोक में ऐसे प्रयोग देखे नहीं जाते— यह क्यों ? इस प्रश्न को मन में रखकर समाधान करने के इच्छा से कारिका-कार '**श्रीभट्टोजिदीक्षित**' अग्रिम-कारिका का अवतरण करते हैं—

कारिका—

निर्वर्त्ये च विकार्ये च कर्मवद्भाव इष्यते।
न तु प्राप्ये कर्मणीति सिद्धान्तो हि व्यवस्थितः ॥७॥

कर्म तीन प्रकार का होता है (१) निर्वर्त्य (२) विकार्य और (३) प्राप्य। इन में से पहले दो अर्थात् निर्वर्त्य और विकार्य कर्मों में ही कर्मवद्भाव किया जाता है तीसरे प्राप्य कर्म में नहीं—यह व्याकरण-शास्त्र में सिद्धान्त निश्चित किया गया है[2]। अतः उपर्युक्त स्थलों पर कोई दोष नहीं आता ॥

भूषणसारः—

ईप्सितं कर्म त्रिविधम्—निर्वर्त्यं विकार्यं प्राप्यञ्च तत्रा-द्ययोः कर्मवद्भावो नाऽन्त्ये। प्राप्यत्वञ्च क्रियाकृत-विशेषाऽ-नुपलभ्यमानत्वम् इति सुबर्थ-निर्णये वक्ष्यते। न हि—'अयं घटः

---

[1] विषय से सम्बद्ध जो आवरण उस का भङ्ग होना। जब हम किसी विषय को जान लेते हैं तो तत्तद्विषयक आवरण (अज्ञान) हमारा भङ्ग हो जाता है—यही 'ज्ञा' धातु का फल है ॥

[2] सिद्धान्तोऽयं '**कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः**' (३.१.८७) इति सूत्र-भाष्ये व्यवस्थितः। सिद्धान्तव्यवस्थितिश्चेत्थम्—'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' इति सूत्रे '**धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्**' (३.१.२२) इति सूत्राद् '**धातोः**' इत्यनुवर्त्तते। तेन धातोर्वाच्यया क्रियया तुल्यक्रियः कर्त्ता कर्मवद् इति लाभाद् '**असिश्छिनत्ति, स्थाली पचति**' इत्यादौ करणाधिकरणादिस्थलनिवृत्तौ सत्यां '**कर्मणा**' इति पुनरुपादानं कर्मस्थक्रियामेव लक्षयतीति ॥

केनचिद् दृष्टो, ग्रामोऽयं केनचिद् गतः' इति शक्यं कर्मदर्शनेनाऽवगन्तुम् । 'घटं करोति' इति निर्वर्त्ये 'सोमं सुनोति' इति विकार्ये च तज्ज्ञातुं शक्यम् इति न तत् प्राप्यम् । तथा च घटादेर्दृश्यादौ प्राप्यकर्मत्वान्नोक्ताऽतिप्रसङ्ग इति भावः ॥

'कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म' (१.४.४९)सूत्र से विधीयमान ईप्सित कर्म तीन प्रकार का होता है । (१) **निर्वर्त्य**, (२) **विकार्य, और** (३) **प्राप्य**[१] । इनमें से प्रथम दो अर्थात् निर्वर्त्य और विकार्य में कर्मवद्भाव होता है अन्त्य प्राप्य में नही । जिस कर्म में क्रिया-द्वारा की गई कोई विशेषता (परिवर्तन) उपलब्ध न हो उसे 'प्राप्य' कर्म कहते हैं[२] । यथा—'**घटं पश्यति**' यहां किसी के देखने से घट के स्वरूप आदि में कोई परिवर्तन नहीं आता । घट को देखकर कोई जान नहीं सकता कि घट को किसी ने देखा है । यदि किसी के देखने से उसमें कुछ परिवर्तन आया होता तो दूसरा उसे प्रत्यक्ष करता परन्तु वहां तो कोई परिवर्तन आया नहीं अतः घट 'प्राप्य' कर्म है । इसी प्रकार ग्राम को देखकर कोई जान नहीं सकता कि किसी का वहां गमन हुआ है । अतः ग्राम भी 'प्राप्य' कर्म है । '**घटं करोति**' यहां घट की स्वरूपोपलब्धि होने से घट 'निर्वर्त्य' कर्म ठहरता है इसी प्रकार '**सोमं सुनोति**' में सोम के कूटने आदि से रूपविकार आता है अतः वह 'विकार्य' कर्म है । निर्वर्त्य और विकार्य कर्मों में क्रियाद्वारा विशेषता उत्पन्न होती है अतः वे प्राप्य कर्म नहीं । प्राप्य कर्म में कर्मवद्भाव नहीं होता अतः '**घटो दृश्यते स्वयमेव**' '**घटो ज्ञायते स्वयमेव**' '**ग्रामो गम्यते स्वयमेव**' इत्यादि

---

[१] जो कर्म उत्पन्न हो कर प्रत्यक्षतया ज्ञात होता है उसे '**निर्वर्त्य**' कर्म कहते हैं, जैसे 'घटं करोति' यहां घट की उत्पत्ति सब को प्रत्यक्ष प्रतीत होती है । '**विकार्य**' कर्म उसे कहते हैं जिसमें विकार प्रतीत होता है, जैसे 'सोमं सुनोति' (सोम को कूटता है) यहां 'सोम' को कूटने से उसके रूप में विकृति आ जाती है जो सर्वजन-प्रत्यक्ष-सुलभ है । '**प्राप्य**' कर्म का लक्षण मूल में ही दिया गया है ॥

[२] अत एव भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ३.७.५१ में कहा है—

"क्रियागतविशेषाणां सिद्धिर्यत्र न गम्यते ।
दर्शनादनुमानाद्वा तत् प्राप्यमिति कथ्यते ॥"

स्थानों पर प्राप्यकर्मों में कर्मवद्भाव करना अशुद्ध है[1]। इसीलिये इसप्रकार के प्रयोग लोक में प्रचलित नहीं। ईप्सित कर्मों का त्रैविध्य **'सुबर्थ-निर्णय'** में सविस्तर वर्णित किया गया है विशेषजिज्ञासु वहीं देखें ॥

यदि धातुओं का वाच्य केवल व्यापार ही मानेंगे फल नहीं तो एक और दोष भी प्रसक्त होगा—

भूषणसारः—

धातूनां फलाऽवाचकत्वे त्यजि-गम्योः पर्यायताऽऽपत्तिः, क्रियावाचकत्वाऽविशेषात्। फलस्योपलक्षणत्वेऽप्येकक्रियाया एव पूर्वदेशविभागोत्तरदेशसंयोगजनकत्वाद् उक्तदोषतादवस्थ्यम् इत्यपि वदन्ति[2]। तस्माद् आवश्यकं सकर्मकाणां फलवाचकत्वम्। अकर्मकाणान्तु तन्निर्विवादमेव, 'भू सत्तायाम्' इत्याद्यनुशासनाच्च। अत एव 'द्व्यर्थः पचिः' इति भाष्यं संगच्छत इति दिक्[3] ॥७॥

---

[1] अतः कर्मकर्तृप्रक्रिया में इन के शुद्ध रूप इस प्रकार जानने चाहियें— **'घटः पश्यति स्वयमेव, घटो जानाति स्वयमेव, ग्रामो गच्छति स्वयमेव'**। इन सब स्थानों पर शुद्धकर्तृप्रकियावत् सब कार्य होंगे ॥

[2] **'अपि वदन्ति'** इत्यनेन अस्वरसः सूचितः। तद्बीजं तु द्वितीयया तत्तत्फलबोधे तत्तद्धातुजन्योपस्थितेर्हेतुत्वकल्पनया 'प्रयागं त्यजति' इति प्रयोक्तव्ये प्रयागं गच्छतीत्यादिप्रयोगवारणं सुकरम् इति काशिका ॥

[3] **'इति दिक्'** अत्र टीकाकृतां द्विविधं व्याख्यानमुपलभ्यते। आदौ तावद् दर्पणकारः—**"ननु 'द्व्यर्थः पचिः' इतिभाष्यं पचेरुपादानात् सकर्मकाणां फलार्थकत्वे साधकमस्तु, न त्वकर्मकाणाम् अत आह—दिगिति। तथा सति सत्ताद्यर्थनिर्देशवैयर्थ्यापत्तेः, धातुसामान्यशक्त्या पच्यादेरिव भवत्यादेरपि व्यापारबोधसम्भवाद् इति दिगर्थोऽवसेयः।"**

परं काशिकाकारस्तदनुयायी **शङ्करमिश्रश्च** अन्यथा व्याचष्टे— **"नन्वेवं जानात्यादेः सकर्मकत्वाय ज्ञानाद्यनुकूलव्यापारवाचित्वं, तथा च चक्षुरादिकं जानातीति स्यात्, चक्षुरादावपि ज्ञानानुकूलचक्षुर्मनःसंयोगादेः सत्त्वाद् इति चेन्न, 'स्थाली पचति' इतिवद् इष्टापत्तेरित्याशयेनाह—दिगिति ॥"**

यदि धातु फल के वाचक न हों केवल व्यापार के ही वाचक हों तो त्यज् और गम् धातु एक दूसरे के पर्याय प्रसक्त होंगे, क्योंकि त्यज् और गम् में व्यापार तो एक जैसा ही होता है। तब **'ग्रामं गच्छति'** के स्थान पर **'ग्रामं त्यजति'** और **'वृक्षं त्यजति'** के स्थानपर **'वृक्षं गच्छति'** का भी प्रयोग होने लगेगा। पुनः यदि धातुका वाच्य फल और व्यापार दोनों होंगे तो कोई दोष नहीं आयेगा। यदि आप यह कहें कि त्यज् धातु के व्यापार में पूर्वदेश का विभाग तथा गम् धातु के व्यापार में उत्तरदेश का संयोग उपलक्षण[1] मानकर इन की पर्यायता न होने से कोई दोष नहीं आयेगा तो यह समाधान ठीक नहीं बैठेगा। क्योंकि गम् और त्यज् दोनों का वाच्य व्यापार (हरकत) रहेगा, इस व्यापार से संयोग और विभाग दोनों पैदा होंगे। त्यज् धातु में विभाग का तथा गम् धातु में संयोग का ही उपलक्षण हो—इस में नियामक (व्यवस्थापक) तो कुछ रहेगा नहीं अतः पूर्वोक्त दोष वैसे का वैसा रहेगा, इसलिये आपका समाधान युक्त नहीं। अतः आपको धातु के अर्थ में व्यापार और फल दोनों मानने चाहियें जिससे दोष प्रसक्त न हो सके। तो इन हेतुओं से सकर्मक धातुओं का फलवाचक होना आवश्यक है वरन् त्यज् और गम् की पर्यायताप्रसक्ति की तरह अनेक दोष प्रसक्त होंगे।

अकर्मक धातुओं के फलवाचक होने में तो कोई विवाद ही नहीं उठता, क्योंकि **'स्वार्थ-फल-समानाधिकरण-व्यापार-वाचकत्वम् अकर्मकत्वम्'** यह उनका लक्षण ही उपपन्न नहीं होगा। दूसरी बात यह है कि अकर्मक धातुओं के फल का निर्देश तो धातुपाठ में **'भू सत्तायाम्'** **'एध वृद्धौ'** इत्यादियों में साक्षात् ही किया गया है। अतः धातुओं का चाहे वे सकर्मक हों या अकर्मक, फल और व्यापार दोनों वाच्य रहते हैं। इसीलिये तो भाष्यकार ने **'द्व्यर्थः पचिः'** कहा है। पच् के दो अर्थ होते हैं एक विक्लिति-रूप फल और दूसरा व्यापार[2] ॥७॥

---

[1] **उपलक्षणत्वं नाम तत्पदजन्यबोधविषयत्वेन शक्त्यविषयत्वम्।** उपलक्षण उसे कहते हैं जो किसी शब्द का वाच्य तो नहीं रहता किन्तु उस शब्द के शाब्दबोध में साथ रहता है॥

[2] **अत एव 'द्व्यर्थः पचिः' इति भाष्यं संगच्छते**—भूषणकार के इस वचन को टीकाकारों ने दो प्रकार से लगाया है। दर्पणकार लिखते हैं—"**अत एवेति। धातुमात्रस्य फलवाचकत्वादेवेत्यर्थः। द्व्यर्थपदं फलव्यापारोभयार्थकम् इत्याशयः।**"

अग्रिम कारिका में मीमांसकों के मत का खण्डन किया गया है अतः भूषणकार उस कारिका की अवतरणिका देते हुए प्रथम मीमांसकों के मत का अवतरण करते हैं—

भूषण-सारः—

एवं सिध्यतु फलव्यापारयोर्वाच्यत्वम्। किन्तु आख्यात-वाच्यैव सा भावना, न धातोः। प्राधान्येन प्रतीयमानस्य व्यापारस्य धात्वर्थतायाः "प्रकृति-प्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्" इति न्यायविरुद्धत्वात्। 'तदागमे हि दृश्यते—'इति न्यायविरुद्धत्वाच्च ॥

अच्छा तो फल और व्यापार दोनों की वाच्यता सिद्ध हो इस में हमें (मीमांसकों को) कोई विप्रतिपत्ति नहीं। परन्तु ये दोनों धातु के ही वाच्य हों—इससे हमारा मतभेद है। हम फल को धातु का तथा भावना (व्यापार) को आख्यात (तिङ्प्रत्यय) का वाच्य मानते हैं और यह उचित भी है क्योंकि कहा गया है कि प्रकृति और प्रत्यय दोनों में प्रत्यय के अर्थ की प्रधानता होती है। **'भावप्रधानम् आख्यातम्'** के अनुसार तिङन्तों में भाव अर्थात् व्यापार की प्रधानता मानी गई है—इस प्रकार यदि भावना को प्रत्यय का अर्थ माना जायेगा तो उसकी प्रधानता उपपन्न हो जायेगी। भावना को धातु का अर्थ मानने से तो उक्तन्याय से विरोध आयेगा। किञ्च **'तदागमे हि दृश्यते—'** इस मीमांसाशास्त्रोक्त न्याय[1] से भी आप के मत में विरोध

परन्तु 'काशिका' टीका में इस प्रकार व्याख्या की गई है—**"तण्डुलान् ओदनं पचतीत्यत्र तण्डुलानां विकार्यकर्मत्वम् ओदनस्य च निर्वर्त्यकर्मत्वम् अभिमतम्, तन्निर्वाहार्थम् उत्पत्तिविकृतिरूपफलद्वयर्थकत्वपर एव स भाष्यग्रन्थः। एकस्यैव व्यापारस्योक्तफलद्वयजनकतया यापारद्वयपरत्वे असङ्गतिः स्पष्टैवेति भावः।"**

श्रीकृष्णमित्र ने भी भूषणसारव्याख्या में इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये हैं—**"द्व्यर्थः पचिरिति। विक्लेदनो निर्वर्तना च पचेरर्थः। तण्डुलान् विक्लेदयन् ओदनं निर्वर्तयतीत्यर्थात् ॥**

[1] **'तदागमे हि दृश्यते'** इस न्याय का पूरा स्वरूप **श्रीभैरवमिश्र** ने अपनी टीका में इस प्रकार लिखा है— **"तदागमे हि यद् दृश्यते तत् तस्य वाच्यम् इति न्यायेत्यर्थः। आगमनम् आगमः, प्रयोग इति यावत्। तस्मिन् सति दृश्यते—ज्ञायत**

आयेगा। अतः धातु का वाच्य फल तथा तिङ् की वाच्य भावना (व्यापार) मानना ही युक्त है।

यदि आप हमसे पूछेंगे कि तब आप सकर्मक अकर्मक आदि का लक्षण कैसे करेंगे ? (जैसा कि आपने नैयायिकों से पूछा था और उनसे कोई उत्तर नहीं बन पड़ा था) तो सुनिये हमारी व्यवस्था इस प्रकार रहेगी—

भूषण-सारः—

एवञ्च स्व[1]-युक्ताख्यातार्थ-व्यापार-व्यधिकरण-फल-वाचकत्वं सकर्मकत्वम्, आख्यातार्थ-व्यापाराऽऽश्रयत्वं च कर्तृत्वं वाच्यम् इत्यादिवदन्तं मीमांसकम्मन्यं प्रत्याह—

हमारे मत में सकर्मक का लक्षण होगा—**'स्वयुक्ताख्यातार्थ-व्यापार-व्यधिकरण-फल-वाचकत्वं सकर्मकत्वम्'** अर्थात् धातु से युक्त [2] जो आख्यात

इति तदर्थः"। अर्थात् जो किसी के आने पर जाना जाये वह उसका वाच्य होता है। यहां तिप् आदियों के आने पर ही भावना (व्यापार) प्रतीत होती है अतः भावना तिप् आदियों का ही वाच्य है। इसी न्याय का आश्रय लेकर **रघुनाथ-वर्मा** लिखते हैं-

"जाग्रदादौ बुद्धौ सत्यां दुःखादयो दृश्यन्ते सुषुप्त्यादौ तन्निवृत्तौ नोपलभ्यन्ते —इति तद्धर्मा एव नात्मधर्माः, सुषुप्तावप्युपलब्धिप्रसङ्गाद् इत्यत्र 'तदागमे हि तद् दृश्यते' इति न्यायोऽवतरति। दृश्यते हि तैलादौ अनुद्भूतरूपोद्भूतस्पर्शतेजोऽवयवागमे सन्तापोपलब्धिरिति तद्धर्म एव न तैलादिधर्म इति"। (देखो लौकिकन्यायाञ्जलि भाग तृतीय)

यह न्याय **मीमांसादर्शन** के **'शब्दवत् तूपलभ्यते तदागमे हि दृश्यते तस्य ज्ञानं यथाऽन्येषाम्'** (४.१.१५) इस सूत्र द्वारा समुद्भावित है। विशेषजिज्ञासु वहीं देखें। दर्पण तथा काशिका टीका में भी इस का अच्छा व्याख्यान किया गया है॥

[1] अत्र स्वपदेन प्रकृतो धातुर्गृह्यते अर्थात् यद्धातोः सकर्मकत्वं वक्तुमभीष्टं स धातुः स्वपदेन ग्राह्यः॥

[2] यहां **'धातु से युक्त'** पद का अभिप्राय है—धातु से अव्यवहितोत्तर तिङ् प्रत्यय। अतः 'चैत्रः पचति, भवति घटः' यहां 'पचति' के आख्यात तिप् का भू धातु से और 'भवति' के आख्यात तिप् का पच् धातु से योग नहीं माना जायेगा क्योंकि वे आख्यात उस उस धातु से अव्यवहित परे नहीं हैं॥

(तिङ्) उसके अर्थ व्यापार का व्यधिकरण जो फल, तद्वाचक धातु सकर्मक होती है। अभिप्राय यह है कि धातु से युक्त तिङ् का वाच्यार्थ व्यापार जहां नहीं रहता वहाँ यदि फल रहे तो धातु सकर्मक होती है। यथा—'पचति' यहां 'पच्' धातु से युक्त 'ति' इस आख्यात का व्यापार देवदत्त आदि में रहता है और फल (जो धातु का वाच्य है) विक्लिति चावलों में रहती है। इस प्रकार व्यापार के अधिकरण से भिन्न अधिकरण में फल के रहने से 'पच्' धातु सकर्मक है।

हमारे मत में कर्त्ता का लक्षण होगा—'**आख्यातार्थ- व्यापाराश्रयत्वं कर्तृत्वम्**' अर्थात् तिप् आदि आख्यातों के अर्थ व्यापार का आश्रय 'कर्त्ता' होता है। यथा--'पचति' में तिप् आख्यात के वाच्यार्थ व्यापार का आश्रय देवदत्त आदि है अतः वह 'कर्त्ता' है।

इस प्रकार मीमांसकंमन्य [1] अर्थात् अपने आप को मीमांसक मानने वाले के आक्षेपों का उत्तर देने के लिए अग्रिम-कारिका का अवतरण करते हैं—

कारिका—

तस्मात् करोतिर्धातोः स्याद्व्याख्यानं न त्वसौ तिङाम्।
पक्ववान्, कृतवान् पाकं, किं कृतं पक्वमित्यपि ॥८॥

उस कारण से [2] 'पचति=पाकं करोति' यहां 'करोति' यह पच् धातु का

---

[1] '**मीमांसकम्मन्यः**' का विग्रह है—**आत्मानं मीमांसकं मन्यत इति मीमांसकम्मन्यः** ['आत्ममाने खश् च' (३.२.८३) इति सूत्रेण खशि, 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (६.३.६९) इत्युपपदस्य मुमागमः]। इस शब्द से ग्रन्थकार पुनः यह द्योतित कराना चाहते हैं कि मीमांसाशास्त्र के साथ इस व्याकरणशास्त्र का कोई विरोध नहीं, विरोध तो उसके कुव्याख्याकारों से है जो अपने आप को मीमांसक कहलाने का झूठा दम्भ भरते हैं [तुलना करें 'मङ्गलाचरण' के चतुर्थश्लोक के उत्तरार्ध के साथ]॥

[2] यहां कारण कारिकाकार के हृदय में स्थित है, उसे उन्होंने नहीं बताया। इसका विश्लेषण अनुपद कौण्डभट्ट करेंगे। 'सार' की व्याख्या देखें॥

ही विवरण है आख्यात (तिङ्) का नहीं । अन्यथा—'पक्ववान्=कृतवान् पाकम्; किं कृतम् ? पक्वम्' इत्यादि उपपन्न न हो सकेंगे ॥

भूषणसारः—

तस्मात्—अभिप्रायस्थहेतोः । स चेत्थम्—फलमात्रस्य धात्वर्थत्वे 'ग्रामो गमनवान्' इति प्रतीत्यापत्तिः, संयोगाश्रयत्वात् । फलाऽनुत्पाददशायां व्यापारसत्त्वे 'पाको भवति' इत्यनापत्तिः, व्यापारविगमे फलसत्त्वे 'पाको विद्यते' इत्यापत्तिश्च । यत्तु भावप्रत्ययस्य घञादेरनुकूलव्यापारवाचकत्वाद् नाऽनुपपत्तिरिति, तन्न । कर्त्राख्यातवत् 'कर्त्तरि कृत्' (३.४.६७) इत्यत एव तद्विधानलाभे भावे विधायकाऽनुशासन-वैयर्थ्यापत्तेः, तद्विरोधाऽऽपत्तेश्च [1] ॥

यहां '**तस्मात्**' पद बुद्धिस्थ हेतु को दृष्टि में रखकर लिखा गया है [2] । वह हेतु कारिकाकार की बुद्धि में इस प्रकार स्थित था—

(क) यदि धातु का फलमात्र ही अर्थ मानेंगे तो '**ग्रामो गमनवान्**' यह प्रयोग प्रसक्त होगा (जो वादी प्रतिवादी दोनों की दृष्टि में अनिष्ट है) क्योंकि तब गम् धातु का अर्थ केवल फल ही होगा और वह फल यहां संयोग ही होगा। तब गम् धातु से भाव में ल्युट् प्रत्यय करने पर बनाए गये 'गमन' शब्द का अर्थ भी 'संयोग' होगा। संयोग सदा उभयनिष्ठ हुआ करता है, वह देवदत्त आदि कर्त्ता तथा ग्राम आदि कर्म दोनों में समानरूपेण अवस्थित रहता है । तब जैसे '**देवदत्तो गमनवान्**' कहा

---

[1] अत्र यद्वक्तव्यं तद् भाषाव्याख्यानटिप्पण्यामवलोकनीयम् ॥

[2] 'तद्' शब्द हमेशा पूर्व का परामर्श कराया करता है। पहले हेतु का प्रदर्शन कर के बाद में '**तस्मात्**' कहा जाता है । परन्तु यहां कारिकाकार ने विना हेतु का प्रदर्शन किये '**तस्मात्**' पद पढ़ा है । यहां हेतु उन की बुद्धि में स्थित था उसी को लक्ष्य में रख कर उन्होंने '**तस्मात्**' का प्रयोग किया है ॥

जाता है वैसे '**ग्रामो गमनवान्**' भी प्रसक्त होगा। अतः ऐसे प्रयोगों की निवृत्ति के लिए धातु का केवल फल अर्थ मानना उचित नहीं है अपितु व्यापार-सहित फलार्थ मानने से कोई दोष नहीं आता।

(ख) यदि धातुका फलमात्र ही अर्थ होगा तो व्यापार के होते हुए जब तक फल की उत्पत्ति नहीं होगी तब तक '**पाको भवति**' यह प्रयोग नहीं कर सकेंगे। परन्तु लोक में फल चाहे पैदा न हुआ हो व्यापार के होते हुए 'पाको भवति' आदि प्रयोग हुआ ही करते हैं। अतः सिद्ध होता है कि धातु का फल अर्थ ही नहीं अपि तु फलानुकूल व्यापार अर्थ है।

(ग) यदि धातु का फलमात्र ही अर्थ होगा तो व्यापार के न रहते फल के रहने पर '**पाको विद्यते**' ऐसा प्रयोग भी करना पड़ेगा। परन्तु यह लोक व्यवहार के सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि लोक में विना व्यापार के ऐसे प्रयोग नहीं किये जाते। अतः इससे सिद्ध होता है कि धातु का केवल फल अर्थ नहीं अपि तु फलानुकूल व्यापार अर्थ है।

यदि आप यह कहें कि ल्युट् घञ् आदि भाववाचक प्रत्ययों का अर्थ फलानुकूल व्यापार है अतः '**गमन**' का अर्थ संयोगानुकूल व्यापार और '**पाक**' का अर्थ विक्लित्यनुकूल व्यापार करने से उपर्युक्त स्थलों पर कोई दोष नहीं आयेगा[1] तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि तब '**भावे**' (३.३.१८) सूत्र का विधान व्यर्थ हो जायेगा। तथाहि—जैसे आप '**लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः**' (३.४.६९) सूत्र में अनुवर्तित 'कर्त्तरि' पद का कर्तृत्व अर्थ कर व्यापार में प्रत्यय स्वीकार करते हैं वैसे आपके मतानुसार '**कर्त्तरि कृत्**' (३.४.६७) सूत्र द्वारा घञादियों का भी व्यापार अर्थ में विधान सम्भव था, पुनः उसके लिए '**भावे**' (३.३.१८) सूत्र का क्यों निर्माण किया गया है? अतः इस सूत्र की निष्फलता के भय से तथा उस

---

[1] जब ल्युडन्त '**गमन**' शब्द का अर्थ संयोगानुकूल व्यापार होगा तो वह ग्राम में न पाये जाने से '**ग्रामो गमनवान्**' यह प्रयोग प्रसक्त नहीं होगा। इसी प्रकार घञन्त '**पाक**' का अर्थ विक्लित्यनुकूल व्यापार करने से फल चाहे पैदा न हो रहा हो '**पाको भवति**' कहा जा सकेगा, और जहां व्यापार न होगा वहां फल के होने पर भी '**पाको विद्यते**' नहीं कह सकेंगे। अतः उपर्युक्त किसी भी प्रकार का दोष प्रसक्त नहीं होगा॥

विरोध के कारण[1] घञ् ल्युट् आदि प्रत्ययों को व्यापारार्थक नहीं माना जा सकता। इसप्रकार **'ग्रामो गमनवान्'** आदि अनिष्ट रूपों की प्रसक्ति पूर्ववत् स्थित है॥

भूषणसारः—

अथ व्यापारोऽपि धात्वर्थ इत्यभ्युपेयम् इति चेत्? तर्हि धातुत एव सकल-व्यापार-लाभ-सम्भवेन आख्यातस्य पृथक्शक्ति-कल्पने गौरवम् इति॥

अब यदि आप यह कहें कि हम फल के साथ व्यापार को भी धातु का वाच्यार्थ मान लेंगे जैसाकि आप (वैयाकरण) मानते हैं—तो यह आपके मत में महान् गौरवदोषोत्पादक होगा। क्योंकि तब आपको आख्यात (तिङ्) प्रत्ययों का व्यापार अर्थ मानने की क्या आवश्कता? वह तो धातुलभ्य है ही। अर्थ वह होता है जो अनन्यलभ्य हो—**'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः'** यह पीछे (पृष्ठ २६ पर) स्पष्ट कर चुके हैं। अतः आपका धातु का फलानुकूल व्यापार अर्थ मानना तो ठीक रहेगा पर उसके साथ तिङों का भी व्यापार (भावना) अर्थ मानना युक्त नहीं रहेगा। तब आपको वैयाकरणों की तरह तिङों के कर्त्ता व कर्म अर्थ मानने ही पड़ेंगे।

यहां तक भूषणकार ने **'तस्मात्'** पद की व्याख्या की है। अर्थात्

---

[1] **'तद्विरोधापत्तेः'** यह भूषणकार का वचन टीकाकारों के लिये एक पहेली है। जब **'भावे विधायकाऽनुशासनवैयर्थ्याऽऽपत्तेः'** यह कह दिया गया तो पुनः **'तद्विरोधापत्तेश्च'** द्वारा कौन सी नूतन आपत्ति प्रतिपादन की जा रही है—यह टीकाकारों की समझ से परे की चीज़ हैं। अत एव दर्पणटीकाकार ने यहां **'उक्तिवैचित्र्यमेतत्'** यह लिखा है। काशिकाकार श्री हरिशास्त्रीजी यहां **'तद्भाष्यविरोधापत्तेश्च'** इस पाठ की कल्पना करते हैं। उनका आशय यह है कि 'भावे' (३.३.१८) सूत्र के भाष्य में **'सत्त्वभूतो भावो घञादेरर्थः'** इस कहे गये वचन के साथ भी तब विरोध पड़ेगा। अर्थात् आप तो घञादि का अर्थ व्यापार मान रहे हैं परन्तु भाष्यकार तो उसे धात्वर्थ ही मान रहे हैं जो केवल सत्त्वावस्थापन्न हो चुका है॥

कारिकाकार ने जिन हेतुओं को बुद्धि में रखकर '**तस्मात्**' कहा है वे हेतु उपर्युक्त ही हैं ।।

भूषणसारः—

'पचति' इत्यस्य 'पाकं करोति' इति विवरणात्मा करोतिः धातोरेव व्याख्यानम्—विवरणम् । अतस्तदपि[1] नाख्यातार्थत्वसाधकम् इति भावः ।।

'पचति' पद की व्याख्या 'पाकं करोति' से की जाती है । 'पचति' के दो भाग हैं—एक 'पच्' धातु और दूसरा 'ति' प्रत्यय । 'पच्' धातु का व्याख्यान 'पाकम्' से और 'ति' प्रत्यय का 'करोति' से किया गया है—ऐसा मीमांसकों का मत है । इस पर वैयाकरणों का कथन है कि यहां 'करोति' द्वारा 'ति' प्रत्यय का व्याख्यान नहीं किया गया अपितु 'पाकम्' और 'कृ' से पच् धातु का ही व्याख्यान किया गया है । 'ति' का व्याख्यान तो 'करोति' में लगे 'ति' से ही किया गया है। अतः 'पाकम्' यह फल तथा 'कृ' यह व्यापार दोनों मिलकर 'पच्' धातु का व्याख्यान है । इस प्रकार फल और व्यापार दोनों धातु के ही अर्थ ठहरते हैं। इसलिए 'पचति—पाकं करोति' इस व्याख्यान से **'आख्यात का ही अर्थ व्यापार होता है'** यह मीमांसकों का मत सिद्ध नहीं होता है ।

किञ्च मीमांसकों के उपर्युक्त विवरण से भी वैयाकरणों के मत की ही पुष्टि होती है । तथाहि—आख्यातप्रत्ययों के सङ्ख्या-काल-व्यापार ये तीन अर्थ मीमांसकों को स्वीकृत हैं । यदि 'पचति—पाकं करोति' यहां 'पचति' में लगे 'ति' का व्याख्यान 'करोति' को मान भी लें जैसाकि मीमांसक कहते हैं तो 'करोति' पद संख्या-काल-व्यापार तीनों का बोधक होगा । इनमें व्यापार का बोधक 'कृ' धातु, और संख्या-काल का बोधक 'करोति' में लगा 'ति' होगा । इस प्रकार मीमांसकों के मतानुसार भी 'कृ' धातु से व्यापार कहा जाता है—यह सुतरां सिद्ध हो जायेगा । इस तरह जब वे 'कृ' धातु को व्यापार का वाचक मान ही रहे हैं तो वैयाकरणों के

---

[1] यहां '**अपि**' शब्द इस बात को द्योतित करता है कि जैसे '**प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्**' यह नियम आप की बात को सिद्ध नहीं करता वैसे यह व्याख्यान भी सिद्ध नहीं करता । '**प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः—**' यह नियम कैसे सिद्ध नहीं करता—यह अभी आगे चलकर कहने ही वाले हैं ।।

मतसे उनके मतमें क्या अन्तर रह जाता है ? वैयाकरण भी तो यही कहते हैं कि धातु केवल फलवाची नहीं अपितु व्यापार का वाचक भी होता है। इत्थं न चाहते हुए भी मीमांसकों का अपना व्याख्यान वैयाकरणों के मत को पुष्ट कर रहा है। यह यहां गूढाशय समझना चाहिये। तभी तो भाष्यकार ने 'भूवादयो धातवः' (१.३.१) सूत्र के भाष्य में यही आशय व्यक्त किया है— **"कथं ज्ञायते क्रियावचनाः पचादयः ? यदेषां करोतिना सामानाधिकरण्यम्, किं करोति ? पचतीति"**। यहां स्पष्ट 'कृ' को क्रियावाचक स्वीकार किया गया है॥

भूषणसार :—

मीमांसकोक्तं बाधकमुद्धरन् तन्मतं दूषयति—'न तु' इत्यादिना। नाऽसौ तिङां व्याख्यानम्, 'पक्ववान्' इत्यादावनन्वयाऽऽपत्तेः। अयं भावः—'प्रकृति-प्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्' इत्यत्र हि, 'विशेष्यतया प्रकृत्यर्थ-प्रकारक-बोधं प्रति तदुत्तर-प्रत्यय-जन्योपस्थितिर्हेतुः' इति कार्यकारणभावः फलितः। तथा च 'पक्ववान्' इत्यत्र पाकः कर्मकारकं, क्तवतु-प्रत्ययार्थः कर्तृकारकम्। तयोश्चाऽरुणाधिकरणोक्तरीत्या[1] वक्ष्यमाणाऽस्मद्रीत्या चाऽन्वयाऽसम्भव इति प्रकृति-प्रत्ययार्थयोर-

---

[1] **"अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति"** इत्यत्र 'अरुणया' इत्यादिपदत्रयेऽपि तृतीयोपात्तस्य करणकारकस्य पार्थक्येन क्रयभावनायामन्वयः। आरुण्यकरणिका पिङ्गाक्षीकरणिका एकहायनीकरणिका च या भावना तादृशभावनासाध्यभूतेन क्रयेण सोमं भावयेद् इति बोधः। या चारुण्यगुणविशिष्टा गौः सैव पिङ्गलवर्णाक्षिमती सैव चैकहायनीविशिष्टा इत्येवम् अभेदबोधस्तु पार्ष्ठिकः प्रत्यासत्तिन्यायाज्जायते। तथा च कारकाणां क्रियायामेवान्वयो न तु तेषां परस्परम् अन्वय इति स्पष्टमेव प्रतिपादितम्॥

अत्रायं विशेषो बोध्यः—यन्मीमांसकमते **'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति'** इत्यादौ विशेष्यविशेषणानां सर्वेषां क्रियायामन्वयः, परस्परमन्वयस्तु पार्ष्ठिको मानसः। वैयाकरणमते तु विशेषणविशिष्टविशेष्यस्य क्रियायामन्वयः। अत एव **'नीलोत्पलम्'** इत्यादौ सामर्थ्यात् समास उपपद्यते॥

न्वयनियमस्यैवाऽभावे[1] क्व प्राधान्यबोधक उक्तकार्यकारणभावः?

मीमांसकों के **'प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्'** इस पूर्वोक्त दोष का उद्धार करते हुए कारिकाकार ने कहा है—**'न त्वसौ तिङाम्'**। अर्थात् 'पचति—पाकं करोति' यहां कृ धातु तिङों का व्याख्यान नहीं अपितु पच् धातु का ही विवरण है, अन्यथा 'पक्ववान्' आदियों में अन्वय न हो सकेगा। यहां कारिकाकार के गूढ आशय का उद्घाटन करते हुए भूषणकार कहते हैं कि मीमांसकों के **'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्'** (प्रकृति और प्रत्यय सम्बद्धार्थ का बोध कराते हैं उनमें प्रत्ययार्थ की प्रधानता होती है) इस कथन से यह आशय व्यक्त होता है कि प्रकृत्यर्थ-प्रकारक बोध[2] के प्रति उस प्रकृति से आगे आने वाले प्रत्यय के अर्थ की उपस्थिति विशेष्य होने के नाते कारण है। इस प्रकार 'पक्ववान्' यहां पर 'पाकः' कर्मकारक तथा क्तवतुप्रत्यय का अर्थ कर्तृकारक बनेगा। परन्तु उन दोनों का मीमांसकोक्त अरुणाधिकरण की रीति से[3] अथवा आगे कही

---

[1] 'अभावेन' इति पाठः श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणा संस्करणे विद्यते ।।

[2] जिस बोध में प्रकृति का अर्थ प्रकार अर्थात् विशेषण बनता है उस बोध को **'प्रकृत्यर्थप्रकारक'** बोध कहते हैं। **प्रकृत्यर्थः प्रकारो विशेषणीभूतो यस्यासौ प्रकृत्यर्थ-प्रकारको बोधः**। 'पक्ववान्' (पाक कर्म को कर चुकने वाला) इस बोध में प्रकृति का अर्थ **'पाक'** विशेषण है और प्रत्यय का अर्थ **'कर चुकने वाला'** विशेष्य है। कैसा कर चुकने वाला ? पाक का कर चुकने वाला——इस प्रकार प्रकृत्यर्थ विशेषण ही ठहरता है ।।

[3] पीछे द्वितीयकारिका की व्याख्या में अरुणाधिकरण को स्पष्ट किया जा चुका है। सप्तदशी कारिका की व्याख्या के अन्त में बताया जायेगा कि सब पदों का पहले क्रिया में अन्वय हुआ करता है और बाद में परस्पर। इस के अनुसार 'पक्व-वान्' में प्रकृति का अर्थ 'पाक' (कर्म) तथा प्रत्यय का अर्थ **'कर्त्ता'** कैसे सम्भव हो सकेगा, क्योंकि क्रिया तो कोई स्वीकार की नहीं गई जिससे इन दोनों का उस में अन्वय होकर पुनः परस्पर कर्मभाव और कर्तृभाव से अन्वय होता। अतः इन दोनों का परस्पर अन्वय—जो क्रिया में अन्वित होने से पहले नहीं हो सकता—सम्भव नहीं ।।

जाने वाली वैयाकरणों की रीति से[1] परस्पर अन्वय असम्भव है। जब प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ का परस्पर अन्वय ही नहीं हो सकेगा तो उन दोनों में कार्यकारणभाव भला कैसे उपपन्न हो सकेगा ?

वक्तव्य—मीमांसक लोग धातु का अर्थ फल ही मानते हैं, व्यापार (भावना) को आख्यात (तिङ्) का अर्थ स्वीकार करते हैं। परन्तु 'पक्ववान्' में आख्यात तो कोई है नहीं अतः व्यापार के होने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार उनके मतानुसार पच् धातु का अर्थ फल अर्थात् पाक (विक्लिति) और प्रत्यय का अर्थ 'करने वाला' अर्थात् कर्त्ता है। करने वाला, किसका करने वाला ? पाक का करने वाला। इस प्रकार 'पाककर्मक कर्त्ता' यह बोध पर्यवसित होता है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यहां व्यापार तो कोई है नहीं, उसके विना 'पाक' का कर्म होना तथा प्रत्ययार्थ का कर्त्ता होना—यह परस्पर कैसे अन्वित होगा ? इसके लिये तो कोई क्रिया ही होनी चाहिये। अतः क्रिया के अभाव से मीमांसक इसका परस्पर अन्वय नहीं कर सकते। परन्तु वैयाकरणों के मत में ऐसा कोई दोष नहीं आता। वे धातु का अर्थ फल और व्यापार दोनों स्वीकार करते हैं अतः जब कर्त्ता में प्रत्यय होता है तो वह उस धातु के व्यापार में सीधा अन्वित हो जाता है॥

भूषणसारः—

न च—

"सम्बन्धमात्रमुक्तञ्च श्रुत्या धात्वर्थ-भावयोः।
तदेकांश-निवेशे तु व्यापारोऽस्या न विद्यते॥"

इति भट्टपादोक्त-रीत्या सम्बन्ध-सामान्येन कारकाणामन्वयः शङ्क्यः, योग्यता-विरहात्। अन्वय-प्रयोजक-रूपवत्त्वस्य

---

[1] **'वक्ष्यमाण-अस्मद्रीत्या'**—आगे सुबर्थनिर्णय में वैयाकरणों की रीति का वर्णन किया जायेगा। वैयाकरणों की रीति के अनुसार भी कारक का लक्षण है—**'क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्'** अर्थात् क्रिया के जनक को कारक कहते हैं। जब उपर्युक्त स्थल में मीमांसकों के अनुसार क्रिया (भावना) ही नहीं तो **'यह कर्म है'**, **'यह कर्त्ता है'** यह कैसे व्यक्त किया जा सकता है॥

तत्त्वात् । क्रियात्वमेव[1] हि कारकाऽन्वयिताऽवच्छेदकम् इति वक्ष्यते । तदेतद् आविष्कर्त्तुं विवरणेन धात्वर्थ-क्तवत्वर्थयोः कर्मत्व-कर्तृत्वे दर्शयति—'कृतवान् पाकम्' इति ॥

अब पूर्वपक्षी वैयाकरणों की बात को काटता हुआ शङ्का करता है—

श्रीकुमारिलभट्ट ने '**वाजपेयेन यजेत**' यहां 'यजेत' का मर्म समझाते हुए एक श्लोक लिखा है—

"सम्बन्धमात्रमुक्तञ्च श्रुत्या धात्वर्थ-भावयोः ।
तदेकांशनिवेशे तु व्यापारोऽस्या न विद्यते ॥"

अर्थात् धातु के अर्थ (फल) का आख्यात के वाच्य भावना के साथ श्रुतिद्वारा केवल सम्बन्ध-सामान्य ही प्रतिपादित किया जाता है, उस सम्बन्ध के एकदेश—कर्म करण आदि विशेष बतलाने में श्रुति का व्यापार अर्थात् सामर्थ्य नहीं है । अतः 'यजेत' पद में यज् धातु के फल याग के साथ भावना का सम्बन्ध-सामान्य समझकर 'यागसम्बन्धी भावना' ऐसा श्रुति-सम्मत अर्थ समझना चाहिये, न कि 'यागकरणिका भावना' ।

तो जैसे 'यजेत' में भट्टपादों ने धात्वर्थ और भावना में सम्बन्ध-सामान्य स्थापित किया है वैसे 'पक्ववान्' में कर्म और क्तवत्वर्थ में भी सम्बन्ध-सामान्य स्थापित कर के 'पाक सम्बन्धी कर्त्ता' ऐसा अर्थ किया जा सकता है । अतः अन्वय के उपपन्न हो जाने से पूर्वोक्त दोष नहीं आता ।

पूर्वपक्षी के इस समाधान का श्रीकौण्डभट्ट खण्डन करते हुए कहते हैं कि—कारकों में इस प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती । क्योंकि विना क्रिया के उनमें परस्पर अन्वित होने की योग्यता नहीं होती और योग्यता के विना पारस्परिक अन्वय कभी नहीं हो सकता । अतः क्रिया में अन्वित होना ही कारकों की योग्यता है[2] । क्रिया का क्रियात्व भी यही

---

[1] 'क्रियान्वयित्वमेव' इति क्वचिन्मुद्रितः पाठोऽपपाठ एवेत्यवसेयम् ॥

[2] केवल पदों का तत्तदर्थ में समर्थ होना ही यहां योग्यता नहीं समझनी चाहिये । यहां योग्यता का अभिप्राय अन्वयप्रयोजकता से है अर्थात् पदों की ऐसी योग्यता जो पारस्परिक अन्वय में प्रयोजक अर्थात् हेतु हो । यदि तत्तदर्थ में सामर्थ्य

है कि उसके कारण कारक परस्पर अन्वित होते हैं, यदि वह न हो तो कारक परस्पर अन्वित न हो सकें। अतः आगे चलकर न्याय की परिभाषा में क्रियात्व को ही कारकों का अन्वयितावच्छेदक [1] सिद्ध किया जायेगा।

'पक्ववान्—'पाकं कृतवान्' इस विवरण से भी धात्वर्थ का कर्म होना और क्तवत्वर्थ का कर्त्ता होना सिद्ध होता है। अतः कर्म और कर्त्ता के पारस्परिक अन्वय की सिद्धि के लिए व्यापार को स्वीकार करना अत्यावश्यक है। इससे सिद्ध होता है कि धातु का अर्थ केवल फल ही नहीं अपि तु इसके साथ व्यापार को भी मानना चाहिए।

यदि व्यापार के विना आप कारकों का पारस्परिक अन्वय नहीं मानते तो क्तवतु के अर्थ कर्त्ता से भावना का आक्षेप कर लिया जायेगा (क्योंकि प्रत्येक कर्त्ता के साथ कोई न कोई भावना अवश्य सम्बद्ध हुआ करती है) और तब उस आक्षिप्त भावना (व्यापार) में कर्म और कर्त्ता दोनों को अन्वित कर पुनः उनको परस्पर अन्वित कर लिया जायेगा। इस प्रकार मीमांसकों के मत में कोई दोष नहीं आयेगा। पूर्वपक्षी के इस सम्भावित उत्तर की कल्पना कर श्रीकौण्डभट्ट अग्रिम सन्दर्भ लिखते हैं—

भूषणसारः—

वस्तुतः 'प्रत्ययार्थः प्रधानम्' इत्यस्य यः प्रधानं स प्रत्ययार्थ एवेति वा, यः प्रत्ययार्थः स प्रधानमेवेति वा नाऽर्थः। 'अजा'

को ही योग्यता मान लेंगे तो '**घटेन जलमाहर**' यहां घट से सच्छिद्र घट का भी ग्रहण हो जायेगा। परन्तु उसका जलानयन क्रिया में सामर्थ्य न होने से अच्छिद्र घट की ही यहां अन्वय में प्रयोजकता मानी जायेगी। इसी प्रकार यहां कारकों के पारस्परिक अन्वय में '**क्रिया में अन्वित होना**' ही योग्यता समझनी चाहिये ॥

[1] जिस धर्म से युक्त में अन्वय होता है उस धर्म को अन्वयितावच्छेदक कहते हैं। क्रियात्वधर्म से युक्त में कारकों का अन्वय होता है अतः क्रियात्व ही कारकों की अन्वयितावच्छेदक है। **यदवच्छिन्नेऽन्वयस्तस्यैव ह्यन्वयितावच्छेदकत्वं ज्ञेयम्। कारकाणां क्रियात्वावच्छिन्नेऽन्वयनियमात् क्रियात्वमेव हि कारकान्वयितावच्छेदकम् इति भावः ॥**

'अश्वा' 'छागी' इत्यत्र स्त्रीप्रत्ययार्थस्त्रीत्वस्यैव[1] प्राधान्याऽऽपत्ते-श्छाग्यादेरनापत्तेश्च । किन्तूत्सर्गोऽयम् । विशेष्यत्वादिना बोधस्तु तथा व्युत्पत्त्यनुरोधात् । अत एव नैयायिकानां प्रथमान्तविशेष्यक एव बोधः । लक्षणायाम् आलङ्कारिकाणां शक्यतावच्छेदकप्रकारक एव बोधो न नैयायिकादीनाम् । घटः कर्मत्वम् आनयनं कृतिरित्यादौ विपर्ययेणाऽपि व्युत्पन्नानां नैयायिकनव्यादीनां[2] बोधो, न तद्व्युत्पत्तिरहितानाम्, अन्येषां तन्निराकाङ्क्षमेवेत्यादिकं सङ्गच्छते । अत एव 'प्रधान-प्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्य-प्रमाणत्वाद्' (१.२.५६) इत्याह भगवान् पाणिनिः । प्रधानं प्रत्ययार्थ इति वचनं न कार्यम्[3], अर्थस्य—अर्थावबोधस्य अन्य-प्रमाणत्वाद्—व्युत्पत्त्यनुसारित्वाद् इति हि तदर्थः[4]। एवं सत्यपि नियामकाऽपेक्षणे च 'भावप्रधानम् आख्यातम्' (निरुक्ते १.१) इति वचनमेव गृह्यतामिति सुधीभिरूह्यम् ॥

वस्तुतः '**प्रकृति-प्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तत्र प्रत्ययार्थः प्रधानम्**' यहाँ जो **प्रत्ययार्थः प्रधानम्**' कहा गया है उसका यह अभिप्राय नहीं कि (क) जो प्रधान होगा वह प्रत्ययार्थ होगा या (ख) जो प्रत्ययार्थ होगा वह प्रधान होगा। इस प्रकार मानने से '**अजा, अश्वा, छागी**' आदि में स्त्रीप्रत्यय के अर्थ स्त्रीत्व की ही प्रधानता माननी पड़ेगी, छागी आदि प्रकृत्यर्थ की प्रधानता स्वीकार न करने पड़ेगी—जो सर्वथा लोकानुभव के

---

[1] 'स्त्रीप्रत्ययार्थे स्त्रीत्वस्यैव' इति पाठः क्वचिदुपलभ्यते ॥

[2] ननु 'नैयायिकाश्च ते नव्याः' इति विग्रहे '**विशेषणं विशेष्येण बहुलम्**' (२.१.५६) इति कर्मधारयसमासे विशेषणस्य नव्येतिपदस्य पूर्वनिपाते '**नव्यनैयायिकाः**' इत्युचितम्, तत्कथं '**नैयायिकनव्याः**' इति चेच्छृणु—न्यायमधीयते विदन्ति वा नैयायिकाः, इत्येवंरीत्या नैयायिकशब्दः क्रियावचनः । 'नैयायिकाश्च ते नव्याः' इति विग्रहे 'पाचक-पाठकः, पाठक-पाचकः' इत्यादिवद् अनियमेन पूर्वनिपातः ॥

[3] 'न' इत्यनुवर्त्य न कार्यम्—इति पाठान्तरम् ॥

[4] प्रधानप्रत्ययेत्यादिसूत्रार्थ इति भावः ॥

विरुद्ध है [1]। अतः **'प्रत्ययार्थः प्रधानम्'** इसे केवल उत्सर्ग (सामान्यनियम) ही समझना चाहिए जो नानाविध अपवादों से आकीर्ण है [2]। यदि कहो कि 'पचति' आदि में भावनाप्रधान बोधके कारण हम यहां प्रत्ययार्थको प्रधान मान रहे हैं तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि बोध तो अपने अपने शास्त्रों की व्युत्पत्ति (ज्ञानार्जित संस्कारविशेष) के अनुसार ही हुआ करता है; जिस जिस ने जैसा जैसा शास्त्र पढ़ा या मन में बिठा लिया होता है उस उस को बोध भी उस उस शास्त्र के प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुसार ही होता है। यही कारण है कि नैयायिकों को प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक बोध होता है परन्तु वैयाकरणों और मीमांसकों को इससे विपरीत भावनाप्रधान बोध होता है [3]। किञ्च यही कारण है कि आलङ्कारिकों को लक्षणा में शक्यतावच्छेदक-प्रकारक बोध होता है परन्तु नैयायिकों को वैसा नहीं होता [4]।

---

[1] टाप्, ङीप् आदि स्त्रीप्रत्यय प्रकृत्यर्थ के स्त्रीत्व के ही द्योतक हैं। विशेष्य प्रकृत्यर्थ ही रहता है स्त्रीत्व आदि उसके विशेषण होते हैं। अतः विशेष्यत्वेन प्रकृत्यर्थ ही प्रधान माना जाता है स्त्रीत्व नहीं। अजा का अर्थ है स्त्रीत्वविशिष्ट अजव्यक्ति; अश्वा का अर्थ है स्त्रीत्वविशिष्ट अश्वव्यक्ति; और छागी का अर्थ है स्त्रीत्वविशिष्ट छागव्यक्ति। यहां उपर्युक्त दोनों नियमों का विरोध पड़ता है। यहां जो प्रधान है वह प्रत्ययार्थ नहीं किन्तु प्रकृत्यर्थ है। इसी प्रकार यहां जो प्रत्ययार्थ (स्त्रीत्व) है वह प्रधान नहीं किन्तु अप्रधान है॥

[2] अतएव **'प्रत्ययार्थः प्रधानम्'** इसे केवल कृत्तद्धितविषयक मानना ही उचित है, अन्यत्र नहीं॥

[3] यह सब पीछे द्वितीयकारिका के व्याख्यान में स्पष्ट कर चुके हैं वहीं देखें॥

[4] '**गङ्गायां घोषः**' यहां गङ्गापद से आलंकारिकों के मत में सीधा गङ्गातटरूप लक्ष्यार्थ का बोध नहीं होता अपि तु गङ्गापद से पहले शक्यताऽवच्छेदक 'गङ्गात्व' का बोध होकर पुनः उससे लक्ष्यार्थका बोध होता है। इसीलिये तो उससे विलक्षणशैत्यादि की प्रतीति होती है। अन्यथा **'गङ्गायां घोषः'** और **'गङ्गातटे घोषः'** में अन्तर ही क्या रह जायेगा ? इसी प्रकार—

"जाता लता हि शैले जातु लतायां न जायते शैलः।
सम्प्रति तद्विपरीतं कनकलतायां गिरिद्वयं जातम्॥"

अर्थात् पहाड़ पर लता उत्पन्न होती है परन्तु लता पर तो पहाड़ कभी उत्पन्न नहीं होता, लेकिन यहां (कामिनी के वक्षः को लक्ष्य करके) कनकलता पर दो पहाड़ों

'घटः कर्मत्वम्,आनयनं कृतिः' इत्यादियों में विपरीतक्रम से भी नवीननैयायिकों को—जो इस प्रकार की व्युत्पत्ति में अभ्यस्त होते हैं—'घटमानय' का बोध होने लगता है, परन्तु दूसरे लोगों को—जो इसप्रकार की व्युत्पत्ति नहीं रखते—ये पद निराकाङ्क्ष ही प्रतीत होते हैं। तो यह सब स्व-स्व-शास्त्र की व्युत्पत्ति का ही खेल है, इसमें **'प्रत्ययार्थः प्रधानम्'** का कुछ भी हाथ नहीं। भगवान् पाणिनि ने भी यही बात अपने सूत्र में कही है—**"प्रधानप्रत्ययाऽर्थवचनम् अर्थस्याऽन्यप्रमाणत्वात्"** (१.२.५६)। यहां 'अशिष्यम्' पद की पीछे से अनुवृत्ति आ रही है अतः सूत्र का यह अर्थ निष्पन्न होता है—प्रत्ययार्थ की प्रधानता का वचन अशिष्य अर्थात् प्रतिपादन करने के योग्य नहीं, क्योंकि 'कौन सा अर्थ प्रधान है और कौन सा

के उत्पन्न हो जाने से विपरीत हो गया है। यहां 'कनकलता' का लक्ष्यार्थ 'कामिनी', तथा 'गिरिद्वय' का लक्ष्यार्थ 'कुचद्वय' है। परन्तु सीधा लक्ष्यार्थ का यदि बोध स्वीकार करें तो **'तद्विपरीतं जातम्'** यह चमत्कार (जिसे कवि प्रतिपादन करना चाहता है) घटित नहीं हो सकता। अतः कनकलता और गिरिद्वय पदों से प्रथम शक्यतावच्छेदक कनकलतात्व और गिरिद्वयत्व का बोध होकर तद्द्वारा लक्ष्यार्थ का बोध स्वीकार करना उचित है—ऐसा आलंकारिक लोगों का कहना है। परन्तु नैयायिक लोग ऐसा नहीं मानते। उनका कथन है कि तीरत्व आदि लक्ष्यार्थ का सीधा ही बोध होता है, 'गङ्गायां घोषः' ऐसा कहने से उक्तिवैचित्र्य के कारण ही विलक्षण-शैत्यपावनत्वादि की प्रतीति होती है। इस विषय में वे यहां एक उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं—

"कचतस्त्रस्यति वदनं वदनात् कुचमण्डलं त्रसति।
मध्याद् बिभेति नयनं नयनादधरः समुद्विजति॥"

अर्थात् राहु से चन्द्र डरता है; चन्द्र से चक्रवाक दम्पती डरते हैं; सिंह से हरिण डरता है और हरिण से प्रवाल डरता है। यहां लक्षणा द्वारा कचपद से राहु, वदन से चन्द्र, कुचमण्डल से चक्रवाकदम्पती, मध्य से सिंह, नयन से हरिण, तथा अधर से प्रवाल का ग्रहण होता है। यदि शक्यतावच्छेदकप्रकारक बोध होता तो कच का शक्यार्थ 'केश' पहले बुद्धि में आता और लक्ष्यार्थ राहु आदि बाद में बुद्धिस्थ होते। इससे कविप्रतिपाद्य उद्वेजनरूप चमत्कार कुछ भी न भासता। अतः सीधा लक्ष्यार्थ का ही बोध होता है, शक्यतावच्छेदकप्रकारक लक्ष्यार्थ का बोध नहीं। इन दोनों मतों पर बड़े लम्बे चौड़े शास्त्रार्थ हैं, उनका यहां अवसर नहीं अतः विशेष-जिज्ञासु आकरग्रन्थों का अवलोकन करें॥

अप्रधान' इस बात का निश्चय स्व-स्व-शास्त्रीयव्युत्पत्ति के अनुसार ही हुआ करता है।

यदि कहो कि कहीं प्रत्ययार्थ प्रधान होता है और कहीं वह विशेषणत्वेन अप्रधान, इस में आखिर कोई न कोई नियामक तो होना ही चाहिए। तो इसका उत्तर भूषणकार यह देते हैं कि निरुक्त का **'भावप्रधानम् आख्यातम्'** (निरुक्त अ० १, खण्ड० १) यह वचन ही इसमें नियामक है। यहां आख्यात अर्थात् तिङन्तों को भावनाप्रधान कहा गया है [१], अतः तिङन्तस्थलों में तिङ् के अपने कर्त्ता कर्म आदि अर्थ गौण होते हैं धातु के अर्थ भावना की ही प्रधानता होती है। तिङन्तस्थलों से अतिरिक्त 'प्रत्ययार्थः प्रधानम्' के अनुसार प्रत्यय के अर्थ की ही प्रधानता समझनी चाहिये ॥

---

[१] कई लोग निरुक्त के इस वचन में 'आख्यात' का अर्थ 'धातु' करते हैं। उन का कथन है कि '**नामानि आख्यातजानि**'(निरुक्त अ०१,खण्ड१२) यहां निरुक्तकार का स्पष्ट अभिप्राय आख्यातपद से धातु के ही ग्रहण से है तिङन्तों से नहीं, क्योंकि नाम तिङन्तज नहीं अपितु धातुज ही हुआ करते हैं। अतएव महाभाष्य में **"नाम च धातुजमाह निरुक्ते"** (सब नाम धातुज हैं ऐसा निरुक्त में कहा गया है) इस प्रकार भगवान् पतञ्जलि ने यास्क के वचनों का भाव अपने शब्दों में व्यक्त किया है। तदेवं निरुक्त के वचन का यह अभिप्राय है कि धातु भावप्रधान होती है। **'भावस्तु धात्वर्थः'** के अनुसार भाव का अभिप्राय फल और व्यापार दोनों से है अतः धातु के फल और व्यापार दोनों अर्थ होते हैं। कर्तृस्थलों में धातु की व्यापारवाचकता मुख्य रहती है और कर्मणिस्थलों में फलवाचकता मुख्य होती है।

परन्तु **नागेशभट्ट** निरुक्त के वचन की इस प्रकार की व्याख्या से असहमत हैं। उनका कथन है कि **"चत्वारि पदजातानि, नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च"** (निरुक्त अ०१, खण्ड१) इस प्रकार उपक्रम कर के **'भावप्रधानम् आख्यातम्'** कहा गया है। अतः उपक्रम के अनुसार ही यास्क के वचन की व्याख्या होनी चाहिये। उपक्रम में 'आख्यात' का तिङन्त के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ नहीं हो सकता इसलिये **'भावप्रधानम् आख्यातम्'** में भी आख्यात का तिङन्त अर्थ ही है धातु अर्थ नहीं। अतएव **'आख्यातम् आख्यातेन'**० (२.१.७२ पर गणसूत्र) इत्यादि वचनों के साथ भी इस की संगति बैठ जाती है। विशेषजिज्ञासु **परमलघुमञ्जूषा** आदि का परिशीलन करें ॥

भूषणसारः—

'तदागमे हि' इति न्यायो विवरणं चातिव्याप्तम्[1] इत्यत आह—किं कृतं पक्वमिति। कृञा विवरणं प्रतीतिश्च पक्वम् इत्यत्रापि[2], इति तत्रापि भावना वाच्या स्याद् इति भावः ॥

'तदागमे हि दृश्यते' यह मीमांसकोक्त न्याय तथा आख्यातवाच्या भावना का कृञ् द्वारा किया जाने वाला विवरण—ये दोनों अतिव्याप्तिदोष-ग्रस्त हैं। क्योंकि 'किं कृतम् ? पक्वम्' इस प्रश्नोत्तर में आख्यातवाच्या भावना न होने पर भी कृञ् द्वारा विवरण प्रस्तुत किया गया है। तथा आख्यात के न होने पर भी भावना की प्रतीति हो रही है। तात्पर्य यह है कि 'पक्वम्' में भी मीमांसकों को प्रत्यय के द्वारा भावना को वाच्य मानना पड़ जायेगा ॥

वक्तव्य—भावना आख्यातवाच्या है धातुवाच्या नहीं—इस मत की पुष्टि में मीमांसकों द्वारा प्रायः दो प्रबल युक्तियां प्रस्तुत की जाती हैं—

(१) **'तदागमे हि दृश्यते—'** यह न्याय। इसकी व्याख्या प्रकृत कारिका के आरम्भ में की जा चुकी है।

(२) **'पचति—पाकं करोति'** यह विवरण। मीमांसकों के अनुसार 'पाकम्' यह विवरण पच् धातु का तथा 'करोति' यह विवरण आख्यात का है।

अब इन दोनों में अतिव्याप्तिदोष दिखाते हुए कारिकाकार उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—**पक्वमिति**।

किसी ने प्रश्न किया—**'किं कृतम् ?'** (क्या किया गया है), इसका उत्तर मिला—**'पक्वम्'** (पाक किया गया है)। यह सुनकर प्रश्नकर्त्ता की

---

[1] न्यायोऽतिव्याप्तः, विवरणञ्चातिव्याप्तम् इत्यर्थः। अतिव्याप्तोऽतिव्याप्तञ्चेति पुंनपुंसकयोर् **'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्'** (१.२.६९) इति नपुंसकैकशेषः, एकवचनं च। भैरवमिश्रेणात्र 'व्यभिचरितम्' इति पाठः स्वीकृतः ॥

[2] अपिना पूर्वोक्तस्य 'पक्ववान्' इत्यस्यापि सङ्ग्रहो बोध्यः। अग्रिमे प्रघट्टकेऽत्रत्या भाषाटिप्पणी समवलोकनीया ॥

जिज्ञासा शान्त हो गई। यहां प्रश्नकर्त्ता का अभिप्राय व्यापार के पूछने से है, वह पूछना चाहता है कि क्या क्रिया हुई ? तो इसका उत्तर भी व्यापार-परक होना आवश्यक है। अन्यथा उत्तर उत्तर ही नहीं रहेगा क्योंकि उस से जिज्ञासा शान्त नहीं होगी। अब विचारणीय बात यह है कि 'पक्वम्' कहने से व्यापार कैसे बतलाया गया ? क्योंकि पच् धातु से क्तप्रत्यय करने पर 'पचो वः' (८.२.५२) सूत्र से क्त के तकार को वकार होकर 'पक्वम्' प्रयोग सिद्ध होता है[१]। मीमांसकों के अनुसार धातु तो केवल फलवाचक ही होता है (व्यापारवाचक नहीं) और क्तप्रत्यय कर्मादि का वाचक। तब यहां व्यापार अर्थात् भावना का बोध कैसे हुआ ? प्रकृति और प्रत्यय दोनों में से कोई भी व्यापार का वाचक नहीं है। इस प्रकार आख्यात के विना भी अन्यत्र (क्त आदि कृत्प्रत्ययों में) भावना का बोध होने से उन मीमांसकों के मत में अतिव्याप्तिदोष प्रसक्त होता है। मीमांसकों का कथन था कि **'तदागमे हि दृश्यते**—'इस न्यायानुसार 'पचति' आदि में आख्यात के आने पर भावना की प्रतीति होने के कारण भावना आख्यात का ही अर्थ है। परन्तु 'पक्वम्' में आख्यात के न होने पर भी भावना की प्रतीति स्पष्टतः हो रही है अतः उनके द्वारा प्रस्तुत न्याय अतिव्याप्तिदोषग्रस्त सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **'किं कृतम् ? पक्वम्'** यहां कृञ्द्वारा स्पष्टतः भावना अर्थात् व्यापार का विवरण प्रस्तुत किया गया है, परन्तु मीमांसकों के अनुसार 'पक्वम्' में भावनावाचक कुछ है नहीं। अतः **'कृञ् द्वारा आख्यात-वाच्या भावना का विवरण किया जाता है'** यह मीमांसकों का दूसरा हेतु भी अतिव्याप्तिदोषग्रस्त ठहरता है॥

भूषणसारः—

नन्वस्तु तिङ इव कृतामपि भावना वाच्येत्यत आह—अपीति। तथा चोभयसाधारण्येन तत्प्रतीतेरुभयसाधारणो धातु-रेव वाचक इति भावः। भवद्रीत्या प्रत्ययार्थत्वात् प्राधान्यापत्ति-श्चेति द्रष्टव्यम्॥८॥

---

[१] **'चोः कुः'** (८.२.३०) से कुत्व हो जाता है। किञ्च यहां **'सामान्ये नपुंसकम्'** (सि० कौ० वा० २०४) के अनुसार नपुंसकलिङ्ग समझना चाहिये॥

अच्छा तो जैसे तिङों को भावना का वाचक मानते हैं वैसे हम कृत्प्रत्ययों को भी भावना का वाचक मान लेंगे, इस प्रकार अतिव्याप्तिदोष नहीं आयेगा। इस आशङ्का की निवृत्ति के लिए कारिकाकार ने **'अपि'** शब्द का प्रयोग किया है। **'अपि'** शब्द से और अधिक अर्थ का द्योतन हुआ करता है। वह यहां इस प्रकार समझना चाहिए [1]—

यदि आप (मीमांसक) आख्यातों की तरह कृत्प्रत्ययों को भी भावना का वाचक मानने लग जायेंगे तब महान् गौरवदोष प्रसक्त होगा। क्योंकि तब आख्यात अनाख्यात दोनों स्थलों पर धातु के समानरूपेण उपस्थित होने से धातु को ही भावना का वाचक मानने में लाघव होगा। आख्यातों तथा नानाविध कृत्प्रत्ययों में भावना मानने से अनेक शक्ततावच्छेदक [2] हो जायेंगे, इस प्रकार महान् गौरवदोष आयेगा। दूसरी बात यह होगी कि यदि आपने कृत्प्रत्ययों को भी भावना का वाचक मान लिया तो आप को **'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तत्र प्रत्ययार्थः प्रधानम्'** इस नियम के अनुसार 'पक्वम्' आदि में प्रत्ययार्थ भावना की प्रधानता स्वीकार करनी पड़ेगी। तब **'पक्वस्तण्डुलः' 'पक्ता देवदत्तः'** इत्यादियों में भावनाप्रधान पक्व आदि पदों के साथ तण्डुल आदि का सामानाधिकरण्य उपपन्न न हो सकेगा। अतः धातु को ही भावना का वाचक मानना उचित है, आख्यातों व कृत्प्रत्ययों को नहीं—यह सिद्ध होता है ॥८॥

भूषणसारः—

व्यापारस्य धात्वर्थत्वे साधकान्तरमाह—

व्यापार धातु का ही अर्थ होता है आख्यातप्रत्ययों का नहीं—इस बात को सिद्ध करने के लिये कारिकाकार अन्य प्रमाण उपस्थित करते हैं—

---

[1] कारिकाकार ने तो **'अपि'** शब्द पिछले 'पक्ववान्' के संग्रह के लिये प्रयुक्त किया था। परन्तु भूषणकार श्रीकौण्डभट्ट अपनी विद्वत्ता के बल से इस से अन्य अधिक अर्थ के संगृहीत होने की बात द्योतित करा रहे हैं ॥

[2] किसी शब्द की वर्णानुपूर्वी ही उस शब्द की **शक्ततावच्छेदक** हुआ करती है। जैसे 'घट' शब्द की 'घ् अ ट् अ' इस प्रकार की वर्णानुपूर्वी शक्ततावच्छेदक है। शक्यतावच्छेदक और शक्ततावच्छेदक का भेद ध्यान में रखना चाहिये ॥

कारिका—

किं कार्यं पचनीयञ्चेत्यादि दृष्टं हि कृत्स्वपि ।
किञ्च क्रियावाचकतां विना धातुत्वमेव न ॥६॥

कार्यम्, पचनीयम्—इत्यादि कृदन्तस्थलों में भी ण्यत् आदि प्रत्यय कर्म आदि कारकों में विधान किये गये हैं, इन से भी सिद्ध होता है कि व्यापार को धातु का ही अर्थ मानना चाहिये अन्यथा वे प्रत्यय उपपन्न नहीं हो सकेंगे। किञ्च व्यापार को यदि धातु का अर्थ नहीं माना जायेगा तो 'भूवादयो धातवः' (१.३.१) सूत्र से धातुसञ्ज्ञा ही न हो सकेगी [1] ॥

भूषणसारः—

कार्यम् इत्यत्र 'ऋहलोर्ण्यत्'(३.१.१२४) इति कर्मणि ण्यत्। पचनीयम् इत्यादौ चानीयर्। आदिना 'ज्योतिष्टोमयाजी' इत्यादौ करणे उपपदे कर्त्तरि णिनिः। एते च क्रियायोगमन्तरेण असन्तस्तद्वाच्यतां बोधयन्ति। विना क्रियां कारकत्वाऽसम्भवेन तद्वाचकप्रत्ययस्याप्यसम्भवात्। न च गम्यमानक्रियामादाय कारकयोग इति भाट्टरीतिर्युक्ता। आख्यातेऽपि तथात्वाऽऽपत्तौ[2] तत्रापि[3] भावनाया वाच्यत्वाऽसिद्ध्यापत्तेः ॥

---

[1] कारिका का यह अर्थ हमने भूषणकार के अनुरोध से किया है। अन्यथा—'किं कृतम्? पक्वम्' इस पूर्वनिर्दिष्ट प्रश्नोत्तरपद्धति से यहां भी अर्थ किया जा सकता है। परन्तु इस प्रकार के अर्थ के करने से पूर्वकथित युक्ति का ही पिष्टपेषण होता कोई नई बात कारिका से न कही जाती, अतः भूषणकार ने व्याख्या का नया मार्ग अपनाया है। इस मार्ग में कारिका के 'किम्' शब्द के साथ 'पचनीयं च' यहां पर पढ़ा गया चकार मिलाकर 'किञ्च' बना लेना चाहिये। जहां अपनी बात को पुष्ट करने के लिये और अधिक प्रमाणादि उपस्थित करने होते हैं वहां 'किञ्च' शब्द का प्रयोग किया जाता है जैसाकि इस कारिका के उत्तरार्ध के आदि में किया गया है॥

[2] गम्यमानक्रियामादाय कर्तृकर्मार्थकप्रत्ययोपपत्तावित्यर्थः ॥

[3] तत्रापि—आख्यातस्थलेऽपीत्यर्थः ॥

'कार्यम्' यहां पर कृ धातु से **'ऋहलोर्ण्यत्'** (३·१·१२४) सूत्र द्वारा ण्यत्प्रत्यय विधान किया गया है। इसी प्रकार 'पचनीयम्' में पच् धातु से **'तव्यत्तव्यानीयरः'** (३·१·९६) सूत्रद्वारा अनीयर् प्रत्यय कहा गया है। ये दोनों प्रत्यय कृत्यसञ्ज्ञक होने से **'तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः'** (३.४.७०) के अनुसार यहां कर्म में विधान किये गये हैं। कारिकागत 'आदि' शब्द से 'ज्योतिष्टमयाजी' आदियों का ग्रहण करना चाहिए। तथाहि—ज्योतिष्टोमेन इष्टवान् इति ज्योतिष्टोमयाजी, यहां **'भूते'** (३.२.८४) के अधिकार में **'करणे यजः'** (३.२.८५) सूत्र से करण के उपपद रहते यज् धातु से कर्त्ता में णिनि प्रत्यय विधान किया गया है। तब ये ण्यत्, अनीयर्, णिनि आदि कृत्प्रत्यय जो कर्म, करण, कर्त्ता आदि कारकों की अपेक्षा करते हैं मीमांसकों के मत में कैसे उपपन्न हो सकेंगे ? क्योंकि उनके मत में धातु केवल फल का ही वाचक होता है व्यापार का नहीं, और विना व्यापार (क्रिया) के कर्म, करण, कर्त्ता आदि बन नहीं सकते[1]। इस प्रकार जब क्रिया के विना कर्तृ-कर्मादि कारक ही नहीं बन सकेंगे तब उनके वाचक ण्यत् आदि प्रत्ययों का होना भी असम्भव हो जायेगा। अतः **'पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'** में जैसे पीनत्व का कारण रात्रि भोजनादि कल्पित कर लिया जाता है वैसे यहां भी कारकों के लिए धातु को भावना का वाचक स्वीकार करना पड़ेगा।

यदि कहें कि हम भाट्टरीति (**श्रीकुमारिलभट्ट की बताई रीति**) से गम्यमान क्रियाका अध्याहार करके उसके साथ कारकों का योग कर प्रत्यय कर लेंगे तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि तब आप आख्यात को भावनावाची सिद्ध नहीं कर सकेंगे, वहां भी आपको आख्यात का कर्त्ता कर्म आदि अर्थ मान कर भावना का ऊपर से अध्याहार स्वीकार करना पड़ेगा। कृदन्त-स्थलों में भावना का अध्याहार मानना और आख्यातस्थलों पर उसे वाच्य ठहराना इसमें कोई नियामक औचित्य नहीं ॥

भूषणसारः—

अथ लिङ्ग-सङ्ख्याऽन्वयानुरोधात् कर्तुर्वाच्यत्वम् आवश्य-

---

[1] क्योंकि कहा गया है—**'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्'** इस का स्पष्टीकरण १६वीं कारिका में देखें ॥

कमिति, तेन[1] आक्षेपाद् भावनाप्रत्ययः[2] स्यादिति मतम् । तर्हि सङ्ख्याऽन्वयोपपत्तये आख्यातेऽपि कर्त्ता वाच्यः स्यात् । 'पक्ववान्' इत्यादौ काल-कारकाऽन्वयानुरोधाद् भावनाया अपि तस्याऽऽवश्यकत्वाच्चेति[3] भावः ।।

यदि आप यह नियामक कारण प्रस्तुत करें कि **'देवदत्तः पक्ववान्, कुमारी पक्ववती, मित्रं पक्ववत्, तौ पक्ववन्तौ, ते पक्ववन्तः'** इत्यादि कृदन्तस्थलों में लिङ्ग और सङ्ख्या स्पष्ट प्रतीत होती है अतः उनका अन्वय उपपन्न करने के लिये हमें कृत्प्रत्ययों का वाच्य कर्त्ता कर्म आदि स्वीकार करना आवश्यक है[4]— तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि तब आख्यातस्थलों पर भी सङ्ख्या का अन्वय करने के लिए कर्त्ता और कर्म को आख्यात का वाच्य क्यों न माना जाये ? तब **'पक्ववान्'** इत्यादियों में भी काल (भूत) और कारकों (कर्म और कर्तृकारक) को अन्वित करने के लिए भावना को वाच्य स्वीकार करना आवश्यक हो जायेगा । अतः इन सब दोषों से बचने के लिए धातु को ही भावना का वाच्य मानना निर्दोष सिद्ध होता है ।।

भूषणसारः—

अपिना हेत्वन्तर-समुच्चयः । तथाहि—'नखैर्भिन्नो नखभिन्नः, हरिणा त्रातो हरित्रातः' इत्यादौ 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (२.१.३१) इति समासो न स्यात्, 'पुरुषो राज्ञो, भार्या देवदत्तस्य'[5] इतिवद् असामर्थ्यात् । न चाऽध्याहृतक्रियाद्वारा

---

[1] तेन—कर्त्रा व्यापारस्य आक्षेपाद् इति भावः ।।

[2] भावनाप्रत्ययः—भावनाप्रतीतिः । भावनान्वय इति पाठान्तरम् ।।

[3] तस्य—वाच्यत्वस्येत्यर्थः ।।

[4] क्योंकि **'लिङ्ग-सङ्ख्याऽन्वितं द्रव्यम्'** के अनुसार लिङ्ग और सङ्ख्या का द्रव्य में ही अन्वय हो सकता है, भावनादि अद्रव्य में नहीं ।।

[5] यहां यदि **'भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्य'** ऐसा पाठ होता तो अधिक सरल था । काशिका आदि प्राचीन ग्रन्थों में ऐसा ही पाठ उपलब्ध होता है ।।

सामर्थ्यं वाच्यम्, 'दध्योदनः, गुडधानाः' इत्यादिवत्। अन्यथाऽत्रापि 'अन्नेन व्यञ्जनम्' (२.१.३३) 'भक्ष्येण मिश्रीकरणम्' (२.१.३४) इति समासो न स्यादिति वाच्यम्, तत्र विध्यानर्थक्यादगत्या तथा स्वीकारेऽपि 'हरिकृतम्' इत्यादौ साक्षाद्-धात्वर्थाऽन्वयेनोपपद्यमानस्य 'कर्तृ-करणे॰' (२.१.३१) इत्यस्य आक्षेपेण परम्परासम्बन्धे प्रवृत्त्ययोगात्॥

'दृष्टं हि कृत्स्वपि' यहां कारिका में **'अपि'** शब्द का प्रयोग "**धातुका ही वाच्य 'व्यापार' होता है**" इस बात को सिद्ध करने के लिए अन्य हेतु के समुच्चार्थ किया गया है। वह अन्य हेतु यद्यपि कारिकाकार ने स्वयं नहीं लिखा तथापि वह उनकी बुद्धि में स्थित था। इसे भूषणकार इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

यदि फल को ही धातु का वाच्य स्वीकार करेंगे व्यापार को नहीं तो—**'नखैर्भिन्नः—नखभिन्नः, हरिणा त्रातः—हरित्रातः'** इत्यादियों में **'कर्तृ-करणे कृता बहुलम्'** (२.१.३२) सूत्र से समास न हो सकेगा। क्योंकि तब 'भिन्नः' और 'नखैः' का तथा 'त्रातः' और 'हरिणा' का परस्पर सम्बन्ध न होने से सामर्थ्याभावके कारण समास प्राप्त ही नहीं होगा। जैसे—**'पुरुषो राज्ञो, भार्या देवदत्तस्य'** यहां 'राज्ञो भार्या' का परस्पर सम्बन्ध न होने से समास प्राप्त नहीं होता वैसे यहां 'नखैर्भिन्नः, हरिणा त्रातः' आदि में भी प्राप्त न होगा[1]।

---

[1] समास पदविधि है क्योंकि वह पदों के आश्रित कार्य है। पदविधि हमेशा समर्थपदों के आश्रित ही हुआ करती है—ऐसा **'समर्थः पदविधिः'** (२.१.१) सूत्र द्वारा प्रतिपादन किया गया है। जहां पद परस्पर सम्बद्ध होकर एकार्थ को कहते हैं वहां ही वे समर्थ समझे जाते हैं। यथा—**'राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः'** यहां पुरुष और राजा का स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध होने से एकार्थीभाव सामर्थ्य होने के कारण समास हो जाता है। परन्तु **'भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्य'** (भार्या राजा की है, पुरुष देवदत्त का है) यहां 'राज्ञः पुरुषः' का परस्पर सम्बन्ध न होने से एकार्थीभावसामर्थ्य न होने के कारण समास नहीं होता। अब **'नखैर्भिन्नः'** में 'भिन्नः' पद में भिद् धातु से क्तप्रत्यय किया गया है। यदि यहां क्रिया को धातु का वाच्य नहीं मानेंगे केवल फल

यदि कहें कि जैसे '**दध्योदनः, गुडधानाः**' इत्यादि में पदों का पारस्परिक सम्बन्ध न होने से सामर्थ्याभाव के कारण समासविधि प्राप्त नहीं होती थी परन्तु '**अन्नेन व्यञ्जनम्**' (२.१.३३) और '**भक्ष्येण मिश्रीकरणम्**' (२.१.३४) इन सूत्रों के विधानसामर्थ्य से वहाँ क्रमशः (**दध्ना सिक्त ओदनः—दध्योदनः, गुडेन मिश्रिता धानाः—गुडधानाः**) सेचन और मिश्रण क्रिया का अध्याहार कर एकार्थीभावसामर्थ्य उत्पन्न कराकर समास कर लिया जाता है वैसे यहां भी हम 'भिन्नः, त्रातः' आदि में 'करना' क्रिया का अध्याहार कर उसके साथ 'नखैः' इस करण को सम्बद्ध कर के सामर्थ्य स्थापित कर लेंगे, इस प्रकार समासविधि में कोई रुकावट नहीं आयेगी—-तो यह भी ठीक नहीं होगा। क्योंकि उन सूत्रों (अन्नेन व्यञ्जनम्, भक्ष्येण मिश्रीकरणम्) को तो कोई अन्य उदाहरण मिलता नहीं था अतः उन सूत्रों के व्यर्थ हो जाने का भय था इसलिये सूत्रविधानसामर्थ्य से वहां सेचन और मिश्रण क्रियाओं का अध्याहार कर सामर्थ्य उत्पन्न करा लिया गया था, परन्तु यहां तो '**हरिणा कृतम्—हरिकृतम्, शरेण कृतम्—शरकृतम्**' ये साक्षात् उदाहरण मौजूद हैं, जिनमें क्रिया के अध्याहार के विना काम चल सकता है[1]। इस प्रकार सूत्र में विधान-सामर्थ्य न होने के कारण[2]

को ही उसका वाच्य मानेंगे तो 'नखैः' इस करण का 'भिन्नः' के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकेगा। क्योंकि करण आदि कारकों का क्रिया के साथ ही सम्बन्ध हो सकता है विना क्रिया के नहीं। इस प्रकार जब 'नखैः' पद का 'भिन्नः' के साथ सम्बन्ध न होने से एकार्थीभावरूप सामर्थ्य ही न होगा तो पुनः '**कर्तृकरणे कृता बहुलम्**'(२.१.३१) से समास कैसा ? यदि पुनः भिद् धातु का वाच्य (अर्थ) व्यापार को भी मान लेते हैं तो 'नखैः' इस करण का क्रिया के साथ अन्वयसम्बन्ध स्थापित होकर एकार्थीभावसामर्थ्य उत्पन्न होकर समास हो जाता है। इससे सुतरां यह सिद्ध होता है कि धातुओं का अर्थ केवल फल ही नहीं अपि तु व्यापार भी हुआ करता है ॥

[1] ध्यान रहे कि मीमांसक लोग 'कृ' धातु का व्यापार अर्थ मानते हैं अतः उनके मतानुसार '**हरिणा कृतम्**' में कृ धातु के व्यापार के साथ 'हरिणा' इस कर्त्ता का तथा '**शरेण कृतम्**' में 'शरेण' इस करण का साक्षात् अन्वय हो जाता है ॥

[2] विधानसामर्थ्य से कोई कार्य तभी किया जा सकता है जब अन्य कोई भी उदाहरण न मिले। यदि किसी सूत्र का एक भी उदाहरण मिल जाये तो सूत्र का विधानसामर्थ्य उसी में क्षीण हो जाता है अतः वहां विधानसामर्थ्य से कोई अन्य बात

'नखैभिन्न:' आदि स्थलों में क्रिया का अध्याहार कर समास करना नहीं माना जा सकता अतः 'नखभिन्नः, हरित्रातः' आदि रूप सिद्ध नहीं किये जा सकते। इस तरह अब इस के सिवाय अन्य कोई गति नहीं रह जाती कि धातु को व्यापार का वाचक भी स्वीकार किया जाये ॥

भूषणसारः—

न चैकस्यां क्रियायामन्वयित्वमेव सामर्थ्यम् इति शङ्क्यम्, 'असूर्यम्पश्या' इत्यादेरसमर्थसमासत्वाऽनापत्तेः। इष्टापत्तौ—'कृतः सर्वो मृत्तिकया' इत्यत्र 'कृतः सर्वमृत्तिकः' इत्यापत्तेः। न चाऽत्र समासविधायकाऽभावः, 'सह सुपा' (२.१.४) इति सत्त्वात्। अन्यथाऽसमर्थसमासोऽपि विधायकाऽभावान्न स्यादिति ॥

यदि आप यह कहें कि हम तो एक क्रिया में अन्वित होने को ही समासोपयोगी सामर्थ्य मानते हैं, वह सामर्थ्य **'नखैर्भिन्नः, हरिणा त्रातः'** आदियों में पाया जाता है अतः यहां सामर्थ्याभाव नहीं इससे समास करने में कोई रुकावट नहीं आयेगी[1]—तो यह ठीक नहीं। क्योंकि यदि ऐसा होता तो

लादी नहीं जा सकती। प्रकृत में **'अन्नेन व्यञ्जनम्'**(२.१.३३)**'भक्ष्येण मिश्रीकरणम्'** (२.१.३४) इन सूत्रों को तो कोई उदाहरण नहीं मिलता था अतः वहां तो विधानसामर्थ्यसे सेचन और मिश्रण क्रिया का अध्याहार कर लिया जाता है परन्तु **'कर्तृकरणे कृता बहुलम्'** (२.१.३१) में ऐसा नहीं किया जा सकता क्योंकि यहां तो **'हरिकृतम्, शरकृतम्'** आदि उदाहरण मौजूद हैं ही ॥

[1] मीमांसकों का कथन है कि समासोपयोगी सामर्थ्य यही है कि समस्यमान पद एक ही क्रिया में साक्षात् या परम्परा-सम्बन्ध से अन्वित हो जायें। यथा—**'धवखदिरौ छिन्धि'** यहां धव और खदिर का एक छेदन क्रिया में अन्वय होने से परस्पर सामर्थ्य मान कर समास हो जाता है अन्यथा यहाँ उनका परस्पर कोई सामर्थ्य नहीं था। **'नीलोत्पलम्'** में मीमांसकमतानुसार नीलशब्द गुणवाचक तथा उत्पलशब्द जाति का वाचक है। यद्यपि यहां दोनों का परस्पर कोई सामर्थ्य नहीं परन्तु दोनों एक **'अस्ति'** क्रिया में अन्वित हो जाते हैं—**'उत्पलमस्ति'** इस प्रकार **'अस्ति'** क्रिया में 'उत्पल' कर्तृत्वेन अन्वित हो जाता है, 'नील' यह गुण भी उत्पलनिष्ठ होने से उसी **'अस्ति'** में परम्परया अन्वित हो जाता है, अतः एकक्रियाऽन्वयित्वरूप सामर्थ्य को लेकर दोनों का समास हो जाता है। ठीक इसी प्रकार **'नखैर्भिन्नः'** इत्यादि में भी

'असूर्यम्पश्या राजदारा:' आदियों में भाष्यकार को असमर्थसमास न कहना पड़ता [1]। वहां पर आपके अनुसार सामर्थ्य था ही,[2] अतः इससे सिद्ध होता है कि सामर्थ्य का जो आशय आप समझ रहे हैं वह ठीक नहीं। यदि आप यह कहें कि **'असूर्यम्पश्या:'** आदि में समास करना अभीष्ट होने से उसे असमर्थसमास कहने की जरूरत ही क्या है ? वहां भी हमें समर्थसमास मानना चाहिये—तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि इससे बड़ी अड़चन पैदा हो जायेगी। तब **'कृतः सर्वः मृत्तिकया'** यहां पर एक क्रिया में अन्वित होने रूप सामर्थ्य के विद्यमान होने से [3] **'सर्वः'** और **'मृत्तिकया'** में **'सर्वमृत्तिक:'**

'अस्ति' आदि क्रिया का अध्याहार कर **'भिन्नः'** उसमें कर्तृतया तथा **'नखैः'** उसमें करणतया अन्वित हो जाने से समासोपयोगी सामर्थ्य के विद्यमान रहने से समास करने में कोई अड़चन नहीं आयेगी ॥

[1] **'असूर्यम्पश्या राजदारा:'** (ऐसी रानियां जो सूर्य को भी परपुरुष समझ कर नहीं देखती हैं) यहां 'असूर्य' के उपपद रहते दृश् धातु से **'असूर्यललाटयोर्दृशितपोः'** [(३.२.३६)असूर्य और ललाट कर्मों के उपपद रहते क्रमशः दृश् और तप् धातु से खश् प्रत्यय हो] सूत्र से खश् प्रत्यय होकर खश् का 'अ' शेष रह जाता है तब खश् के सार्वधातुक होने से शप्-विकरण तथा **'पा-घ्रा-ध्मा—'**(७.३.७८) सूत्र से दृश् को पश्य आदेश, **'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्'** (६.३.६५) से पूर्वपद को **मुम्** का आगम आदि कार्य होकर **'असूर्यम्पश्या:'** शब्द सिद्ध होता है। **'सूर्यं न पश्यन्तीति असूर्यम्पश्या:'** यह यहां विग्रह है। **'सूर्यकर्मकदर्शनाभाववन्तो राजदारा:'** यह यहां बोध होता है। यहां पर नञ् का सम्बन्ध दृश् धातु से है अर्थात् प्रसज्यप्रतिषेध होने के कारण नञ् क्रिया का ही निषेधक होने से उसी से सम्बद्ध है, सूर्य से नहीं। तो पुनः 'असूर्य' में समास नहीं होना चाहिये था परन्तु यहां सामर्थ्य के न होने पर भी सूत्रकार के निपातन के कारण समास हो जाता है। इस समास को भाष्य में असमर्थसमास माना गया है ॥

[2] आप एक क्रिया में अन्वित होने को ही सामर्थ्य मानते हैं। **'असूर्यम्पश्या:'** में नञ् दर्शनक्रिया का निषेध करता है, सूर्य भी उसी दर्शक्रिया का कर्म है; अतः एक क्रिया में दोनों के अन्वित हो जाने से पारस्परिक सामर्थ्य है ही ॥

[3] यहां **'सर्वः'** पद कर्मत्वेन **'कृतः'** यहां कृधातु में अन्वित है तथा **'मृत्तिकया'** पद भी करणत्वेन उसी धातु में अन्वित है। अतः दोनों में एकक्रियान्वयित्वरूप सामर्थ्य अक्षुण्ण है ॥

इसप्रकार समास प्रसक्त होगा जो सर्वथा लोकविरुद्ध होने से अनिष्ट है[1]। यदि आप यहां पर यह समाधान करें कि यहां पर तो समास विधान करने वाला कोई सूत्र ही नहीं तो यह भी उचित नहीं होगा क्योंकि **'सह सुपा'** (२.१.४) सूत्र तो समास करने के लिये विद्यमान है ही, अन्यथा समासविधायक सूत्र तो **'असूर्यम्पश्याः'** आदियों में भी कोई नहीं था। इसप्रकार एकक्रियाऽन्वयित्वरूप सामर्थ्यलक्षण दोषपूर्ण होने से अनुपयुक्त और अतएव अग्राह्य है ॥

यहां कहने को तो समाधान कर दिया गया पर वैयाकरणों का उपर्युक्त समाधान अभियुक्तों के गले उतर नहीं सकता। मीमांसक कहता है कि **'सर्वः मृत्तिकया'** में समास करने वाला कोई सूत्र नहीं; वैयाकरण उसे **'सह सुपा'** (२.१.४) का द्वार दिखाता है—जो नितान्त अनुचित है। क्योंकि **'सह सुपा'** (२.१.४) सूत्र तो अगतिकगति है अर्थात् जहां लोक में किसी प्रयोग में समास तो उपलब्ध हो, पर विधायकसूत्र कोई न हो वहां इस से समास कर लेना चाहिए। यदि सब जगह **'सह सुपा'** को ही समासविधायकसूत्र स्वीकार करने लगेंगे तो **'द्वितीया श्रितातीत—'** (२.१.२३) आदि सम्पूर्ण समासविधायकसूत्र व्यर्थ हो जायेंगे। भाष्यकार ने 'असूर्यम्पश्याः' आदि में जो असमर्थ समास माना है उसका यह अभिप्राय है कि यहां समास का किसी सूत्र से समर्थन नहीं होता अतः निपातन से समास किया जाता है; उसका यह अभिप्राय नहीं कि यहाँ सामर्थ्याभाव के कारण सूत्र द्वारा समास नहीं हो सकता—इस प्रकार मनमें अपने पूर्वोक्त समाधान की असारता को जानकर श्रीकौण्डभट्ट धातुओं को व्यापारवाचक सिद्ध करने के लिए अन्य युक्ति देते हैं—

भूषणसारः—

किञ्च भावनायास्तिङर्थत्वे 'भावयति घटम्' इतिवद्

---

[1] वैयाकरणों के मत में इसका निराकरण इस प्रकार समझना चाहिये—**'मृत्तिकया'** पद करणकारक है। कारक सीधे क्रिया में अन्वित हुआ करते हैं अतः इसका सम्बन्ध सीधा **'कृतः'** के साथ है, **'सर्वः'** के क्रियाशब्द न होने से उसके साथ नहीं। इस प्रकार **'सर्वः मृत्तिकया'** में एकार्थीभावसामर्थ्य न होने से समास की प्रसक्ति नहीं ॥

'भवति घटम्' इत्यपि स्यात् । धात्वर्थ-फलाऽऽश्रयत्वरूप-कर्मत्वसत्त्वात् ॥

यदि भावना को धातु का अर्थ न मान कर तिङ् का अर्थ मानेंगे तो **'भावयति घटम्'** की तरह **'भवति घटम्'** प्रयोग भी होने लगेगा, क्योंकि धातु के अर्थ फल का आश्रयरूप कर्म यहां भी उसी तरह विद्यमान है ॥

वक्तव्य—**'भावयति घटम्'** में ण्यन्त भू धातु से 'तिप्' इस आख्यात का प्रयोग किया गया है। यहां पर मीमांसकमतानुसार भू धातु का अर्थ केवल फल (उत्पत्ति) है, णिच् का अर्थ प्रयोजक व्यापार है, तिप् प्रत्यय भी उसी णिजर्थ व्यापार का अनुवाद कर रहा है। व्यापार के फल का आश्रय होने से यहाँ **'घट'** को कर्म माना गया है। अब मीमांसकों को दोष देते हुए वैयाकरण कहते हैं कि मीमांसकजी ! जिस प्रकार आप **'भावयति घटम्'** में व्यापारजन्य फल के आश्रयीभूत घट को कर्म मानकर उसमें द्वितीया कर लेते हैं उसी तरह **'भवति घटः'** यहां भी तिप्प्रत्यय के अर्थ व्यापार द्वारा जन्य फल (उत्पत्ति) के आश्रयीभूत घट को कर्म मानकर द्वितीया क्यों नहीं कर लेते ? क्योंकि दोनों स्थानों पर व्यापारजन्य फल का आश्रय घट तो समान है ही। **'भावयति घटम्'** में जैसे 'तिप्' द्वारा व्यापार कहा गया था वैसे यहां भी तिप्प्रत्यय के द्वारा व्यापार कहा जा रहा है। अतः आपके मत में **'भवति घटः'** के स्थान पर **'भवति घटम्'** यह अनिष्ट प्रयोग प्राप्त होगा। परन्तु हमारे (वैयाकरणों के) मत में इसप्रकार का कोई दोष नहीं आता, क्योंकि हम लकारस्थानीय तिप् आदि प्रत्ययों का कर्त्ता आदि अर्थ मानते हैं। **'भावयति घटम्'** में तिप् देवदत्तादि प्रयोजक कर्त्ता को कहता है घट को नहीं, और **'भवति घटः'** में तिप् **'घट'** इस कर्त्ता को कहता है किसी अन्य को नहीं। जिस जगह जो उक्त होगा उसमें प्रथमा विभक्ति हो जायेगी। इसप्रकार दोनों प्रयोग यथास्थान समाहित होकर कोई अनिष्ट प्रसक्त नहीं होता ॥

भूषणसारः—

न चाऽऽख्यातार्थ-व्यापाराऽऽश्रयत्वेन कर्तृत्वात् तत्सञ्ज्ञया कर्मसञ्ज्ञाया बाधान्न द्वितीयेति वाच्यम्, आख्यातार्थ-व्यापारा-

ऽश्रयत्वस्य कर्तृत्वे 'पाचयति देवदत्तो विष्णुमित्रेण' इत्यत्र विष्णुमित्रस्याऽकर्तृतापत्तौ तृतीयाऽनापत्तेः । 'ग्रामं गमयति देवदत्तो विष्णुमित्रम्' इत्यत्र विष्णुमित्रस्याऽकर्तृतापत्तौ ग्रामस्य गमिकर्मताऽनापत्तेश्च, तथा च—'ग्रामाय गमयति देवदत्तो विष्णुमित्रम्' इत्यपि न स्यात्, 'गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि' (२.३.१२) इति गत्यर्थकर्मण्येव चतुर्थीविधानात् । एतेन[1] 'णिजन्ते आख्यातार्थ उभयं[2], तदाश्रयत्वाद् देवदत्तयज्ञदत्तयोः[3] कर्तृता' इत्यपास्तम् ॥

यदि कहो कि '**आख्यातार्थ व्यापार का आश्रय कर्त्ता होता है**' इसप्रकार कर्तृसञ्ज्ञा से कर्मसञ्ज्ञा का बाध हो जायेगा अतः '**भवति घटः**' ही बनेगा '**भवति घटम्**' नहीं—तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि आख्यातार्थ व्यापार के आश्रय को कर्त्ता मान लेने पर '**पाचयति देवदत्तो विष्णुमित्रेण**' यहां आख्यातार्थ व्यापार का आश्रय न होने से '**विष्णुमित्र**' की कर्तृसञ्ज्ञा न हो सकेगी, तब कर्तृसञ्ज्ञा न होने से '**कर्तृ-करणयोस्तृतीया**' (२.३.१८) सूत्रद्वारा तृतीयाविभक्ति भी न हो सकेगी । जब '**विष्णुमित्र**' की कर्तृसञ्ज्ञा नहीं होगी तो '**ग्रामं गमयति देवदत्तो विष्णुमित्रम्**' यहां उसके ईप्सिततम '**ग्राम**' की भी कर्मसञ्ज्ञा न होकर द्वितीया दुर्लभ हो जायेगी । इसके साथ ही '**गत्यर्थकर्मणि द्वितीया-चतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि**' (२.३.१२) सूत्र से गत्यर्थक धातुओं के कर्म में चतुर्थी भी न हो सकेगी क्योंकि वहां 'ग्राम' की कर्मसञ्ज्ञा ही न होगी । इससे '**णिजन्त स्थलों में आख्यात दो प्रकार के व्यापारों का वाचक होता है**' इस सिद्धान्त को मानकर देवदत्त और यज्ञदत्त दोनोंकी कर्तृसञ्ज्ञा सिद्ध हो जायेगी—इसका भी खण्डन समझ लेना चाहिये ॥

---

[1] एतेन—उक्तरीत्या ग्रामायेतिप्रयोगाऽनिर्वाहिणेत्यर्थः । यद्वा—आख्यातार्थव्यापाराश्रयस्य कर्तृत्वनिरासेनेति ॥

[2] प्रयोज्यव्यापारः प्रयोजकव्यापारश्चेत्युभयमित्यर्थः ॥

[3] यहां '**देवदत्त-विष्णुमित्रयोः**' ही पाठ चाहिये । यज्ञदत्त का तो कहीं पहले उल्लेख हुआ ही नहीं । न जाने इस मुद्रित अशुद्ध पाठ की ओर विद्वानों का ध्यान अब तक क्यों नहीं गया ?

वक्तव्य—मीमांसक अपने पक्ष का उद्धार करता हुआ कहता है कि **'आख्यातार्थ व्यापार का आश्रय कर्त्ता होता है'** यह कर्त्ता का लक्षण है। **'भवति घटः'** में तिप्-आख्यात के अर्थ व्यापार का आश्रय **'घट'** है; इसप्रकार घट की कर्तृसञ्ज्ञा हो जायेगी और इससे आप के द्वारा निर्दिष्ट कर्मसञ्ज्ञा का बाध हो जायेगा। जब कर्मसञ्ज्ञा ही न होगी तो द्वितीया विभक्ति के होने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होगा। अतः आप का हमारे मत में **'भवति घटः'** के स्थान पर **'भवति घटम्'** इस प्रयोग की कल्पना करना नितान्त अनर्गल है।

इस पर वैयाकरण मीमांसक के प्रति कहता है—अजी मीमांसकजी ! यदि आप आख्यातार्थ व्यापार के आश्रय को ही कर्त्ता मानेंगे तो **'पाचयति देवदत्तो विष्णुमित्रेण'** (विष्णुमित्र से देवदत्त पकवाता है) यहां 'पाचयति' में 'तिप्' इस आख्यात के अर्थ—व्यापार का आश्रय होने से देवदत्त भले ही कर्त्ता बन जाएगा पर विष्णुमित्र की तो किसी भी प्रकार कर्तृसञ्ज्ञा न हो सकेगी क्योंकि वह आख्यातार्थ व्यापार का आश्रय नहीं। इसप्रकार कर्तृसंज्ञा न होने से 'विष्णुमित्र' में **'कर्तृकरणयोस्तृतीया'** (२.३.१८) से आपके मत में तृतीया विभक्ति न हो सकेगी। इधर हमारे मत में पच् धातु व्यापारवाचक है; धातुवाच्य व्यापार का कर्त्ता यद्यपि देवदत्त है तथापि लट्स्थानीय तिप् के द्वारा वह अभिहित नहीं [1] अतः अनभिहित कर्त्ता में तृतीया विभक्ति करने में कोई रुकावट नहीं आती [2]।

किञ्च मीमांसकमत में यह एक और दोष भी उत्पन्न हो जायेगा। जब वे 'ग्रामं गमयति देवदत्तो विष्णुमित्रम्' (देवदत्त विष्णुमित्र को ग्राम

---

[1] लट्स्थानीय तिप् के द्वारा प्रयोजक कर्त्ता (देवदत्त) अभिहित है अतः उस में प्रथमा हो गई है ।।

[2] यदि मीमांसक यह कहें कि कारक तो विवक्षा के अधीन होते हैं, अतः हम **'पाचयति देवदत्तो विष्णुमित्रेण'** में **'विष्णुमित्र'** में करण की विवक्षा में तृतीया कर लेंगे—तो यह भी ठीक नहीं होगा। क्योंकि यदि वे **'विष्णुमित्र'** को करण मान लेंगे तब तो वे णिच् भी नहीं कर सकेंगे। **'तत्प्रयोजको हेतुश्च'** (१.४.५५) सूत्र से कर्त्ता के प्रयोजक की ही हेतुसञ्ज्ञा कही गई है। जब **विष्णुमित्र** कर्त्ता नहीं होगा तो **'देवदत्त'** कर्तृप्रयोजक न बनेगा, पुनः **'हेतुमति च'** (३.१.२६) से णिच् कैसा ?

में भिजवाता है) में प्रयोज्यकर्ता 'विष्णुमित्र' को कर्त्ता ही नहीं मानेंगे तो 'ग्रामम्' इस कर्म में द्वितीया भी नहीं हो सकेगी, क्योंकि 'ग्राम' तो विष्णुमित्र कर्त्ता का ही ईप्सिततम है; यदि विष्णुमित्र को कर्त्ता ही नहीं मानते तो उसके ईप्सिततम 'ग्राम' की 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (१.४.४९) से कर्मसञ्ज्ञा भी न होगी। कर्मसञ्ज्ञा न होने से द्वितीया भी दुर्लभ रहेगी। ग्राम की कर्मसञ्ज्ञा न हो सकने से एक दोष यह भी खड़ा हो जायेगा कि 'ग्रामाय गमयति देवदत्तो विष्णुमित्रम्' यहां पर 'गत्यर्थकर्मणि द्वितीया-चतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि' (२.३.१२) सूत्र से गत्यर्थ धातु के कर्म 'ग्राम' में वैकल्पिक चतुर्थी भी न हो सकेगी, क्योंकि ग्राम की कर्मसञ्ज्ञा तो तब होगी नहीं।

यदि यह कहो कि 'पाचयति' आदि णिजन्तों में प्रयोज्य और प्रयोजक दोनों के व्यापारों का वाचक आख्यात होता है, इससे प्रयोज्यव्यापार का आश्रय होने से **'विष्णुमित्र'** की तथा प्रयोजकव्यापार का आश्रय होने से **'देवदत्त'** की कर्तृसञ्ज्ञा हो जायेगी—तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि इससे भी पूर्वोक्त दोष की निवृत्ति नहीं होगी बल्कि जटिलता और बढ़ जायेगी। तब **'पाचयति देवदत्तो विष्णुमित्रेण'** इत्यादि स्थलों पर **प्रयोज्यव्यापार के आश्रय विष्णुमित्र में तृतीया तथा प्रयोजकव्यापार के आश्रय देवदत्त में प्रथमा विभक्ति ही हो**—इसका नियामक (व्यवस्थापक) कौन रहेगा? दोनों में प्रथमा व दोनों में तृतीया ही क्यों न कर दें? क्योंकि कर्तृत्वेन तो दोनों समान हैं ही, फिर उनमें भेद कैसा? इस से **'हेतुमति च'** (३.१.२६) सूत्र का भी विरोध पड़ेगा; वह सूत्र प्रयोजक के व्यापार में ही णिच् का विधान करता है। अतः इन सब बातों का विचार कर णिजन्त-स्थलों में आख्यात के दो व्यापार तो माने नहीं जा सकते॥

भूषणसारः—

किञ्च तस्मिन् प्रयोगे य आख्यातार्थ इत्यस्यावश्यकत्वेन आख्यात-शून्ये 'देवदत्तः पक्ता' इत्यादौ देवदत्तस्याऽकर्तृता-ऽऽपत्तेरिति दिक्॥

यदि आप आख्यातार्थ व्यापार के आश्रय को कर्त्ता मानेंगे तो उस प्रयोग अर्थात् समानवाक्य में ही जो आख्यातार्थ व्यापार उसके आश्रय को

ही कर्त्ता मानना पड़ेगा। इससे 'देवदत्तः पक्ता' (पच्+तृच्, पकाने वाला देवदत्त) इत्यादि कृदन्तस्थलों पर जहां आख्यात (तिङ्) का प्रयोग नहीं है वहां 'देवदत्त' आदि की कर्तृसञ्ज्ञा न हो सकेगी—यह भी विचार की एक दिशा है ॥

वक्तव्य—'**आख्यातार्थ व्यापार का आश्रय कर्तृसञ्ज्ञक होता है**' इस मीमांसकमत में पूर्वप्रघट्टक द्वारा तीन दोष दिखा चुके हैं—

(१) '**पाचयति देवदत्तो विष्णुमित्रेण**' यहां 'विष्णुमित्र' की कर्तृ-सञ्ज्ञा न होने से उस में तृतीया न हो सकेगी।

(२) '**ग्रामं गमयति देवदत्तो विष्णुमित्रम्**' यहां 'विष्णुमित्र' की कर्तृसञ्ज्ञा न होने से उस के ईप्सिततम ग्राम की कर्मसञ्ज्ञा न हो सकेगी।

(३) '**ग्रामाय गमयति देवदत्तो विष्णुमित्रम्**' यहां 'ग्राम' की कर्मसञ्ज्ञा न होने से '**गत्यर्थकर्मणि**—' (२.३.१२) सूत्र से वैकल्पिक चतुर्थी भी न हो सकेगी।

अब इस प्रघट्टक में मीमांसकमत में एक अन्य दृष्टि से चौथा दोष दिखाते हैं—

वैयाकरणों का कहना है कि मीमांसकों का '**आख्यातार्थ व्यापार का आश्रय कर्तृसञ्ज्ञक होता है**' यह लक्षण अपूर्ण है। क्योंकि इस लक्षण के अनुसार '**घटो विद्यते**' यहां 'विद्यते' में 'ते' इस आख्यात के अर्थ व्यापार का आश्रय 'घट' यदि कर्त्ता माना जाये तो '**घटं करोति, घटं पश्यति**' आदि के 'घट' शब्द में द्वितीया कैसे करेंगे? तब इस दोष की निवृत्ति के लिए मीमांसकों को यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि जिस वाक्य में आख्या-तार्थ व्यापार का प्रयोग हो उस वाक्य में ही उसके आश्रय की कर्तृसंज्ञा हो, अन्य वाक्य में नहीं। अर्थात् किसी एक वाक्य के आख्यात के व्यापार को लेकर किसी अन्य वाक्य में स्थित उस व्यापार के आश्रय की कर्त्ता सञ्ज्ञा न होगी। परन्तु इस अवश्यस्वीकरणीय से भी मीमांसकों का लक्षण पूर्णतया दोषरहित नहीं होगा। उसमें यह दोष आयेगा कि यदि किसी स्थान पर आख्यात का प्रयोग न होगा तो वहां कर्तृसञ्ज्ञा भी न हो सकेगी। यथा—'**देवदत्तः पक्ता**' (पकाने वाला देवदत्त) यहां 'पच्' धातु से किसी आख्यात का प्रयोग नहीं किया गया अपितु '**कर्त्तरि कृत्**' (३.४.६७)

के अनुसार कर्त्ता में **'ण्वुल्तृचौ'** (३.१.१३३) से तृच्प्रत्यय किया गया है। यह प्रयोग मीमांसकों के मत में उपपन्न नहीं हो सकेगा। जब वाक्य में आख्यात (तिङ्) का प्रयोग ही नहीं तो पुनः उसके आश्रय 'देवदत्त' को कैसे कर्त्ता मान सकते हैं ? कर्तृसञ्ज्ञा के न होने से **'कर्त्तरि कृत्'** (३.४.६७) द्वारा विहित कृत्प्रत्यय तृच् भी न हो सकेगा। यदि कहें कि हम यहां **'अस्ति'** का अध्याहार करके **'देवदत्तः पक्ताऽस्ति'** इस प्रकार देवदत्त को कर्त्ता मान लेंगे—तो यह समाधान भी सन्तोषप्रद नहीं होगा। क्योंकि 'अस्ति' में आख्यात (तिप्) अस् धातु के साथ लगा हुआ है, अतः उसके व्यापार के प्रति देवदत्त भले ही कर्त्ता बन जाये पर पच् अर्थात् विक्लित्यनुकूल व्यापार का कर्त्ता तो देवदत्त नहीं बन सकेगा। **'कर्त्तरि कृत्'** (३.४.६७) से कृत्प्रत्यय तृच् तो हमें पच् से करना है न कि अस् से, अतः पच् के प्रति देवदत्त की कर्तृसञ्ज्ञा न होने से तृच्प्रत्यय उपपन्न न होगा। इसलिये अन्ततोगत्वा वैयाकरणों के मत की ही शरण लेनी पड़ेगी कि फल और व्यापार दोनों का ही वाचक 'धातु' हुआ करता है। इससे पच् के वाच्य व्यापार का आश्रय होने से देवदत्त की पच् के प्रति कर्तृसञ्ज्ञा होकर तृच्प्रत्यय करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी[1] ॥

भूषणसारः—

सूत्राऽनुपपत्तिमपि मानत्वेन प्रदर्शयन्नुक्तार्थस्य स्वोत्प्रेक्षितत्वं निरस्यति—किञ्चेति। धातु-सञ्ज्ञाविधायकं 'भूवादयो धातवः' (१.३.१) इति सूत्रं, तत्र भूश्च वाश्चेति द्वन्द्वः, आदिशब्दयोर्व्यवस्थाप्रकारवाचिनोरेकशेषः, आदिश्च आदिश्च आदी, ततो भूवौ आदी येषां ते भूवादय इति बहुव्रीहिः। तथा च भूप्रभृतयो वा-सदृशा धातव इत्यर्थः। तच्च क्रियावाचकत्वेन। तथा च क्रियावाचकत्वे सति भ्वादिगणपठितत्वं धातुत्वं पर्यवसन्नम्। अत्र हि क्रियावाचित्वमात्रोक्तौ वर्जनादिरूपक्रियावाचके 'हिरुक्' 'नाना' इत्यादावतिव्याप्तिरिति भ्वादिगणपठितत्वम् उक्तम् ॥९॥

---

[1] इस प्रघट्टक की यह व्याख्या हमने **'शाङ्करी'** टीका के अनुसार प्रस्तुत की है। **दर्पणकार** आदियों की व्याख्या जटिल होने से उस का यहां आश्रय नहीं लिया गया, विशेष-जिज्ञासु उसे वहीं देखें ॥

यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि वैयाकरणमतानुसार धातु को व्यापार वाचक मानने में पाणिनि का कोई सूत्र प्रमाणत्वेन प्रस्तुत नहीं किया जा सकता अतः वैयाकरणों की बात स्वोत्प्रेक्षित अर्थात् अपनी बनाई हुई प्रमाणशून्य कपोलकल्पित है—तो इसका उत्तर कारिका के उत्तरार्ध में दिया गया है—"**किञ्च क्रियावाचकतां विना धातुत्वमेव न**" अर्थात् भू आदियों को क्रियावाचक न मानने पर उन की धातुसञ्ज्ञा ही न हो सकेगी। तथाहि—धातुसञ्ज्ञा का विधायक सूत्र है—'**भूवादयो धातवः**' (१.३.१)। इस सूत्र में 'भू' और 'वा' का पहले द्वन्द्वसमास होता है—**भूश्च वाश्च= भूवौ**। इधर दो प्रकार के (व्यवस्था तथा सादृश्य वाचक) 'आदि' शब्दों के द्वन्द्व-समास में '**सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ**' (१.२.६४) के अनुसार एक-शेष कर लिया जाता है--**आदिश्च आदिश्च आदी**। अब '**भूवौ आदी येषां ते भूवादयः**' इस प्रकार बहुव्रीहिसमास करने पर 'भूवादयः' पद सिद्ध होता है। यहां पर दो प्रकार के आदिशब्दों में[1] पहला व्यवस्थावाचक आदिशब्द तो 'भू' के साथ सम्बद्ध हो जाता है और दूसरा प्रकारवाचक आदिशब्द 'वा' के साथ संलग्न होता है। इस प्रकार—'**भू आदि शब्द जो 'वा' के सदृश हैं धातुसञ्ज्ञक होते हैं**' ऐसा सूत्रार्थ निष्पन्न होता है। भू आदि शब्द धातुपाठ के दश गणों में परिपठित हैं। 'वा' के सदृश होने का यह अभिप्राय है कि जैसे '**वा गतिगन्धनयोः**' (अदादि० परस्मै०) धातु क्रियावाचक है वैसे यदि भ्वादि शब्द क्रियावाचक हों तो धातुसञ्ज्ञक होते हैं। इस प्रकार सूत्रानुसार धातु का यह लक्षण निष्पन्न होता है—"**क्रियावाचकत्वे सति**

---

[1] आदि शब्द के दो अर्थ प्रसिद्ध हैं--व्यवस्था और प्रकार। पहला व्यवस्थावाचक आदि शब्द अत्यन्त प्रसिद्ध है, यथा—सर्वादि, प्रादि, स्वरादि आदि। इसे प्रभृतिवाचक भी कह सकते हैं। दूसरा आदि शब्द प्रकार अर्थात् सादृश्य का द्योतक है, यथा—'**न हि मक्षिकाहनने खड्गादयो गृह्यन्ते**' (मक्खी को मारने के लिये तलवार आदि नहीं उठाई जाती) यहां 'खड्गादि' में 'आदि' शब्द प्रकारवाचक है। खड्गादि का अभिप्राय है 'तलवार जैसे बड़े बड़े हथियार'। इसी प्रकार यहां प्रकृत में दो प्रकार के आदि शब्दों का एकशेष हुआ है। पहला व्यवस्थावाचक आदि-शब्द 'भू' के साथ संलग्न हो जाता है अर्थात् भ्वादि=भू प्रभृति शब्द। दूसरा प्रकारवाचक 'वा' के साथ संलग्न हो जाता है, वासदृश अर्थात् जैसे 'वा' धातु गत्यादि अर्थों के कारण क्रियावाचक है वैसे ये भी क्रियावाचक होने चाहियें॥

भ्वादिगणपठितत्वं धातुत्वम्'' (जो क्रिया का वाचक होता हुआ भ्वादिगण[1] में पढ़ा गया हो उसे 'धातु' कहते हैं)। यदि केवल '**क्रियावाचकत्वं धातुत्वम्**' इतना लक्षण करते '**भ्वादिगणपठितत्वम्**' यह अंश नहीं कहते तो 'हिरुक्, विना' इन अव्ययों की भी धातुसञ्ज्ञा हो जाती, क्योंकि ये दोनों भी 'वर्जन' अर्थात् छोड़नारूप क्रिया के वाचक हैं। परन्तु अब भ्वादिगणपठित न होने से लक्षण की अतिव्याप्ति इन में नहीं होती[2] ॥९॥

भूषणसारः—

तावन्मात्रोक्तौ चाऽऽह—

यदि '**भ्वादिगणपठितत्वं धातुत्वम्**' इतना ही धातु का लक्षण करेंगे, '**क्रियावाचकत्वे सति**' यह अंश लक्षण में नहीं डालेंगे तो क्या दोष उत्पन्न होगा—इसे स्पष्ट करने के लिये अग्रिम-कारिका का अवतरण करते हैं—

कारिका—

सर्वनामाऽव्ययादीनां या-वादीनां प्रसङ्गतः।
न हि तत्पाठमात्रेण युक्तमित्याकरे स्फुटम् ॥१०॥

यदि 'भ्वादिगणपठितत्वं धातुत्वम्' इतना मात्र लक्षण करते हैं तो 'याः पश्यसि' इत्यादि स्थानों पर सर्वनाम 'या' शब्द की तथा विकल्पार्थक 'वा' इस

---

[1] यहां 'भ्वादिगण' से तात्पर्य प्रथमगण से नहीं अपितु सब धातुगणों को सामान्यरीतया '**भ्वादिगण**' से निर्देश किया गया है। इसी प्रकार आगे भी सर्वत्र समझ लें॥

[2] अन्य लोगों का यह कहना है कि क्रिया के साथ काल हमेशा सम्बद्ध रहता है। इन वर्जनार्थक '**हिरुक्, नाना**' आदि अव्ययों में काल की प्रतीति न होने से इनको क्रियावाचक नहीं माना जा सकता, अतः इस प्रकार के प्रत्युदाहरण यहां नहीं दिये जा सकते। यहां के लिये उपयुक्त प्रत्युदाहरण—'**आणवयति, वट्टयति**' आदि हैं। ये दोनों अपभ्रंश-भाषाओं के शब्द हैं और वर्जनार्थक हैं। यदि लक्षण में '**भ्वादिगण-पठितत्वम्**' नहीं कहते तो इन क्रियावाचक अपभ्रंशशब्दों की भी संस्कृतव्याकरण में धातुसञ्ज्ञा हो जायेगी। अतः इनके वारणार्थ लक्षण में उस का समावेश जरूरी है॥

अव्यय आदि की भी धातुसंज्ञा होने लगेगी—अतः वैसा लक्षण करना उचित नहीं, यह महाभाष्य में स्पष्ट है ।।

भूषणसारः—

गणपठितत्वमात्रोक्तौ सर्वनामा यो 'या', तस्यापि धातुत्वं स्यात्[1] । तथा च 'याः पश्यसि' इत्यादौ 'आतो धातोः' (६.४.१४०) इत्यालोपाऽऽपत्तिः । ननु लक्षण-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणान्न सर्वनाम्नो ग्रहणं तस्य लाक्षणिकत्वात्, इत्यत आह—वेत्यादि । अव्यये 'वा' इत्यादावतिप्रसङ्गस्तादृशस्यैव गणेऽपि पाठेन निर्णयाऽसम्भवात् । तथा च विकल्पार्थको 'वाति' इति प्रयोगः स्याद् इति भावः । न च गतिगन्धनाद्यर्थनिर्देशो नियामकः, तस्य 'अर्थानादेशनाद्' इति भाष्यपर्यालोचनयाऽऽधुनिकत्वलाभात् ।।१०।।

यदि धातु का लक्षण '**भ्वादिगणपठितत्व धातुत्वम्**' इतना मात्र करेंगे अर्थात् '**क्रियावाचकत्वे सति**' यह अंश लक्षण में नहीं डालेंगे तो 'या' (यत् शब्द का स्त्रीलिङ्ग) इस सर्वनाम की भी धातुसञ्ज्ञा हो जायेगी, क्योंकि 'या' का पाठ अदादिगण में आने से '**भ्वादिगणपठितत्वं धातुत्वम्**' यह लक्षण इस में भी घट जायेगा। तब 'याः पश्यसि' (तू जिन को देखता है) यहां द्वितीया के बहुवचन शस् में 'या' के धातु होने से 'आतो धातोः' (६.४.१४०) द्वारा आकार का लोप होकर 'यः पश्यसि' यह अनिष्ट रूप प्राप्त होगा ।

यदि कहें कि "**लक्षण-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्**" (लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त इन दो में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है) इस परिभाषा के बल से हम सर्वनामसंज्ञक लाक्षणिक 'या' का ग्रहण न कर प्रतिपदोक्त गत्यर्थक 'या' का ही ग्रहण करेंगे, अतः कोई दोष नहीं आयेगा—तो लीजिये अन्य उदाहरण जहां दोष प्रसक्त होगा—तब विकल्पा-

---

[1] श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिसम्पादितसंस्करणे '**गणपठितत्वमात्रोक्तौ सर्वनामाव्ययानामपि धातुत्वं स्यात्**' इति पाठ उपलभ्यते ।।

र्थक 'वा' इस अव्यय की भी धातुसञ्ज्ञा हो जायेगी क्योंकि इसका पाठ भी अदादिगण में आया है। इसकी धातुसञ्ज्ञा होने से विकल्पार्थ में 'वाति' यह अनिष्ट प्रयोग बनने लगेगा।

यदि आप यह कहें कि धातुपाठ में जो अर्थनिर्देश किया गया है—यथा 'या प्रापणे, वा गतिगन्धनयोः' इत्यादि, वह यहां नियामक होगा, अर्थात् इस अर्थनिर्देश के कारण विकल्पार्थक 'वा' शब्द की धातुसञ्ज्ञा न हो सकेगी—तो यह ठीक नहीं, क्योंकि धातुपाठ का अर्थनिर्देश तो बहुत आधुनिक है[1]। पाणिनि ने तो 'भ्वेध्' इस प्रकार अर्थनिर्देश के विना ही धातुपाठ पढ़ा था। अतएव महाभाष्य में कहा गया है—**'अर्थानादेशनात्'** (सत्ता आदि अर्थों का निर्देश न होने से)।

इस प्रकार विकल्पार्थक 'वा' आदि अव्यय धातुसंज्ञक न हो जायें

---

[1] महाभाष्य १.३.१ में यह स्पष्ट ध्वनित है—

"परिमाणग्रहणं च कर्तव्यम् । इयानवधिर्धातुसञ्ज्ञो भवतीति वक्तव्यम् । कुतो हि एतद् ? भूशब्दो धातुसञ्ज्ञो भवति, न पुनर्भ्वेधशब्दः ।"

अर्थात् (धातुसञ्ज्ञाविधायक सूत्र में) परिमाण का ग्रहण भी करना चाहिये। इतनी अवधि वाला शब्द धातुसञ्ज्ञक होता है–ऐसा कहना चाहिये। ऐसा किस लिये कहते हो ? ताकि भू शब्द की ही धातुसञ्ज्ञा हो **'भ्वेध'** शब्द की न हो।

इस उद्धरण में महाभाष्यकार ने परिमाण ग्रहण के अभाव में **'भ्वेध'** शब्द की धातुसञ्ज्ञा की प्रसक्ति दर्शाई है। यदि धातुपाठ में **'भू सत्तायाम् एध वृद्धौ'** ऐसा धात्वर्थनिर्देशसहित धातुओं का पाठ होता तो **'भ्वेध'** में धातुसंज्ञा की प्रसक्ति का प्रश्न ही उत्पन्न न होता, क्योंकि दोनों के मध्य में **'सत्तायाम्'** पद पढ़ा गया था। यह प्रसक्ति तभी उत्पन्न होती है जब धातुपाठ में धात्वर्थनिर्देश न हो—केवल **'भ्वेधस्पर्ध'** इस प्रकार संहितापाठ से पठित हो। इसीलिये यहां कैयट ने लिखा है—**"न चार्थपाठः परिच्छेदकः, तस्याऽपाणिनीयत्वात्, अभियुक्तैरुपलक्षणतया उक्तत्वाद् इति ॥"** इस की व्याख्या में नागेश लिखते हैं—

"भीमसेनेनेत्यैतिह्यम्" अर्थात् धात्वर्थनिर्देश भीमसेन ने किया है—यह इतिहास से विदित होता है। इसीलिये भट्टोजिदीक्षित ने **शब्दकौस्तुभ** में लिखा है—**"न च 'या प्रापणे' इत्याद्यर्थनिर्देशो नियामकः, तस्य अपाणिनीयत्वात्। भीमसेनादयो ह्यर्थं निर्दिदिशुरिति स्मर्यते। पाणिनिस्तु 'भ्वेध' इत्याद्यपाठीद् इति भाष्यकैयटयोः स्पष्टम् ॥"**

इसके लिए हमें लक्षण में 'क्रियावाचकत्वे सति' यह अंश जरूर डालना पड़ेगा; अतः 'क्रियावाचकत्वे सति भ्वादिगणपठितत्वं धातुत्वम्' यह ही धातु का समुचित लक्षण है ॥१०॥

भूषणसारः—

नन्वस्तु क्रियावाचकत्वे सति गणपठितत्वं धातुत्वम्; क्रिया च धात्वर्थ एव, न व्यापार इति शङ्कां समाधत्ते—

अच्छा तो '**क्रियावाचकत्वे सति गणपठितत्वं धातुत्वम्**' (क्रिया का वाचक होते हुए जो गण में पढ़ा गया है वह धातु है) यह धातु का लक्षण मान लेते हैं, परन्तु 'क्रिया' से हम (मीमांसक) आपके सम्मत फल और व्यापार दोनों का ग्रहण नहीं करते किन्तु धातु के अर्थ[1] अर्थात् फल का ही ग्रहण करते हैं—इस शङ्का का समाधान करने के लिए अग्रिम-कारिका का अवतरण करते हैं—

कारिका—

धात्वर्थत्वं क्रियात्वं चेद्धातुत्वं च क्रियार्थता।
अन्योऽन्यसंश्रयः स्पष्टस्तस्मादस्तु यथाऽऽकरम् ॥११॥

यदि धातु के अर्थ को क्रिया और क्रिया के अर्थ को धातु मानने लग जाओगे तो स्पष्टतया अन्योन्याश्रयदोष प्रसक्त होगा। अतः यहां वैसे ही मानना उचित है जैसा कि आकर अर्थात् महाभाष्य में स्वीकार किया गया है॥

भूषणसारः—

यदि क्रियात्वं धात्वर्थत्वमेव तर्हि धातुत्वग्रहे तदर्थत्वरूपक्रियात्वग्रहः, क्रियात्वग्रहे तदवच्छिन्नवाचकत्वघटितधातुत्वग्रह इत्यन्योऽन्याश्रय इति ग्रहपदं पूरयित्वा व्याख्येयम्। यथाश्रुते चाऽन्यो-

---

[1] धातुपाठ में 'भू सत्तायाम्' आदि में सर्वत्र प्रायः फल का ही निर्देश किया गया है व्यापार का नहीं अतः मीमांसक फल को ही केवल धात्वर्थ मानते हैं॥

ऽन्याश्रयस्योत्पत्तौ ग्रहे वा प्रतिबन्धकत्वाऽभ्युपगमेन असंगत्याऽऽपत्तेः ॥

यदि क्रिया को धातु का अर्थ ही मानोगे तो 'धातु' पद के ज्ञान में धात्वर्थरूप क्रिया का ज्ञान तथा क्रिया के ज्ञान में 'धातु' पद का ज्ञान आवश्यक होगा—इसप्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा। ध्यान रहे कि कारिका की व्याख्या करते समय ग्रह (ज्ञान) पद का अध्याहार करना चाहिये अन्यथा कारिका का अर्थ असंगत हो जायेगा। क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष की प्रसक्ति उत्पत्ति और ज्ञान के विषय में ही प्रतिबन्धक मानी गई है अन्यत्र नहीं [1]॥

भूषणसारः—

न चाऽन्यतमत्वं धातुत्वम्, "भूवादयः०" (१.३.१) इत्यस्य

---

[1] संसार में अन्योऽन्याश्रित कार्य हुआ ही करते हैं—यह कोई अनहोनी बात नहीं। जैसे स्थल पर जल और जल पर स्थल अन्योन्याश्रित रहते ही हैं। कभी नौका शकट को और कभी शकट नौका को उठाया करता है—यहां अन्योऽन्याश्रय प्रसिद्ध है ही। अतः अन्योऽन्याश्रयदोष की प्रसक्ति सर्वत्र न मानकर केवल वहां पर ही मानी जाती है जहां उत्पत्ति या ज्ञान का विषय हो। उत्पत्ति में अन्योन्याश्रयदोष यथा—'**यज्ञदत्ताद् देवदत्तो देवदत्ताच्च यज्ञदत्तो जातः**'। यहां परस्पर से परस्पर की उत्पत्ति में अन्योन्याश्रयदोष के कारण वाक्य का ठीक प्रकार से अन्वय उपपन्न नहीं हो सकता। ज्ञान में अन्योन्याश्रयदोष यथा—'**हलन्त्यम्**' (१.३.३) '**आदिरन्त्येन सहेता**' (१.१.७०)। 'हलन्त्यम्' सूत्रसे इत्सञ्ज्ञा का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि 'हल्' पदार्थ का ज्ञान न हो और 'हल्' पदार्थ का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक ल् की इत्संज्ञा का ज्ञान न हो जाये। इस प्रकार इत्सञ्ज्ञा का ज्ञान और हल् पदार्थ का ज्ञान अन्योऽन्याश्रित होने से दोषग्रस्त हैं। इसका समाधान **सिद्धान्तकौमुदी** में '**हलन्त्यम्**' सूत्र की आवृत्ति करके किया गया है। एक '**हलन्त्यम्**' सूत्र का अर्थ होगा—'हल्' (प्रत्याहारसूत्र १४) सूत्र में अन्त्य ल् की इत्संज्ञा हो। इससे इत्पदार्थ का ज्ञान होकर 'आदिरन्त्येन सहेता' सूत्र से 'हल्' प्रत्याहार बन जायेगा तब दूसरा 'हलन्त्यम्' सूत्र प्रवृत्त होकर—उपदेश में अन्त्य हल् की इत्सञ्ज्ञा करता जायेगा। महाभाष्य में यहां पर अन्यप्रकार से भी समाधान प्रस्तुत किया गया है, विशेषजिज्ञासु उसे वहीं देखें॥

वैयर्थ्यापत्तेरित्यभिप्रेत्याह—अस्त्विति । व्यापारसन्तानः क्रिया, तद्वाचकत्वे सति गणपठितत्वमित्यर्थः ॥

यदि आप यह कहें कि हम अन्योऽन्याश्रयदोष से बचने के लिए 'धातु' उसे मान लेंगे जो भ्वादियों में अन्यतम (कोई एक) हो अर्थात् भ्वादि परिगणितों में पठित धातु होता है—ऐसा कह देंगे तो '**क्रिया च धात्वर्थः**' इस लक्षण में क्रिया का ज्ञान हो जायेगा तब '**क्रियावाचकत्वे सति गणपठितत्वं धातुत्वम्**' यह लक्षण भी स्वतन्त्रतया गृहीत हो जायेगा अतः अन्योन्याश्रयदोष नहीं आयेगा —तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि तब धातुत्व के लक्षण का प्रतिपादक '**भूवादयो धातवः**' (१.३.१) सूत्र व्यर्थ हो जायेगा । अतः क्रिया वही माननी चाहिये जो भाष्य में मानी गई है । भाष्य में '**व्यापारसन्तानः क्रिया**' अर्थात् व्यापारों के परम्परारूप समूह का नाम क्रिया कहा गया है अतः उस का वाचक होता हुआ जो गण में पढ़ा गया है उसे 'धातु' मानना चाहिये ॥

भूषणसारः—

ननु सत्तादीन् फलांशान् अन्यतमत्वेनादाय तद्वाचकत्वे सति गणपठितत्वं लक्षणमुच्यताम् । धात्वर्थत्वात्तेषां क्रियाशब्देन व्यवहारो भाष्यादौ कृतोऽप्युपपत्स्यते—इति चेत् ? न । अन्यतममध्ये विकल्पस्यापि 'विकल्पयति' इति प्रयोगानुसारात् प्रवेशाऽऽवश्यकत्वेन तदर्थके 'वा' इत्यव्यये उक्तरीत्या गणपठितत्वसत्त्वेनातिव्याप्तिरिति ॥११॥

प्रश्न—सत्तादि फलांशों में से किसी एक का वाचक होता हुआ जो गण में पठित है उसे 'धातु' कहते हैं—ऐसा लक्षण क्यों न किया जाये ? ध्यान रहे कि फलांश का भी महाभाष्य में क्रिया शब्द से व्यवहार उपलब्ध होता है ।

उत्तर—ऐसा करने में दोष प्रसक्त होगा । क्योंकि लोक में '**विकल्पयति**' का फलांश अर्थ '**विकल्प**' प्रसिद्ध है ही । उस विकल्प का वाचक '**वा**' यह अव्यय गण में भी पठित है अतः वह भी '**क्रियावाचकत्वे सति गणपठितत्वम्**' इस लक्षण के अनुसार धातुसञ्ज्ञक बन जायेगा, अतः

अतिव्याप्तिदोष प्रसक्त होने से आप की बात मान्य नहीं ॥११॥

भूषणसारः—

ननु अस्यैव[1] धातुत्वे 'अस्ति' इत्यादौ क्रियाप्रतीत्यभावाद् अस्त्यादीनां तदवाचकानाम्[2] अधातुत्वप्रसङ्ग[3] इत्यत आह—

अच्छा तो यदि फल और व्यापार दोनों ही धातु के वाच्य हैं तो 'अस्ति' आदियों में व्यापार तो कोई प्रतीत नहीं होता, केवल सत्तारूप फल ही प्रतीत होता है इस से आपके लक्षणानुसार इस की धातुसञ्ज्ञा न हो सकेगी—इस शङ्का की निवृत्ति के लिए अग्रिम-कारिका का अवतरण करते हैं—

कारिका—

अस्त्यादावपि धर्म्यंशे भाव्येऽस्त्येव हि भावना ।
अन्यत्राऽशेषभावात्तु सा तथा न प्रकाशते ॥१२॥

'अस्ति' आदियों में भी सत्तादिरूप फल के भाव्यत्वेन (निष्पाद्यत्वेन) विवक्षित होने से भावना (व्यापार) है ही, परन्तु ऐसे स्थलों पर भावना इसलिए प्रकाशित नहीं होती क्योंकि वहां भावना और फल एक साथ अर्थात् सामानाधिकरण्य से रहते हैं—पृथक् पृथक् कभी नहीं रहते ॥

भूषणसारः—

अस्त्यादौ 'अस भुवि' इत्यादौ । धर्म्यंशे—धर्मिभागे । भाव्ये—भाव्यत्वेन विवक्षिते । अस्त्येव—प्रतीयत एव । अयमर्थः 'स ततो गतो न वा' इति प्रश्ने 'महता यत्नेनास्ति'[4] इति प्रयोगे सत्तारूपफलानुकूला भावना प्रतीयत एव ॥

---

[1] अस्यैव—व्यापारवाचकस्यैवेत्यर्थः ॥

[2] तदवाचकानाम्—व्यापाराऽवाचकानाम् इत्यर्थः ॥

[3] आपत्तेरिष्टत्वं तु न, तथा सति लकाराद्यनुत्पत्तिप्रसङ्गाद् इति भावः ॥

[4] तिष्ठतीति पाठान्तरम् ॥

अस्ति आदियों में अर्थात् 'अस भुवि' (अदा० परस्मै०) इत्यादियों में। धर्मी के अंश में अर्थात् धर्मी के भाग फलरूप में[1]। '**भाव्ये**' का अभिप्राय है, भाव्यत्व से विवक्षित होने पर। '**अस्त्येव**' अर्थात् भावना प्रतीत होती ही है। इस प्रकार पदों को समझ कर कारिका के पूर्वार्ध को खोल कर समझाने के लिए भूषणकार एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

किसी ने पूछा कि '**स ततो गतो न वा ?**'(वह वहां से गया या नहीं) इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया गया—'**स महता यत्नेन अस्ति (तिष्ठति)**' वह बड़े यत्न से है अर्थात् वह अभी वहां से गया नहीं अपितु जमा हुआ—स्थित है। यहां प्रश्न व्यापारविषयक था। पूछने वाले का प्रश्न देवदत्तादि के व्यापार के विषय में था, वह वहां से उसका जाना व न जाना पूछना चाहता था—जो स्पष्टतः व्यापार है अतः उत्तर भी व्यापारविषयक समझा जायेगा क्योंकि यत्सम्बन्धी प्रश्न का तत्सम्बन्धी उत्तर देना ही उचित होता है[2]। '**आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे**' सवाल आम्र के विषय का हो और जवाब में कोविदार का वर्णन आ जाये—यह तो उचित उत्तर नहीं कहा जा सकता। अतः यहां भावनाविषयक प्रश्न का उत्तर भी भावनाविषयक समझा जायेगा। उत्तर में '**यत्नेनास्ति**' का प्रयोग है तो इससे प्रतीत होता है कि '**अस्ति**' में भावना अंश भी विद्यमान है जिसके लिये '**महता यत्नेन**' कहा गया है; यत्न व्यापार के लिए ही किया जाता है। यदि '**अस्ति**' में भावना का अंश नितान्त न होता तो '**यत्नेन**' का भी प्रयोग न हो सकता और तब वह उत्तर भी भावनाविषयक न बन सकता। अतः इससे प्रतीत होता है कि '**अस्ति**' आदियों में भावनांश (व्यापारांश) भी सूक्ष्मरीत्या घुलामिला रहता है जो विबुधजनवेद्य होता है।

अब भूषणकार इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिए दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

---

[1] धर्मो विशेषणम्, प्रकृते सत्तादिरूपं फलमभिप्रेतम्। तदस्यास्तीति धर्मी=विशेष्यः, स च प्रकृते कर्तृरूपः, अकर्मकधातुस्थले फलाश्रयस्य कर्तृत्वात्। धर्मिणोंऽशः =धर्म्यंशः, स च फलरूपः, धर्मिणो **धर्मघटितमूर्तिकत्वात्**॥

[2] "**जिज्ञासितपदार्थस्य संसर्गो येन गम्यते।**
तदुत्तरमिति प्रोक्तम् अन्यदाभासशब्दितम्॥"

भूषण-सारः—

उत्पत्त्यादिबोधने तु सुतराम्[1], 'रोहितो लोहिताद् आसीद् धुन्धुस्तस्य सुतोऽभवत्' (रामायणे) इत्यादिदर्शनात्। किञ्चात्र भावनाविरहे लडादिव्यवस्था न स्यात्, तस्या एव वर्तमानत्वादि-विवक्षायां तद्विधानात्।

"क्रियाभेदाय कालस्तु संख्या सर्वस्य भेदिका" इति वाक्य-पदीयादिति। नन्वेवम्[2] 'अस्ति' इत्यत्र स्पष्टं कुतो न बुध्यत इत्यत आह—अन्यत्रेति। अशेषभावात्[3] —भावनायाः फल-समानाधिकरणत्वात्। तथा च भावनायाः फलसामानाधिकरण्यं तत्स्पष्टत्वे दोष[4] इति भावः॥

जब 'अस्ति, भवति' आदियों का उत्पत्ति आदि अर्थ किया जाता है तब तो यह भावना और अधिक अच्छी तरह स्पष्ट प्रतीत हुआ करती है। निदर्शनार्थ यथा—

"रोहितो लोहितादासीद् धुन्धुस्तस्य सुतोऽभवत्।" लोहित से रोहित-नामक पुत्र उत्पन्न हुआ और उसका पुत्र धुन्धुनामक हुआ। यहां 'आसीत्' 'अभवत्' ये भूतकालिक क्रियाएं हैं। लट् आदि कालव्यवस्था भावना (व्यापार) में ही सम्भव हुआ करती है। व्यापार में ही वर्त्तमानकाल भूतकाल और भविष्यत्काल का व्यवहार उपपन्न हो सकता है अन्यत्र नहीं।

---

[1] सुतरामित्यस्य व्यापारार्थकत्वम् इति शेषः॥

[2] एवम्—धातुमात्रस्य व्यापारवाचकत्वे॥

[3] नास्ति शेषः फलव्याप्त्यतिरिक्तो भावो (भवत्यस्मिन् इति व्युत्पत्त्या) ऽधिकरणं यस्य तस्मात्, फलव्यधिकरणत्वाभावादित्यर्थः॥

[4] दूरत्वादिकमिव फलभावनयोः सामानाधिकरण्यं व्यापाररूपभावनायाः स्पष्टप्रतीतौ प्रतिबन्धकमित्यर्थः॥

अतः अस् आदियों में व्यापारांश भी घुलामिला है[१]। तभी तो श्रीभर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है—

क्रियाभेदाय[२] कालस्तु संख्या सर्वस्य[३] भेदिका'' अर्थात् काल क्रिया के विशेषण होते हैं और संख्या हर एक की विशेषण बन सकती है।

अच्छा तो यह बताएं कि '**अस्ति, भवति**' आदिओं में व्यापारांश स्पष्टतया क्यों प्रतीत नहीं होता जैसाकि '**पचति**' आदियों में स्पष्ट प्रतीत होता है ? इसके उत्तर के लिये कारिका का उत्तरार्ध पढ़ा गया है। इस प्रकार की धातुओं में क्योंकि फल और व्यापार एक ही अधिकरण (स्थान) में रहते हैं अतः उनका घुलमिलकर रहना ही व्यापार की स्पष्ट प्रतीति में बाधक होता है ॥

भूषणसारः—

नन्वेवं[४] 'किं करोति' इति प्रश्ने 'पचति' इत्युत्तरस्येव 'अस्ति' इत्युत्तरमपि स्यादिति चेद् ? इष्टापत्तिः, आसन्नविनाशं कञ्चिदुद्दिश्य 'किं करोति' इति प्रश्ने 'अस्ति' इत्युत्तरस्य सर्वसम्मतत्वात्। इतरत्र[५] तु सुस्थतया निश्चिते[६] 'किं करोति' इति

---

[१] महाभाष्य (भूवादिसूत्र) में भी कहा गया है—

'नान्तरेण क्रियां भूतभविष्यद्वर्त्तमाना काला व्यज्यन्ते। अस्त्यादिभिश्चापि भूतभविष्यद्वर्त्तमानकाला व्यज्यन्ते ॥'

[२] **'तुमर्थाच्च भाववचनात्'** (२.३.१५) इति चतुर्थी। क्रियां भेत्तुं-विशेषयितुं कालो लडादिबोध्य इत्यर्थः ॥

[३] सर्वस्य—क्रियायास्तद्भिन्नस्य च। आख्यातप्रातिपदिकार्थस्य सर्वस्य भेदिकेति भावः ॥

[४] एवम्—अस्त्यादीनाम् अकर्मकाणामपि भावनावाचकत्वे ॥

[५] इतरत्र—आसन्नविनाशभिन्ने ॥

[६] सुस्थतया निश्चित इति। सत्तानुकूले व्यापारे निश्चिते सति किं करोतीति प्रश्नोऽन्यविषयक एवेत्यवधारणात् तत्र 'अस्ति' इत्युत्तरं नेत्यर्थः। अज्ञातविषयिणी एव जिज्ञासा न तु निश्चितविषयिण्यपीति नियमाद् इति भावः ॥

प्रश्नः पच्यादिविशेषगोचर एवेत्यवधारणाद् 'अस्ति' इति नोत्तरमिति ॥१२॥

प्रश्न—अच्छा तो जब हम किसी से भावनाविषयक प्रश्न करते हैं कि '**किं करोति**' क्या करता है ? तो इसके उत्तर में '**पचति, पठति**' आदि ही प्राप्त होते हैं; '**अस्ति, भवति**'आदि कभी भी उत्तर में नहीं कहे जाते। इससे प्रतीत होता है कि 'अस्ति' आदि में भावना का अंश बिल्कुल नहीं होता यदि होता तो कभी न कभी वह भी उत्तर में कहा जाता। अतः '**अस्ति**' आदियों में व्यापार का अंश मानना उचित नहीं।

उत्तर—श्रीमन् ! ऐसे स्थलों पर भी '**अस्ति**' का प्रयोग अभीष्ट है और हुआ भी करता है। यथा किसी मरणासन्न पुरुष के विषय में कोई किसी से प्रश्न करता है कि '**किं करोति**' ? (वह क्या करता है अर्थात् उसकी क्या दशा है, मरा है या जीवित है) तो इसके उत्तर में '**अस्ति**' (वह है अर्थात् अभी जी रहा है) कहा ही जाता है, इसमें किसी को भी विप्रतिपत्ति नहीं। परन्तु जब प्रश्नकर्ता को किसीकी स्थिति अर्थात् अस्तित्व में सन्देह नहीं होता तभी '**किं करोति**' के उत्तर में '**पचति**' आदि उत्तर दिये जाते हैं, क्योंकि वहां अस्तित्व के निश्चित होने से प्रश्नकर्ता का आशय उस व्यक्ति के अस्तित्वातिरिक्त क्रियाकलापों से हुआ करता है। मगर जब अस्तित्व के विषय में जिज्ञासा होती है तब '**किं करोति**' का उत्तर '**अस्ति**' आदि से भी दिया ही जाता है। अतः '**अस्ति**' आदियों में व्यापारांश का अपलाप नहीं किया जा सकता—यह सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

भूषणसारः—

नन्वेवं भावनायाः फलनियतत्वात् फलाश्रयस्य च कर्मत्वात् सर्वेषां क्रियावाचकत्वे सकर्मकतापत्तिरित्यत आह—

अच्छा तो आप के मतानुसार धातु के अर्थ में फल के साथ व्यापार अर्थ का रहना भी निश्चित ही है। यदि ऐसा है तो प्रत्येक धातु सकर्मक हो जायेगी। क्योंकि प्रत्येक धातु का कोई न कोई फल होगा और वह फल कहीं न कहीं आश्रित होगा ही, फल का आश्रय कर्म होता है यह तो प्रसिद्ध

है ही—इस प्रकार सब धातु सकर्मक बन जायेंगे; अकर्मक नाम की व्याकरण में कोई धातु न रहेगी। इससे व्याकरणशास्त्र में 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' (३.४.६९) 'गत्यर्थाकर्मकश्लिष—' (३.४.७२) 'अकर्मकाच्च' (१.३.२६) इत्यादि अनेक पाणिनिसूत्र निर्विषय हो जायेंगे।

इस शङ्का का समाधान करने के लिये अग्रिम-कारिका का अवतरण करते हैं—

कारिका—

फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मकः।
धातुस्तयोर्धर्मिभेदे सकर्मक उदाहृतः ॥१३॥

जिस धातु के फल और व्यापार एक स्थान पर अर्थात् केवल एक ही स्थान पर रहते हों वह धातु अकर्मक होती है; और जिस धातु के फल और व्यापार भिन्न भिन्न स्थानों पर रहते हैं वह धातु सकर्मक होती है ॥

भूषणसारः—

एकनिष्ठतायाम्—एकमात्रनिष्ठतायाम्, भिन्नाधिकरणाऽवृत्तितायामिति यावत्। तेन गम्यादौ फलस्य कर्तृनिष्ठत्वेऽपि नातिव्याप्तिः। अकर्मको यथा भ्वादिः। तयोः=फलव्यापारयोः, आश्रयभेदे सकर्मक इत्यर्थः। उक्तञ्च वाक्यपदीये (३.३.४७)—

"आत्मानमात्मना बिभ्रदस्तीति व्यपदिश्यते।
अन्तर्भावाच्च तेनासौ कर्मणा न सकर्मकः" ॥ इति ॥

बिभ्रदिति। तेन स्वधारणानुकूलो व्यापारोऽत्रापि गम्यत इति भावः। तेन कर्मणा सकर्मकत्वं तु न, अन्तर्भावात्; फलांशेन सामानाधिकरण्यसत्त्वादित्यर्थः ॥

'एक स्थान पर रहने' का अभिप्राय है केवल एकमात्र स्थान पर रहना अर्थात् भिन्न भिन्न स्थानों पर न रहना। इससे गम् आदि धातुओं में फल और व्यापार के एक स्थान (कर्त्ता) में रहने पर भी अकर्मकत्व नहीं

होता [1]। अतः लक्षण में अतिव्याप्तिनामक दोष नहीं आता। अकर्मकधातु यथा—भू आदि।

यदि फल और व्यापार के धर्मियों आश्रयों का भेद हो अर्थात् जिस धातु के फल और व्यापार भिन्न भिन्न अधिकरणों (स्थानों) में रहते हों वह धातु सकर्मक होती है। जैसा कि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है—

अपने आपको अपने आपके द्वारा धारण करने पर 'अस्ति' का प्रयोग किया जाता है। यहां क्योंकि क्रिया अन्तर्भूत है अर्थात् फलांश के साथ समानाधिकरणभाव से रहती है अतः कर्म होने पर भी धातु सकर्मक नहीं होती अपितु अकर्मक ही रहती है॥

वक्तव्य—वाक्यपदीय के अनुसार 'अस्ति' धातुका अर्थ है '**अपने आपको धारण करना**'। यहां 'आत्मधारण' फल तथा 'तदनुकूल क्रिया' व्यापार है। दोनों फल और व्यापार समानाधिकरणभावसे कर्तृनिष्ठ रहते

---

[1] गम् धातु का फल है '**उत्तरदेशसंयोग**' और व्यापार है तदनुकूलक्रिया। उत्तरदेशसंयोगरूप फल दो स्थानों पर रहेगा, क्योंकि संयोग हमेशा समवायसम्बन्ध से उभयनिष्ठ रहा करता है। '**देवदत्तो ग्रामं गच्छति**' यहां देवदत्त और ग्राम का संयोग-रूप फल देवदत्त में भी रहेगा और ग्राम में भी। यदि अकर्मक धातु का लक्षण '**जिस धातु के फल और व्यापार एक स्थान पर रहें वह धातु अकर्मक होती है**' यह करते हैं तो **गम्** धातु भी अकर्मक हो जायेगी (जो वस्तुतः सकर्मक है) क्योंकि गम् धातु का फल=उत्तरदेशसंयोग कर्त्ता में रहता है और तदनुकूल व्यापार भी कर्तृनिष्ठ है। इस प्रकार अकर्मक का लक्षण सकर्मक गम् धातु में भी व्याप्त हो जाने से **अतिव्याप्ति दोष** आयेगा। भूषणकार कारिका में '**मात्र**' पद को लाकर इस दोष का निवारण करते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि 'मात्र' पद को लाकर अकर्मक का यह लक्षण करना चाहिये—'**जिस धातु के फल और व्यापार एक मात्र स्थान पर अर्थात् कहीं भी भिन्न स्थानों पर न रहते हों वह धातु अकर्मक होती है**'। इस प्रकार गम् धातु में अकर्मक का लक्षण नहीं जायेगा क्योंकि उसके फल और व्यापार एक स्थान (कर्त्ता) में रहते हुए भी भिन्न स्थानों पर रहते हैं। **गम्** का व्यापार तो कर्तृनिष्ठ ही रहेगा पर उत्तरदेशसंयोगरूप फल संयोग होने के कारण उभयनिष्ठ होने से कर्त्ता के अतिरिक्त ग्राम आदि कर्म में भी रहेगा। अतः फल और व्यापार के एकमात्रनिष्ठ न होने से **गम्** धातु अकर्मक न होगी। इस प्रकार कोई दोष नहीं आयेगा। अतः यहां '**मात्र**' पद का अध्याहार करके अर्थ करना उचित है अन्यथा नहीं॥

हैं अतः 'अस्' धातु अकर्मक है—ऐसा भूषणकार का तात्पर्य है । भर्तृहरि की इस कारिका के उत्तरार्ध का उपर्युक्त व्याख्यान भूषणकार कौण्डभट्ट ने अपनी शैली के अनुसार किया है, वस्तुतः यह कारिका के शब्दों के स्वारस्य के अनुकूल नहीं । अतएव **दर्पणकार श्रीहरिवल्लभ** को कहना पड़ा है कि—

"आत्मरूपकर्मणा सकर्मकत्वं कुतो नेत्याकाङ्क्षायाम् एतत्समाधानस्य उदक्षरत्वदोषदुष्टस्य योग्यत्वम् ईदृशव्याख्याने सुधीभिर्विभावनीयम् ।"

वस्तुतः कारिका के उत्तरार्ध का स्वारस्य यह है—'**उस कर्म से धातु सकर्मक नहीं होता क्योंकि वह कर्म धात्वर्थ के अन्तर्भूत है**' । जब कर्म धात्वर्थ के अन्दर आ जाता है तब उस कर्म से धातु सकर्मक नहीं हुआ करती[1] । जैसा कि कहा है—

"धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात् ।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥" (वाक्यपदीय ३.७.८८)

अर्थात् सकर्मक धातुओं के अकर्मक हो जाने में चार कारण हुआ करते हैं—

(१) **धातोरर्थान्तरे वृत्तेः । यदि धातु दूसरे (अकर्मक वाले) अर्थ में चली जाये तो सकर्मक धातु भी अकर्मक हो जाती है ।** यथा—'**दासो भारं वहति**' (दास भार को उठाता है) यहां वह् धातु सकर्मक है । परन्तु इस अर्थ को छोड़ कर '**बहना**' अर्थ में वह अकर्मक हो जाती है । यथा—**नदी वहति** (नदी बहती है, स्यन्दत इत्यर्थः) ।

(२) **यदि कर्म धात्वर्थ में उपसंगृहीत हो जाये तो धातु अकर्मक मानी जाती है**—यथा—जीव प्राणधारणे (भ्वा०, परस्मै०) । जीव् धातु का अर्थ है प्राणों को धारण करना । यहां 'प्राण' यद्यपि कर्म हैं तथापि धात्वर्थ में संगृहीत हैं अतः धातु अकर्मक है । स जीवति । इसी प्रकार 'नृती गात्र-विक्षेपे' (दिवादि० परस्मै०) आदि धातु भी अकर्मक हैं । 'भू' धातु का अर्थ भर्तृहरि की कारिका के अनुसार '**अपने आप को धारण करना**' है, अतः कर्म धात्वर्थ में सङ्गृहीत हो गया है इसलिये 'भू' धातु अकर्मक है ।

---

[1] यही बात **श्रीमद्दुर्बलाचार्य** ने भूषणसारव्याख्या में लिखी है—"**अन्तर्भावादिति, आत्मरूपकर्मणो धात्वर्थेऽन्तर्भावाद् इत्यर्थः**" ॥

(३) प्रसिद्धेः—**प्रसिद्धि के कारण भी कई सकर्मक धातुएं अकर्मक हो जाती हैं।** यथा—**मेघो वर्षति**। यहां 'जल' रूप कर्म प्रसिद्धि के कारण छोड़ दिया गया है। अर्थात् धातु का 'बरसाना' अर्थ प्रसिद्धि के कारण 'बरसना' अर्थ बन गया है। इस कारण का नागेश ने लघुशब्देन्दुशेखर में खण्डन किया है उसे वहीं देखें।

(४) **कर्म की अविवक्षा से भी सकर्मक धातुएं अकर्मक हो जाती हैं।** अर्थात् धातु का कर्म तो होता है, पर वक्ता को उसे कहने की इच्छा नहीं होती अतः सकर्मक धातु में भी अकर्मक की तरह व्यवहार होता है। यथा—'**हिताद् न यः संश्रृणुते स किं प्रभुः**' (किरातार्जुनीय० १.५)।

भर्तृहरि की उपर्युक्त कारिका का उत्तरार्ध वस्तुतः द्वितीयकारण की ओर निर्देश करता था पर कौण्डभट्ट ने अपने सिद्धान्तानुसार इस की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है। व्याख्याभेद के अतिरिक्त वस्तुतः दोनों व्याख्यानों में सिद्धान्ततः कोई अन्तर नहीं॥

भूषणसारः—

'आत्मानं जानाति, इच्छति' इत्यादौ च "द्वावात्मानौ, शरीरात्माऽन्तरात्मा च। तत्रान्तरात्मा तत्कर्म करोति येन शरीरात्मा सुखदुःखे[1] अनुभवती" ति 'कर्मवत्कर्मणा०' (३.१.८७) इति सूत्रीयभाष्योक्तरीत्या भिन्नाधिकरणनिष्ठतामादाय सकर्मकत्वम् इत्यवधेयम् ॥१३॥

प्रश्न—अच्छा तो '**देवदत्त आत्मानं जानाति**' इत्यादि वाक्यों में सकर्मक भी 'ज्ञा अवबोधने' धातु आप के लक्षणानुसार अकर्मक ठहरेगी। क्योंकि आप के लक्षणानुसार जिस धातु के फल और व्यापार में सामानाधिकरण्य हो वह धातु अकर्मक होती है। यहां 'ज्ञा' धातु का फल ज्ञान और तदनुकूल व्यापार दोनों कर्तृनिष्ठ (देवदत्त में स्थित) हैं तो क्या हम 'ज्ञा' धातु को अकर्मक मानलें; यदि अकर्मक मान लें तो '**आत्मानम्**' में द्वितीया कैसे हो सकेगी?

---

[1] 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' (१.१.११) इति प्रगृह्यत्वे 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' (६.१.१२१) इति प्रकृतिभावः॥

उत्तर—ऐसे स्थलों पर उपाधिभेद से काम चलाया जाता है। उपाधिभेद से आत्मा को दो प्रकार का मान लिया जाता है। एक शरीरात्मा तथा दूसरा अन्तरात्मा। अन्तरात्मा कर्त्ता तथा शरीरात्मा कर्म बन जाता है। उपाधिभेद से दो आत्माओं के मानने की बात महाभाष्य ('कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' सूत्र पर) में भी कही गई है। यथा "**द्वावात्मानौ—शरीरात्मा, अन्तरात्मा च। अन्तरात्मा तत्कर्म करोति येन शरीरात्मा सुखदुःखे अनुभवति, शरीरात्मा तत्कर्म करोति येनान्तरात्मा सुखदुःखे अनुभवति।**"

अर्थात् "उपाधिभेद से, आत्मा के एक होने पर भी दो भेद हो जाते हैं। एक शरीरावच्छिन्न आत्मा और दूसरा अन्तःकरणावच्छिन्न आत्मा। ये दोनों एक दूसरे को सुख दुःख का अनुभव कराते हैं"। इस प्रकार भेद मानकर '**आत्मानं जानाति**' का समाधान कर लेना चाहिए। यहां 'ज्ञा' धातु का ज्ञानरूप फल विषयतासम्बन्ध से शरीरात्मा में तथा तदनुकूलक्रियारूप भावना अन्तरात्मा में रहने से सामानाधिकरण्य के अभाव से 'ज्ञा' धातु को अकर्मक नहीं माना जा सकता; अपितु भिन्नाधिकरणवृत्तित्व के कारण सकर्मक ही मानेंगे। अतः लक्षण में कोई दोष उत्पन्न नहीं होता। कहा भी गया है (वाक्यपदीय ३.७.१०४)—

"एकस्य बुद्ध्यवस्थाभिर्भेदे च परिकल्पिते।
कर्मत्वं करणत्वं च कर्तृत्वञ्चोपजायते" ॥१३॥

भूषणसारः—

नन्वसत्त्वभूतक्रियाया धात्वर्थत्वे 'पाकः' इत्यत्रापि तत्प्रत्ययापत्तिः। न चेष्टापत्तिः, 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते' इति भाष्यविरोधाद् इत्यत आह—

अजी! यदि आप धातु का अर्थ असत्त्वभूत क्रिया मानेंगे तो 'पाकः' इत्यादि में भी असत्त्वभूत क्रिया की प्रतीति होने लगेगी। यदि कहो कि असत्त्वभूत क्रिया की प्रतीति होने दो हमें तो वह अभीष्ट ही है तो महाभाष्य के इस वचन से विरोध पड़ेगा—"**कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते**" अर्थात् कृत्प्रत्ययद्वारा कहा गया भाव सत्त्वावस्था को प्राप्त हो जाता है अतः वह द्रव्यवत् प्रकाशित होता है। 'पाकः' में 'पच्' धातु से भाव अर्थ में

'घञ्' यह कृत्प्रत्यय किया गया है[1] अतः यहां भाव सत्त्वावस्थापन्न हो जाने से द्रव्य बन गया है, इसीलिये तो लिङ्ग और संख्या का अन्वय हो गया है। ध्यान रहे कि लिङ्ग और संख्या का अन्वय द्रव्य में ही हुआ करता है असत्त्व (अद्रव्य) में नहीं[2]। इस शङ्का की निवृत्ति अग्रिम-कारिका द्वारा करते हैं—

कारिका—

आख्यातशब्दे भागाभ्यां साध्यसाधनरूपता।
प्रकल्पिता यथा शास्त्रे स घञादिष्वपि क्रमः॥१४॥[3]

'पश्य मृगो धावति' आदि वाक्यों में जिस प्रकार तिङन्त क्रियाओं की क्रमशः साध्य और साधन दो अवस्थाएं शास्त्र में कल्पित की गई हैं वैसे घञ् आदि प्रत्ययों के करने पर 'पाकः' आदिओं में भी क्रिया की उसी क्रम से दो अवस्थाएं कल्पना कर लेनी चाहियें॥

भूषणसारः—

आख्यातशब्दे—'पश्य मृगो धावति' इत्यादौ। भागाभ्याम्—तिङन्ताभ्याम्। प्रकृतिप्रत्ययभागाभ्याम् इति विवरणकारोक्तम् अपव्याख्यानम्, 'पचति' इत्यत्रापि भागद्वयसत्त्वात्। साध्य-साधनरूपता यथाक्रमं ग्राह्या। साध्यत्वं क्रियान्तराकाङ्क्षानुत्था-

---

[1] पच् ('डुपचँष् पाके' भ्वादि० उभय०, अनिट्) धातु से **'भावे'** (३.३.१८) सूत्र द्वारा घञ् प्रत्यय करने पर **'लशक्वतद्धिते'** (१.३.८) से घकार तथा **'हलन्त्यम्'** (१.३.३) से ञकार की इत्सञ्ज्ञा होकर 'पच्+अ' इस अवस्था में **'अत उपधायाः'** (७.२.११६) से उपधावृद्धि तथा **'चजोः कु घिण्ण्यतोः'** (७.३.५२) से चकार को कुत्व-ककार होकर प्रातिपदिकसंज्ञा करने से विभक्ति आकर **"पाकः'** प्रयोग सिद्ध होता है। 'पाकः' का अर्थ है—'पकाना'॥

[2] लिङ्गसङ्ख्यान्वितं द्रव्यम्॥

[3] साध्यसाधनवर्त्तितेति पाठान्तरम् यह कारिका भर्तृहरि के वाक्यपदीय में ३.८.४७ पर पढ़ी गई है॥

पकताऽवच्छेदकरूपवत्त्वम् । साधनत्वं कारकत्वेनान्वयित्वम् । स घञादिष्वपीति । प्रकृत्या साध्यावस्था, प्रत्ययेन साधनावस्था। इयान् विशेषः, घञाद्युपस्थाप्या लिङ्ग-सङ्ख्यान्वयिनी कारकान्वयिनी च । आख्यातान्तोपात्ता तु नैवम्[1] तथापि कारकत्वेनान्वयित्वमात्रेण दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकतेत्यवधेयम् ॥

सबसे प्रथम भूषणकार कारिका के क्लिष्ट तथा विवादास्पद पदों का अर्थ दर्शाते हैं। '**आख्यातशब्दे**' का अभिप्राय है '**पश्य मृगो धावति**' आदि वाक्यों में[2]। '**भागाभ्याम्**' का अभिप्राय है—दो तिङन्तों से। यहां विवरणकार ने '**भागाभ्याम्**' का अर्थ किया है—'**प्रकृति और प्रत्यय इन दो भागों से**'; परन्तु उसका यह अर्थ ठीक नहीं क्योंकि तब '**पचति**' में भी प्रकृति+प्रत्यय दो भाग होने से साध्यसाधनरूपता माननी पड़ेगी जो अनिष्ट है।

पीछे द्वितीयकारिका के व्याख्यान में '**पश्य मृगो धावति**' पर सविस्तर लिख चुके हैं। भाष्यकार ने इसे एकवाक्य माना है। यहां 'पश्य' क्रिया मुख्यक्रिया है। मुख्यक्रिया हमेशा साध्यावस्था में होती है—'**असत्त्वभूतो भावश्च तिङ् पदैरभिधीयते**'। 'धावति' क्रिया का मुख्यक्रिया में कर्मत्वेन अन्वय होता है। मृग दौड़ता है—देख, मृगकर्तृकधावनकर्मकदर्शनक्रिया—यह वहां बोध होता है। इस प्रकार के दो तिङन्तों वाले वाक्यों में मुख्यक्रिया

---

[1] लिङ्गान्वयिनी कर्तृकर्मेतरकारकत्वव्याप्यसम्बन्धान्वयिनी च नेति भावः ॥

[2] 'आख्यातशब्दे' में '**आख्यातञ्चासौ शब्दः, आख्यातशब्दस्तस्मिन्**' इस प्रकार कर्मधारयसमास नहीं है अर्थात् '**आख्यातरूपी शब्द में**' ऐसा अर्थ यहां अभिप्रेत नहीं है, अपितु बहुव्रीहिसमास द्वारा '**आख्याते (प्रथमाद्विवचनान्तम्) शब्दौ यत्र, तस्मिन् वाक्ये**'—जिस वाक्य में दो आख्यातशब्द पढ़े गये हों उस वाक्य को यहां '**आख्यात शब्द**' कहना अभीष्ट है। दो आख्यात शब्द '**पश्य मृगो धावति**' '**पचति भवति**' इत्यादि वाक्यों में पठित हैं अतः उन वाक्यों का यहां ग्रहण करना चाहिये—यह भूषणकार का अभिप्राय है। **अत्र केचिद् अन्यपदार्थनिरूपितशक्तिकल्पने गौरवाद् बहुव्रीहिसमासमपि न स्वीकुर्वन्ति, तेषां मते—'आख्यातयोः शब्दे (वाक्ये)=आख्यातशब्दे' इत्येवं षष्ठीतत्पुरुषसमासः ॥**

साध्यावस्था में तथा गौणक्रिया (जो मुख्यक्रिया में कारकत्वेन अन्वित होती है) साधनावस्था में मानी जाती है। साध्यावस्था वाली क्रिया की यह पहचान है कि वहां क्रियान्तर की आकाङ्क्षा उत्पन्न नहीं हुआ करती (यह सब पीछे सविस्तर लिख चुके हैं); साधनावस्था वाली क्रिया वह होती है जो स्वयं कारकरूपत्वेन दूसरी (साध्यावस्था वाली) क्रिया में अन्वित होती है। 'पश्य मृगो धावति' में 'पश्य' क्रिया साध्यावस्था में तथा 'धावति' क्रिया साधनावस्था में है। 'धावति' क्रिया कर्म बन कर 'पश्य' में अन्वित होती है।

जिस प्रकार दो तिङन्त वाले वाक्यों में एक क्रिया साध्यावस्था में और दूसरी साधनावस्था में होती है उसी प्रकार 'पाकः' आदि घञन्त शब्दों में भी क्रिया दो प्रकार की है। एक धातूपस्थाप्या (धातु से उपस्थित की जाने वाली) जो साध्यावस्था में है और दूसरी घञ्प्रत्ययोपस्थाप्या (घञ्प्रत्यय से उपस्थित की जाने वाली) जो साधनावस्था में है।

प्रश्न—आपने दो तिङन्त वाले वाक्यों की तरह 'पाकः' आदि में दो प्रकार की क्रियाएं बताई हैं परन्तु आपके दृष्टान्त (दो तिङन्त वाले वाक्य) और दार्ष्टान्त (पाकः आदि) में महद् अन्तर है। दो तिङन्त वाले वाक्यों में साधनावस्था वाली क्रिया के साथ लिङ्गादि का अन्वय नहीं हुआ करता परन्तु 'पाकः' आदि में घञ्प्रत्ययोपस्थाप्य क्रिया से लिङ्गादि की भी अन्विति देखी जाती है। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में तुल्यता नहीं, इस प्रकार साम्याऽभाव में आपका कथन ग्राह्य नहीं हो सकता।

उत्तर—दृष्टान्त और दार्ष्टान्त सर्वांशों में तुल्य नहीं हुआ करते। **'चन्द्र इव मुखम्'** में यदि मुख पूर्णतया चन्द्रवत् हो जावे तो उपमा का प्रयोजन ही लुप्त हो जाये। **'घटो घट इव'** नहीं हुआ करता। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में किञ्चिदंश में ही साम्य अपेक्षित होता है सर्वांश में नहीं। यहां हमारे उपर्युक्त कथन में भी दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में किञ्चिदंश में साम्य पाया जाता है। दो तिङन्त वाले वाक्यों में साधनावस्था वाली क्रिया जैसे कारकत्वेन अन्य क्रिया में अन्वित होती है वैसे 'पाकः' आदि में घञ्प्रत्ययोपस्थाप्यक्रिया भी कारकत्वेन अन्यत्र अन्वित होती है। यथा—'पाको जायते' यहां घञ्प्रत्ययोपस्थाप्य साधनावस्था वाली पचिक्रिया कर्तृत्वेन 'जायते' में अन्वित होती है। बस **'कारकत्वेन अन्य क्रिया में अन्वित होना'** ही दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में साम्य है।

साध्यावस्था और साधनावस्था वाली क्रियाओं में मुख्यतया निम्न अन्तर हुआ करते हैं—

साध्यावस्था	साधनावस्था (सिद्धावस्था)
(१) साध्यावस्था वाली क्रिया में किसी दूसरी क्रिया की आकाङ्क्षा नहीं होती, वह अपने आप में ही पूर्ण होती है। यथा—'देवदत्तः पचति' यहां 'देवदत्तः किं करोति' इस प्रश्न के उत्तर में 'पचति' कहने पर अन्य क्रिया की आकाङ्क्षा नहीं रहती।	(१) साधनावस्था वाली क्रिया में हमेशा किसी दूसरी क्रिया की आकाङ्क्षा हुआ करती है। यथा 'पाकः' कहने पर 'भवति, जायते, विद्यते, नश्यति' आदि किसी अन्य क्रिया की आकाङ्क्षा बनी रहती है। अतः अन्य क्रिया का अध्याहार करके ही वाक्य पूर्ण होता है।
(२) साध्यावस्था वाली क्रिया का किसी दूसरी क्रिया में कारकत्वेन अन्वय नहीं हुआ करता, बल्कि दूसरे कारकों का उस में अन्वय हुआ करता है।	(२) साधनावस्था वाली क्रिया स्वयं कारकरूपेण किसी दूसरी क्रिया में अन्वित हुआ करती हैं, किसी दूसरी क्रिया का उस में अन्वय नहीं हुआ करता। यथा—'पाको जायते, पाकं प्रवर्त्तयति, पाकेन क्षुन्निवर्त्तते' आदि।
(३) साध्यावस्था वाली क्रिया में लिङ्गादि का योग नहीं हुआ करता। यथा 'पचति' साध्यावस्थापन्न क्रिया है, इसमें किसी लिङ्ग का योग नहीं।	(३) साधनावस्था वाली क्रिया में लिङ्गादि का योग हुआ करता है (परन्तु यदि वह आख्यात होगी तब तो नहीं, केवल घञादिप्रत्ययोपस्थाप्य में ही) यथा—पाकः, पचनम्, गतिः, गमनम् इत्यादि।

भूषणसारः—

न च घञन्ते धातुना तथाऽभिधाने मानाऽभावः, 'ओदनस्य पाकः' इति कर्मणि षष्ठ्या मानत्वात्। न च 'भवति' इत्यध्या-

हृततिङन्तक्रियान्वयात् षष्ठी, 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२.३.६५) इति कृदन्तेन योग एव तद्विधानात्, 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (२.३.६९) इति लादेशयोगे षष्ठ्या निषेधाच्च। एवं रीत्या 'काष्ठैः पाकः' इत्याद्यपीष्टमेव। एवं फलांशोऽपि धातुनाऽसत्त्वावस्थापन्न एवोच्यते। अत एव 'स्तोकं पचति' इतिवत् 'स्तोकं पाकः' इत्युपपद्यत इति ॥१४॥

प्रश्न—घञन्त शब्दों में धातु द्वारा साध्यावस्था वाली क्रिया उपस्थित की जाती है—इसमें क्या प्रमाण है ? क्योंकि 'पाको भवति, पाकं करोति, पाकेन सिध्यति, पाकाय यतते, पाके रुचिः' इत्यादियों में सिद्धावस्था वाली क्रिया का ही भान होता है, साध्यावस्था वाली क्रिया का नहीं।

उत्तर—'**तण्डुलानां पाकः**'[1] यहां कर्म में षष्ठी ही इस में प्रमाण है। तण्डुलकर्मकपचन क्रिया—यहां पचनक्रिया के 'तण्डुल' कर्म हैं। इन की अन्विति साध्यावस्थापन्न पचनक्रिया में ही हो सकती है, क्योंकि '**कारक हमेशा साध्यावस्थापन्न क्रिया में हीं अन्वित होते हैं अन्यत्र नहीं**' यह नियम है। यदि यहां साध्यावस्था वाली क्रिया उपस्थित न होती तो तण्डुल का कर्मत्वेन अन्वय न हो सकता; तण्डुल को कर्म माने विना '**कर्तृकर्मणोः कृति**' (२.३.६५) द्वारा कर्म में षष्ठी उपपन्न नहीं की जा सकती। अतः कर्म में षष्ठी की अनुपपन्नता ही यह सिद्ध करती है कि 'पाकः' में धातु द्वारा साध्यावस्थापन्न क्रिया उपस्थित की जाती है।

प्रश्न—साध्यावस्था वाली क्रिया में अन्वय के लिए ही आप 'पाकः' आदि में मूलधातु द्वारा साध्यावस्था वाली क्रिया की उपस्थिति स्वीकार कर रहे हैं परन्तु षष्ठी की सिद्धि तो 'तण्डुलानां पाको भवति' इस प्रकार 'भवति' आदि किसी अध्याहृत क्रिया से भी हो सकती है।

---

[1] मूल में '**ओदनस्य पाकः**' उदाहरण दिया गया है। वहां 'ओदन' पद तण्डुलादिपरक ही समझना चाहिये। क्योंकि विक्लिन्न वस्तु का नाम ही 'ओदन' होता है, और उसके लिये पुनः विक्लितिजनक व्यापार व्यर्थ होगा। अतः हमने विद्यार्थियों की सुविधा के लिये '**तण्डुलानां पाकः**' यह सरल उदाहरण ही रखा है॥

अर्थात् साध्यावस्थापन्न 'भवति' आदि क्रिया का अध्याहार कर उस में 'तण्डुलानाम्' इस कर्म का अन्वय कर लेंगे तब षष्ठीविभक्ति उपपन्न हो जायेगी।

उत्तर—यदि साध्यावस्थापन्न 'भवति' आदि अध्याहृत क्रियाओं के साथ 'तण्डुल' का योग मानेंगे तो षष्ठी उपपन्न नहीं हो सकेगी, क्योंकि वह तो **'कर्तृकर्मणोः कृति'** (२.३.६५) सूत्र द्वारा कृत्प्रत्यय के योग में ही विधान की गई है किसी अन्य के योग में नहीं। यदि आप किसी प्रकार कृत् से परम्परासम्बन्ध स्थापित कर भी लें तो भी **'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्'** (२.३.६९) सूत्र बाधक होगा, क्योंकि वहां लकारस्थानीय आदेशों के योग में 'कर्तृकर्मणोः कृति' का निषेध कहा गया है। 'भवति' में तो स्पष्टतया लट् के स्थान पर 'तिप्' आदेश हुआ २ है। अतः षष्ठीविभक्ति की उपपत्ति मूल धातु द्वारा उपस्थाप्य साध्यावस्था वाली क्रिया के विना नहीं हो सकती, इसलिये ऐसे स्थलों पर मूल धातु द्वारा साध्यावस्थापन्न क्रिया की प्रतीति आवश्यक है—यह सुतरां सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'काष्ठैः पाकः' भी उपपन्न हो जाता है। यहां 'काष्ठ' करणकारक है। कारकों का सदा साध्यावस्था वाली क्रिया के साथ ही अन्वय हुआ करता है—इस नियमानुसार यहां मूल धातु द्वारा उपस्थाप्य क्रिया में 'काष्ठ' इस करणकारक का अन्वय हो जाता है। **'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति'** इस न्यायानुसार करण में तृतीया हो जाती है कोई विप्रतिपत्ति नहीं आती।

इसी प्रकार 'पाकः' आदियों में मूल धातु द्वारा जहां कहीं फलांश कहा जाता है वहां भी असत्त्वावस्थापन्न ही कहा जाता है। इसीलिये तो 'स्तोकं पचति' की तरह 'स्तोकं पाकः' प्रयोग भी उपपन्न होता है। यदि धातूपस्थाप्य फलांश सत्त्वावस्थापन्न उपस्थित होता तो उस में क्रियाविशेषणों (जो वस्तुतः कर्मकारक हैं) का अन्वय न हो सकता क्योंकि साध्यावस्थापन्न क्रिया में ही कारकों का अन्वय हुआ करता है—यह पीछे बताया जा चुका है।

'स्तोकं पचति' (थोड़ा पकाता है) यहां 'स्तोकम्' यह क्रियाविशेषण अर्थात् 'पचति' का विशेषण है[1]। क्रियाविशेषणों का नपुंसकत्व तथा कर्म-

---

[1] **'स्तोकं पचति'** आदि में क्रियाविशेषण धातु के फलांश के ही विशेषण हुआ करते हैं। ऐसे स्थलों में 'पचति' आदि का **'विक्लितिम् उत्पादयति'** इत्यादि अर्थ कर

संज्ञक होना कात्यायन ने वार्तिक में कहा है[1]। इसलिये क्रियाविशेषणों से हमेशा द्वितीयाविभक्ति का एकवचन नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ करता है। मृदु पचति, स्तोकं पचति, सुन्दरं गच्छति इत्यादि क्रियाविशेषणों के उदाहरण है। जिस प्रकार तिङन्त-स्थलों में क्रियाविशेषण लगा करते हैं वैसे कृदन्तस्थलों में भी क्रियाविशेषणों का प्रयोग हुआ करता है। यथा—मृदु पाकः, स्तोकं पाकः, सुन्दरं पाकः इत्यादि। कृदन्तस्थलों में क्रिया-विशेषण यदि धातूपस्थाप्य क्रिया (फल) के होते हैं तो उन विशेषणों से **'सामान्ये नपुंसकम्'** के अनुसार नपुंसकलिङ्ग प्रयुक्त होता है। यदि घञ्प्रत्ययोपस्थाप्या क्रिया (व्यापार) के विशेषण होंगे तो निःसन्देह उन में पुँस्त्व तथा प्रथमा का एकवचन प्रयुक्त होगा। यथा—स्तोकः पाकः, सुन्दरः पाकः आदि।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि 'स्तोकं पाकः' आदि में क्रिया-विशेषणों को जब कर्म मान कर धातूपस्थाप्या किया में अन्वित किया जा रहा है तो उस कर्म में कृद्योग में **'कर्तृकर्मणोः कृति'** (२.३.६५) सूत्र से षष्ठी क्यों न हो? इसका उत्तर दो प्रकार से दिया जाता है। प्रथम प्रकार—श्रीनागेशभट्ट का कहना है कि 'कर्तृ-कर्मणोः कृति' (२.३.३५) सूत्र में 'कर्तृ' के साहचर्य से 'कर्म' भी ऐसा लेना चाहिये जो भेदान्वयी हो, यहां क्रिया-विशेषणों वाला कर्म भेदान्वयी नहीं अपितु धात्वन्तर्गत या धातुकुक्षिप्रविष्ट होने से अभेदान्वयी है अतः षष्ठी न होगी। दूसरा प्रकार—**'पूजनात् पूजितमनुदात्तम्'** (८. १. ६७) इस सूत्र के महाभाष्य में **'दारुणाध्यापकः'** पद की सिद्धि करते हुए महाभाष्यकार ने **'दारुणं यथा भवति तथाऽध्यापकः'** इस प्रकार के विग्रह में 'दारुणम्' को क्रियाविशेषण दिखा कर मकार के लोप का विधान कर प्रयोग सिद्ध किया है। यदि ऐसे

के व्यापार के प्रति 'विक्लिति' आदि फल को कर्म मानकर उस कर्म के 'स्तोक' आदि विशेषण बना लिये जाते हैं अतएव कर्म के विशेषण होने से उनमें द्वितीया सिद्ध हो जाती है। यही बात **कृष्णमित्र** ने अपनी भूषणसारव्याख्या में लिखी है—**"उपपद्यत इति। पचतीत्यत्र विक्लितिमुत्पादयति इत्यर्थाद् व्यापारं प्रति फलस्यापि कर्मतया तद्विशेषणे 'स्तोकम्' इत्यत्र यथा द्वितीया तथा'स्तोकं पाकः'इत्यत्रापीत्यर्थः॥"**

[1] 'क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकलिङ्गता च वक्तव्या' (काशिका २.४.१८ पर)॥

स्थलों पर षष्ठी होती तो षष्ठीसमास कर के **'दारुणाध्यापकः'** बन ही जाता पुनः उस की सिद्धि के लिये मकार के लोप का विधान क्यों करते ? अतः इस भाष्य से यह प्रमाणित होता है कि क्रियाविशेषणों से षष्ठी नहीं हुआ करती ।

अन्य कई लोग **'ओजःसहोम्भसा वर्त्तते'** (४. ४. २७) के अधिकार में **'तत् प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम्'** (४. ४. २८) सूत्र में 'तत्' इस द्वितीयान्त के ग्रहण से क्रियाविशेषणों में केवल द्वितीया का ही ज्ञापन करते हैं कर्म-संज्ञा का नहीं । अतः कर्मसञ्ज्ञा न होने से षष्ठी का प्रसङ्ग ही नहीं मानते ।

प्रश्न—यह बड़ा अटपटा लगता है कि 'पाकः' में दो क्रियाएं मानी जायें, एक धापूपस्थाप्या और दूसरी घञ्प्रत्ययोपस्थाप्या ।

उत्तर—क्रिया तो एक ही होती है पर साध्यावस्थापन्न और सिद्धावस्थापन्न उस के दो भेद, सम्बन्धभेद के कारण हो जाते हैं । एक प्रकृति से उपस्थाप्य होता है और दूसरा प्रत्यय से । जैसे एक ही स्त्री पिता की दृष्टि से पुत्री, बेटे की दृष्टि से माता, पति की दृष्टि से पत्नी इत्यादि अनेकविध सम्बन्धों से नाना प्रकार की भासित होती है वैसे यहाँ भी एक ही क्रिया के सम्बन्धभेद से दो रूप समझने चाहियें ॥१४॥

भूषणसारः—

एतदेव स्पष्टयति—

अब उसी पूर्वोक्त बात को अग्रिम-कारिका द्वारा स्पष्ट करते हैं—

कारिका—

साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना ।
सिद्धभावस्तु यस्तस्याः स घञादिनिबन्धनः[1] ॥१५॥

'पाकः' आदियों में साध्यत्वेन प्रतीत होने वाली क्रिया धातु के कारण, तथा सिद्धभाव से प्रतीत होने वाली क्रिया घञादि प्रत्यय के कारण समझनी चाहिये ॥

---

[1] यह कारिका वाक्यपदीय ३.८.४८ पर पठित है ॥

भूषणसारः—

न च घञादिभिः सिद्धत्वेनाऽभिधाने मानाऽभावः, 'पाकः' इत्युक्ते 'भवति' 'जायते' 'नष्टः' इत्याऽऽकाङ्क्षोत्थानस्यैव मानत्वात् । धातूपस्थाप्यायां तदसम्भवस्योक्तत्वात् 'स्तोकः पाकः' इत्यनापत्तेश्च । तस्माद् धात्वर्थान्वये स्तोकादिशब्देभ्यो द्वितीया, घञर्थाऽन्वये प्रथमा पुलँ्लिङ्गता चेति । तत्सिद्धये घञादेः शक्तिरुपेया । एतेन घञादीनां प्रयोगसाधुतामात्रम् इति नैयायिकनव्योक्तम् अपास्तम् ॥

यदि कहो कि 'पाकः' आदियों में घञादियों के द्वारा सिद्ध-क्रिया की प्रतीति में कोई प्रमाण नहीं तो यह ठीक नहीं। 'पाकः' आदियों के कहने पर जो अन्य क्रिया की आकाङ्क्षा रहती है यही इस में प्रमाण है। तात्पर्य यह है कि धातु की दो अवस्थाएं होती हैं एक साध्यावस्था और दूसरी साधनावस्था। साध्यावस्था में क्रिया किसी दूसरी क्रिया की आकाङ्क्षा नहीं रखती, यथा—'पचति' कहने पर किसी अन्य क्रिया की आकाङ्क्षा नहीं होती। दूसरी साधनावस्था जिसे सिद्धावस्था भी कहते हैं—में क्रिया को दूसरी क्रिया की आकाङ्क्षा रहती है। यथा—'पाकः' कहने पर श्रोता को जिज्ञासा रहती है कि पाक का क्या हुआ कि पाको भवति, जायते, नश्यति इत्यादि। यही दूसरी क्रिया की आकाङ्क्षा होना ही 'पाकः' में सिद्धावस्थापन्न धातु की ज्ञापिका है। यदि यहां दूसरी क्रिया की आकाङ्क्षा न रहती जैसा कि 'पचति' के कहने पर नहीं होती तो हम इसे साध्यावस्थापन्न क्रिया मानते, परन्तु यहाँ तो क्रियान्तर की आकाङ्क्षा रहती है अतः 'पाकः' में घञ्प्रत्यय द्वारा प्रतिपादित क्रिया सिद्धावस्थापन्न ही है साध्यावस्थापन्न नहीं—यह निश्चय होता है।

किञ्च इस में 'स्तोकः पाकः' यह प्रयोग भी प्रमाण है। क्योंकि 'स्तोकः' में पुलँ्लिङ्ग तथा एकवचनादि का निर्देश किया गया है जो स्पष्टतया 'पाकः' द्वारा प्रस्तुत द्रव्यवत् प्रकाशमान सिद्धावस्थापन्न क्रिया (व्यापार) में ही विशेषणत्वेन अन्वित होता है। यदि यहाँ धातूपस्थाप्य क्रिया के साथ अन्वय होता तो इस में लिङ्ग सङ्ख्या का योग न हो सकता; तब **'सामान्ये नपुंसकम्'** से नपुंसकलिङ्ग तथा **'एकवचनम् उत्सर्गतः**

करिष्यते' के अनुसार केवल एकवचन का ही प्रयोग होकर 'स्तोकं पाकः' ही बनता। परन्तु लोक में तो—'स्तोकः पाकः, स्तोकौ पाकौ, स्तोकाः पाकाः, शोभनः पाकः, शोभनौ पाकौ, शोभनाः पाकाः' इत्यादि प्रयोग देखे जाते हैं। अतः यह निश्चय होता है कि 'पाकः' में घञ्प्रत्यय के द्वारा प्रतिपादित क्रिया लिङ्ग और संख्या से युक्त होने के कारण सिद्धावस्थापन्न है और उसी के 'स्तोकः, स्तोकौ, स्तोकाः, शोभनः, शोभनौ, शोभनाः' आदि विशेषण हैं। अतः इन प्रयोगों की सिद्धि के लिये घञ्आदि प्रत्ययों में शक्ति माननी पड़ेगी, क्योंकि घञादिप्रत्ययों में शक्ति माने विना उपर्युक्त प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकते। इस से उन **नैयायिकनव्यों** (नवीन नैयायिकों)[१] के मत का भी खण्डन समझ लेना चाहिये जो यह कहते हैं कि घञ् आदि प्रत्यय तो केवल प्रयोगसाधुता के लिये प्रतिपादन किये गये हैं— इन में स्वतः कोई शक्ति नहीं। यदि इन में शक्ति न होती तो द्रव्यवत् भासमान सिद्धावस्थापन्न क्रिया के विशेषण 'स्तोकः, स्तोकौ' आदि कैसे उपपन्न होते ?

भूषणसारः—

न च घञन्तशक्त्युपस्थाप्यान्वये 'स्तोकः पाकः' इति भवतीति वाच्यम्, घञन्ताऽऽनुपूर्व्याः शक्ततावच्छेदकत्वे गौरवाद्, अनुशासनाच्च घञादेरेव तथाशक्तिकल्पनाद् इति दिक्। एवं च घञ्शक्त्यभिप्रायेण 'कृदभिहितः' इति भाष्यम्; अतो न तद्विरोध इति भावः ॥१५॥

प्रश्न—हम केवल घञ्प्रत्यय में सिद्धावस्थापन्न क्रिया को कहने की शक्ति नहीं मानते, किन्तु सम्पूर्ण घञन्त शब्द में उसे कहने की शक्ति मानते हैं, इससे 'स्तोकः पाकः' आदि प्रयोग उपपन्न हो जायेंगे।

उत्तर—यदि घञन्त में शक्ति मानोगे तब शक्ततावच्छेदक[२] 'पाक' इतना बड़ा रहेगा, इससे गौरव-दोष आयेगा; क्योंकि हमारे मत में तो केवल 'अ' (घञ्) इतना छोटा शक्ततावच्छेदक रहेगा और आप के मत में 'पाक'

---

[१] इस शब्द पर आठवीं कारिका की व्याख्या में टिप्पण देखें ।।

[२] 'शक्ततावच्छेदक' पर पीछे पृष्ठ (११५) पर टिप्पण देखें ।।

इतना बड़ा। किञ्च पाणिनीयानुशासन से भी आपके मत में दोष आयेगा। पाणिनिजी ने **'भावे'** (३.३.१८) आदि सूत्रों द्वारा केवल घञ् में ही शक्ति प्रतिपादित की है घञन्त में नहीं; अतः केवल घञ् आदि प्रत्ययों में ही शक्ति मानने में लाघव तथा अनुशासनानुमति प्राप्त होती है इसलिये केवल घञ् आदि प्रत्ययों में ही शक्ति मानना युक्त है। इसीलिये तो भाष्यकार ने **'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते'** इस वचन में 'कृदभिहितः— कृत् से कहा हुआ' ऐसा कहा है, इससे प्रतीत होता है कि वे कृत् में ही शक्ति मानते हैं ॥१५॥

भूषणसारः—

ननु कारकाणां भावनाऽन्वयनियमे एव 'पाकः' इत्यत्रापि कर्मषष्ठ्यनुसारेण भावनाया वाच्यत्वं सिध्येत्। स एव[1] कुत इत्याऽऽशङ्कां समाधत्ते—

आपने **'ओदनस्य पाकः'** पर 'ओदन' इस कर्म का भावना में अन्वय उपपन्न कराने के लिये 'पाकः' आदि में धातुद्वारा भावना (व्यापार) की उपस्थिति स्वीकार की है। परन्तु यह तो पहले सिद्ध होना चाहिये कि **'कारकों का भावना में ही अन्वय होता है अन्यत्र नहीं'** क्योंकि विना इसकी सिद्धि के 'पाकः' आदि में धातूपस्थाप्या भावना की कल्पना में कुछ औचित्य नहीं रहता—इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अग्रिम दो कारिकाओं का अवतरण करते हैं—

कारिका—

सम्बोधनान्तं कृत्वोऽर्थाः कारकं प्रथमो वतिः।
धातुसम्बन्धाऽधिकार-निष्पन्नमसमस्तनञ् ॥१६॥
तथा यस्य च भावेन षष्ठी चेत्युदितं द्वयम्।
साधुत्वमष्टकस्याऽस्य क्रिययैवाऽवधार्यताम् ॥१७॥

---

[1] **'तदेव'** इति क्वचिन्मुद्रितः पाठस्त्वपपाठः ॥

(१) सम्बोधनान्त पद, (२) कृत्वोऽर्थप्रत्यय, (३) कारक, (४) 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः' (५.१.११४) द्वारा प्रतिपादित वतिप्रत्यय, (५) 'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः' (३.४.१) के अधिकार में निष्पन्न कार्य, (६) समास के अयोग्य नञ्, (७) 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (२.३.३७) द्वारा विहित सप्तमी, (८) तथा 'षष्ठी चाऽनादरे' (२.३.३८) द्वारा प्रतिपादित षष्ठी व सप्तमी विभक्ति—इन आठों की साधुता क्रिया के द्वारा ही माननी चाहिये, अर्थात् इन सबका अन्वय क्रिया में ही हुआ करता है ॥

भूषणसारः—

(१) सम्बोधनान्तस्य क्रियायामन्वयः, 'त्वं ब्रूहि देवदत्त' इत्यादौ निघातानुरोधात्। 'समानवाक्ये निघात-युष्मदस्मदादेशाः' इत्यनेन समानवाक्य एव तन्नियमात्। उक्तं हि वाक्यपदीये (२.५)—

"सम्बोधनपदं यच्च तत्क्रियाया विशेषणम्।
व्रजानि देवदत्तेति निघातोऽत्र तथा सति ॥" इति ॥

'पचति भवति देवदत्त' इत्यादौ तु सूत्रभाष्यादिरीत्या एकवाक्यतासत्त्वात् स्यादेव निघातः, 'तिङ्ङतिङः' (८.१.२८) इति सूत्रयता[1] तिङन्तानामप्येकवाक्यतास्वीकारात्[2]। 'एकतिङ् वाक्यम्' इति वदतां वार्त्तिककाराणां मते परं न। वस्तुत एकतिङ्विशेष्यकं वाक्यम् इति तदभिप्रायस्य हेलाराजीयादौ वैयाकरणभूषणेऽस्माभिश्च प्रतिपादितत्वात् तन्मतेऽपि भवत्येवेत्यवधेयम् ॥

(१) सम्बोधनान्त पद के अर्थ का अन्वय क्रिया में हुआ करता है, अतएव 'त्वं ब्रूहि देवदत्त' में देवदत्त पद में 'आमन्त्रितस्य च' (८.१.१९) सूत्र से निघातस्वर (सर्वानुदात्तस्वर) सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि

---

[1] 'सूत्रं रचयता' इत्यर्थः ॥

[2] तिङन्तात् परस्य तिङन्तस्य निघातवारणाय 'अतिङ्' इति पर्युदासः कृतः। स च तिङन्तद्वयघटितस्य एकवाक्यत्व एव सार्थको भवतीति भावः ॥

निघातस्वर तथा युष्मद्-अस्मद् शब्दों के स्थान पर होने वाले 'वां, नौ' आदि आदेश समानवाक्य में हुआ करते हैं—यह नियम है[1]। इस प्रकार **'त्वं ब्रूहि देवदत्त'** इत्यादियों की समानवाक्यता सिद्ध हो जाती है[2]। वाक्य में सब पद क्रिया में साक्षात् व परम्परा संबन्ध से अन्वित हुआ करते हैं। अतः 'देवदत्त' आदि सम्बोधनान्तों का भी क्रिया में अन्वित होना सुतरां सिद्ध हो जाता है। इसी बात को भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की अपनी कारिका में कहा है—

"सम्बोधनपदं यच्च तत्क्रियाया विशेषणम्।
व्रजानि देवदत्तेति[3] निघातोऽत्र तथा सति॥" (२.५)

अर्थात् सम्बोधनान्त पद क्रिया में अन्वित होने से क्रिया के ही विशेषण समझने चाहियें। इसीलिये तो **'व्रजानि देवदत्त'** इत्यादियों में निघात सिद्ध हो जाता है।

'पचति भवति देवदत्त' (हे देवदत्त! पाक हो रहा है) इत्यादि दो तिङन्तवाले वाक्यों में भाष्यकार और सूत्रकार (पाणिनि) के मतानुसार एकवाक्यता है, अतः समानवाक्य होने से यहां भी **'आमन्त्रितस्य च'** (८.१.१९) सूत्र से 'देवदत्त' आदियों में निघात हो जायेगा। भाष्यकार ऐसे स्थलों में एकवाक्यता मानते हैं—यह तो पीछे द्वितीयकारिका के व्याख्यान के समय पृष्ठ (५८) पर दिखाया जा चुका है। अब सूत्रकार भी इसमें सम्मत हैं—यह दर्शाते हैं—

---

[1] अर्थात् निमित्त और निमित्ती दोनों समानवाक्य में रहने चाहियें। अन्यथा निघातादि कार्य नहीं होंगे। यथा—'ओदनं पच **तव** भविष्यति' यहां 'पच' इस निमित्त से परे **'तव'** के स्थान पर **'ते'** यह निमित्ती (कार्य) नहीं होगा। इसीप्रकार—'देवदत्त! अस्त्ययं दण्डो देवदत्त गृहाणेमम्' यहां **'दण्डः'** इस पद से परे **'देवदत्त'** को **'आमन्त्रितस्य च'** (८.१.१९) सूत्र से निघात नहीं होता। कारण स्पष्ट है, निमित्त किसी दूसरे वाक्य में स्थित है और कार्य किसी अन्य वाक्य में होना है॥

[2] यहां यदि समानवाक्यता नहीं मानेंगे तो **'आमन्त्रितस्य च'** (८.१.१९)सूत्र को कहीं कोई स्थान नहीं मिलेगा, क्योंकि वह **'पदात्'** (८.१.१७) द्वारा पद से परे ही विहित है॥

[3] अत्र **'जानीहि'** इत्यध्याह्रियते। ज्ञानक्रियायां देवदत्तस्य उद्देश्यतया व्रजनस्य च कर्मतयाऽन्वयेन समानवाक्यत्वं बोध्यम् इत्यन्यत्र विस्तरः॥

'तिङ्ङतिङः' (८.१.१६)[1] सूत्र में 'अतिङः' का ग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि पाणिनिजी दो तिङन्तों वाले वाक्यों को भी समानवाक्य मानते थे, तभी तो उन्होंने अतिङन्त से परे तिङन्त को निघात विधान किया है। इससे **'पचति भवति'** इत्यादि वाक्यों में 'भवति' को निघात नहीं होगा। यदि वाक्य में एक तिङन्त ही होता तो समानवाक्य में निघात विधान करने से 'अतिङः' की तो जरूरत ही न पड़ती क्योंकि **'पदात्'** (८.१.१७) का अधिकार पीछे से आ ही रहा था इसलिये 'अतिङः' पद स्वतः उपलब्ध हो ही जाता। अतः पाणिनिजी के मत में दो तिङन्तवाले भी वाक्य होते हैं—यह यहां सिद्ध होता है। हां! वार्त्तिककार कात्यायन ऐसे वाक्यों को समानवाक्य नहीं मानते क्योंकि उन्होंने **'एकतिङ् वाक्यम्'** (जिस में एक तिङ् हो उसे वाक्य कहते हैं) यह वाक्य का लक्षण किया हुआ है। पर वस्तुतः ध्यान से देखें तो उनका अभिप्राय भी यह नहीं है कि दो तिङन्तवाले वाक्य नहीं हुआ करते। **'एकतिङ् वाक्यम्'** का अभिप्राय है कि जिसमें एक तिङ् विशेष्य=मुख्य होता है वह वाक्य है; **'पचति भवति'** आदि में विशेष्य तो एक ही तिङन्त है, दूसरा तिङन्त उसका विशेषण है—अतः वाक्यत्व अक्षुण्ण है। वाक्य की यही व्याख्या **श्रीहेलाराज** ने भी वाक्यपदीय की व्याख्या करते समय की है[2] और वैयाकरणभूषण में इसका विस्तृत व्याख्यान किया गया है। अत; **'पचति भवति देवदत्त'** इत्यादियों का समानवाक्य होना और **'आमन्त्रितस्य च'** (८.१.१६) से 'देवदत्त' को निघातस्वर करना तीनों मुनियों को मान्य है—यह सिद्ध हो जाता है॥

भूषणसारः—

(२) कृत्वोऽर्थाः। 'क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' (५.४.१७) इति क्रियायोगे तत्साधुत्वोक्तेः। क्रियाया अभ्यावृत्तिः पुनः पुनर्जन्म तस्मिन् द्योत्य इति तदर्थात्॥

---

[1] अतिङन्त पद से परे अपादादि में स्थित तिङन्त पद को निघातस्वर हो जाता है—यह सूत्र का अर्थ है।

[2] "बहुष्वपि तिङन्तेषु साकाङ्क्षेष्वेकवाक्यता।
तिङन्तेभ्यो निघातस्य प्रतिषेधस्तथार्थवान्॥" (२.४४४)
इस कारिका पर वाक्यपदीय में **श्रीहेलाराज** का व्याख्यान द्रष्टव्य है॥

(२) क्त्वोऽर्थाः [1]—क्त्वसुच्प्रत्यय तथा उस अर्थ में पढ़े गये अन्य-प्रत्यय भी क्रिया के साथ अन्वित हुआ करते हैं। **'सङ्ख्यायाः क्रियाभ्याऽऽवृत्तिगणने क्त्वसुच्'** (५.४.१८) सूत्र में क्रिया की अभ्यावृत्ति अर्थात् बार बार होने को द्योतित करने के लिये क्त्वसुच् प्रत्यय कहा गया है। यथा—**'पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते'** (वह पांच बार खाता है)। इसी प्रकार **'द्विर्भुङ्क्ते'** (वह दो बार खाता है), **'त्रिर्भुङ्क्ते'** (वह तीन बार खाता है), **'चतुर्भुङ्क्ते'** (वह चार बार खाता है)–इन स्थानों पर **'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्'** (५.४.१८) सूत्र से सुच्प्रत्यय भी क्रियायोग में समझना चाहिये ॥

भूषणसारः—

(३) कारकम् । 'कारके' (१.४.२३) इत्यधिकृत्य तेषां व्युत्पादनात् । कारकशब्दो हि क्रियापरः । करोति कर्तृकर्मादिव्यपदेशान् इति व्युत्पत्तेः । तथा चाऽग्रिमेष्वपादानादिसंज्ञाविधिषु क्रियार्थककारकशब्दाऽनुवृत्त्या क्रियान्वयिनामेव सञ्ज्ञेति भाष्ये स्पष्टम् ॥

(३) **कारकम्**—कारक क्रिया के साथ अन्वित हुआ करते हैं, क्योंकि **'कारके'** (१.४.२३) इस सूत्र का अधिकार करके उनका विधान किया गया है। 'कारके' सूत्र में कारकशब्द का अर्थ है 'क्रिया'। क्योंकि क्रिया ही कर्त्ता कर्म आदि संज्ञाओं को उत्पन्न करती है अतः इसे 'कारक' नाम से पुकारा जाता है [2]। इसके अधिकार में **'ध्रुवमपायेऽपादानम्'** (१.४.२४) आदि सूत्रों में **'कारके-क्रियायाम्'** की अनुवृत्ति की जाती है, अतः क्रिया में अन्वित होने वालों की ही अपादान आदि संज्ञाएं हुआ करती हैं—यह महाभाष्य में स्पष्ट है ॥

---

[1] अत्र क्त्वःपदं क्त्वोऽर्थसदृशपरम्, क्त्वोऽर्थसदृशोऽर्थो येषाम् इति उष्ट्रमुखवत्समासः। क्त्वसुजादिरित्यर्थः ॥

[2] इस प्रकार यहां **'कारक'** शब्द योगरूढ है। यह कर्त्ता है, यह कर्म है, यह करण है, यह सम्प्रदान है, यह अपादान है, यह अधिकरण है—इन की व्यवस्था क्रिया द्वारा ही की जाती है अतः क्रिया को ही **'कारक'** कहते हैं ॥

वक्तव्य—कौण्डभट्ट की '**कारक शब्द क्रिया का वाचक है**' इस व्याख्या से विद्वान् प्रायः सहमत नहीं। यदि कारक शब्द क्रिया का वाचक हो तो '**कारकाणां भावनान्वयः**' इस वाक्य का अर्थ होगा— '**क्रियाणां क्रियान्वयः**' क्रियाओं का क्रिया में अन्वय होता है। इसी प्रकार '**कारकाणां क्रियान्वयित्वम्**'—का अर्थ होगा—'**क्रियाणां क्रियान्वयित्वम्**'—इस प्रकार ये वचन असंगत तथा दुर्बोध हो जायेंगे। किञ्च '**गतिकारकोपपदात् कृत्**' (६.२.१३८) इस सूत्र में कारकशब्द से कथमपि क्रिया का ग्रहण नहीं किया जा सकता। अतः 'कारक' शब्द का अर्थ 'क्रिया' नहीं, अपितु '**करोति क्रियां निर्वर्तयति (जनयति) इति कारकम्**' इस भाष्य की व्युत्पत्ति से क्रिया के जनक को ही कारक कहा जाना चाहिये[1]। जो क्रिया को उत्पन्न करे उसे 'कारक' कहते हैं। अत एव महाभाष्य में '**ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छति**' इस वाक्य में 'ब्राह्मण' को कारक नहीं माना गया क्योंकि क्रिया की उत्पत्ति में वह अन्यथासिद्ध है। इस विषय का विस्तार शेखर आदि ग्रन्थों में देखें॥

भूषणसारः—

(४) प्रथमो वतिः। 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (५.१.११४) इति विहितः। तत्र यत्तुल्यं सा क्रिया चेद् इत्युक्तत्वात्॥

(४) पहला 'वति' प्रत्यय अर्थात् '**तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः**' (५.१.११४) सूत्र द्वारा विहित वतिप्रत्यय क्रिया के साथ अन्वित होता है, क्योंकि सूत्र में स्पष्ट कहा गया है—'**तुल्यं क्रिया चेत्**' अर्थात् यदि क्रिया तुल्य हो तो तृतीयान्त से 'वति' प्रत्यय होता है॥

वक्तव्य—'वति' प्रत्यय करने वाले अष्टाध्यायी में दो सूत्र हैं। पहला है—'**तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः**' (५.१.११४), और दूसरा है—'**तत्र तस्येव**' (५.१.११५)। दूसरा इवार्थ में वतिप्रत्यय विधान करता है वहां क्रिया का सादृश्य अपेक्षित नहीं[2]; अतः पहला सूत्र ही यहाँ अभीष्ट है।

---

[1] तब '**कारके**' (१.४.२३) यहां प्रथमा के अर्थ में सप्तमी समझनी चाहिये॥

[2] '**तत्र तस्येव**' (५.१.११५) सूत्र का अर्थ है—सप्तम्यन्त व षष्ठ्यन्त समर्थ से 'इव' के अर्थ में 'वति' प्रत्यय हो। सप्तम्यन्त समर्थ से यथा—**मथुरायामिव मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः, पाटलिपुत्रवत् साकेते परिखा**। षष्ठ्यन्त समर्थ से यथा—**देवदत्तस्येव-देवदत्तवद् यज्ञदत्तस्य गृहम्**। इन स्थानों पर क्रिया का सादृश्य अपेक्षित नहीं, अतः यहां के वतिप्रत्यय की क्रिया में अन्विति नहीं होती॥

इसीलिये तो कारिका में '**प्रथमो वतिः**' कहा गया है। 'प्रथमो वतिः' का अर्थ है---अष्टाध्यायीक्रम में प्रथमसूत्रद्वारा विहित 'वति' प्रत्यय। '**तेन तुल्यं क्रिया चेद्द वतिः**' सूत्र का अर्थ है—तृतीयान्त समर्थ पदों से तुल्यार्थ में 'वति' प्रत्यय हो यदि तुल्य वस्तु क्रिया ही हो तो। उदाहरण यथा—**ब्राह्मणवदधीते**। यहां ब्राह्मणशब्द ब्राह्मणकर्तृकाध्ययन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अतः '**ब्राह्मणकर्तृकाध्ययनतुल्यम् अध्ययनम्**' यह अर्थ फलित होता है। तो यहां वतिप्रत्यय क्रिया के साथ ही अन्वित है। यदि क्रिया का सादृश्य न हो तो वति नहीं होता। '**देवदत्तवच्चैत्रः सुन्दरः**' इत्यादि स्थलों पर भी '**अस्ति**' क्रिया का अध्याहार कर के उसमे वतिप्रत्यय को अन्वित करना चाहिये, अन्यथा सूत्र में '**क्रिया चेत्**' यह वचन व्यर्थ हो जायेगा॥

भूषणसारः

(५) धातुसम्बन्धाऽधिकारे। 'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः'(३.४.१) इत्यधिकृत्य तेषां विधानात्॥

(५)'**धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः**'(३.४.१)इस अधिकार में विधान किये प्रत्यय क्रिया में ही अन्वित होते हैं। 'धातुसम्बन्धे' में 'धातु' का तात्पर्य 'धात्वर्थ' से है। सम्बन्ध हमेशा द्विष्ठ (दो में स्थित) हुआ करता है अतः 'धातु-सम्बन्धे' का अर्थ है—'धात्वोः=धात्वर्थयोः सम्बन्धे' (दो धातुओं के अर्थों के सम्बन्ध में); इसका अधिकार अगले सूत्रों में भी जाता है। 'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः'—दो धातुओं के अर्थों का सम्बन्ध होने पर जिसकाल में प्रत्यय कहे गये हैं उस से भिन्न कालों में भी प्रत्यय हो जाते हैं। प्रधान क्रिया के अनुरोध से गौण क्रिया में प्रत्यय भिन्नकाल में किये जाते हैं। उदाहरण यथा--वसन् ददर्श (उसने रहते हुए देखा)। यहां 'वसन्' में लट्स्थानीय शतृप्रत्यय जो वर्त्तमानकाल में विधान किया गया था 'ददर्श' इस प्रधान-क्रिया के अनुरोध से भूतकाल में भी हो गया है। यहां वस् और दृश् इन दो धातुओं के अर्थों में एककर्तृकसम्बन्ध है अर्थात् वस् का जो कर्ता है वही दृश् का कर्ता है। दृश् धातु आख्यात होने से प्रधान है अतः दृश् के भूतकाल के अनुरोध से वस् धातु में भूतकाल में शतृप्रत्यय विधान किया गया है। इसीलिये तो यहां '**अतीतवासकर्तृकर्तृकं दर्शनम्**' (भूतकालिक निवास क्रिया का कर्ता जिसका कर्त्ता है ऐसा दर्शन) बोध होता है। इसी प्रकार—'याहि याहीति याति' आदि अगले सूत्रों के उदाहरणों में भी समझ लेना चाहिये।

विद्यार्थियों को यह प्रकरण **काशिका** व **सिद्धान्तकौमुदी** में अच्छी तरह हृदयंगम करना उचित है। यहां तो केवल इतना ही अभिप्रेत है कि इस अधिकार वाले प्रत्यय क्रिया के साथ अन्वित होते हैं ॥

भूषणसारः—

(६)असमस्तनञ् । समासाऽयोग्यः प्रसज्य-प्रतिषेधीयो नञि-त्यर्थः, उत्तरपदार्थान्वयेऽपि समासविकल्पेन पक्षेऽसमस्तत्वाद् यथा-श्रुतग्रहणाऽयोगात् । न चाऽसमस्तनञः क्रियाऽन्वये मानाऽभावः । न त्वं पचसि, न युवां पचथः, चैत्रो न पचति, घटो न जायते—इत्यादौ क्रियाया एव निषेधप्रतीतेः । अत एव विद्यमानेऽपि घटे तथाप्रयोगः[1] । तथा च—घटो नास्तीत्यत्राप्यस्तित्वाभाव एव बोध्यते । नहि—घटो न जायते, नास्तीत्यनयोर्धात्वर्थभेदमन्तरेणास्ति विशेषः । तथा च—'भूतले न घटः' इत्यत्राप्यस्तीत्य-ध्याहार्यम् । प्रकारतासम्बन्धेन नञर्थविशेष्यकबोधे धातुजन्य-भावनोपस्थितेर्हेतुत्वस्य क्लृप्तत्वात् । शेषं नञर्थनिर्णये वक्ष्यते ॥१६॥

(६) असमस्त-नञ् अर्थात् समास के अयोग्य प्रसज्यप्रतिषेध वाला नञ् भी क्रिया में ही अन्वित होता है। ध्यान रहे कि कारिकाप्रोक्त '**असमस्तनञ्**' पद से '**समास को प्राप्त न हुआ नञ्**' ऐसा अर्थ नहीं लेना चाहिये क्योंकि पर्युदासप्रतिषेध वाले नञ् में समास वैकल्पिक होता है (यथा—**न ब्राह्मणः, अब्राह्मणः; न अश्वः, अनश्वः**) अतः जिस पक्ष में समास न होगा वहां भी प्रसक्ति होगी। इसलिये 'असमस्तनञ्' से अभिप्राय है—समास के अयोग्य नञ्।[2]

---

[1] तादृशप्रयोग इति पाठान्तरम् ॥

[2] नञ् द्वारा प्रतिपादित निषेध दो प्रकार का होता है। एक प्रसज्य प्रतिषेध और दूसरा पर्युदासप्रतिषेध। इनके लक्षण निम्न तीन श्लोकों में सुन्दर ढंग से वर्णन किये गये हैं—

यदि कहो कि समासायोग्य प्रसज्यप्रतिषेध वाला नञ् क्रिया का ही निषेध करता है—इस कथन में कोई प्रमाण नहीं तो ठीक नहीं। क्योंकि

"द्वौ नञौ तु समाख्यातौ पर्युदास-प्रसज्यकौ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही, प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ॥१॥
प्राधान्यं तु विधेर्यत्र, प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥२॥
अप्राधान्यं विधेर्यत्र, प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसज्यस्तु स विज्ञेयः क्रियया सह यत्र नञ् ॥३॥

इन तीन श्लोकों का तात्पर्य निम्नरीत्या जानना चाहिये—

पर्युदास-प्रतिषेध	**प्रसज्य-प्रतिषेध**
(१) इस में विधि की प्रधानता तथा निषेध की अप्रधानता होती है। यथा—'**अब्राह्मणमानय**'। यहां लाने की प्रधानता है निषेध की नहीं; क्यों कि लाने का निषेध नहीं किया गया।	(१) इसमें विधि की अप्रधानता तथा निषेध की प्रधानता होती है। यथा—'**अनृतं न वक्तव्यम्**'। यहां 'बोलना चाहिये' इस विधि की अप्रधानता और '**न** बोलना चाहिये' इस निषेध की प्रधानता है।
(२) इसमें 'नञ्' उत्तरपद का निषेध किया करता है। यथा—'**अब्राह्मणमानय**'। यहां उत्तरपद, 'ब्राह्मण' का निषेध किया गया है।	(२) इसमें 'नञ्' क्रिया का निषेध किया करता है। यथा—'**अनृतं न वक्तव्यम्**'। यहां 'नञ्' ने 'बोलना चाहिये' क्रिया का निषेध किया है।
(३) इसमें जिसका निषेध किया जाता है पुनः विधि में उसके सदृशका ही ग्रहण किया जाता है। यथा—'**अब्राह्मणमानय**' यहाँ ब्राह्मण का निषेध किया गया है; अब जो लाया जायेगा वह भी ब्राह्मण के सदृश अर्थात् पुरुष ही होगा, पत्थर आदि नहीं लाये जायेंगे।	(३) यहां केवल निषेध ही होता है। यथा—'**अनृतं न वक्तव्यम्**'। यहां केवल निषेध ही है।

'न त्वं पचसि, न युवां पचथः, चैत्रो न पचति, घटो न जायते' इत्यादि स्थलों पर क्रिया के निषेध की ही प्रतीति होती है [1]।

इसीलिये तो घट के विद्यमान रहने पर भी **'घटो न जायते'** यह प्रयोग उपपन्न होता है। यदि यहां नञ् क्रिया का निषेध न करता घट का निषेध करता तो **'घटाभावो जायते'** यह अर्थ हो जाता, जो स्पष्टतया घट के प्रत्यक्ष रहते अनुपपन्न रहता।

इसी प्रकार 'घटो नास्ति' में भी 'अस्ति' क्रिया का ही निषेध समझना चाहिये न कि घट का। क्योंकि 'घटो न जायते' तथा 'घटो नास्ति' इन दोनों में धात्वर्थ के सिवाय अन्य कोई अन्तर नहीं। यदि 'घटो न जायते' में अनुपपत्तिवश क्रिया का निषेध मानेंगे तो 'घटो नास्ति' में भी क्रिया का निषेध मानना पड़ेगा।

'भूतले घटो न' इत्यादि स्थलों पर भी यद्यपि क्रिया नहीं दी गई तथापि 'अस्ति' क्रिया का अध्याहार कर[2] उसके साथ ही नञ् को अन्वित

प्रसज्यप्रतिषेध के कुछ उदाहरण----

"न व्यापारशतेनापि शुकवत् पाठ्यते वकः"। "न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः"। "शत्रुणा न हि सन्दध्यात्"। "न कुर्यान्निष्फलं कर्म"। इत्यादि।

पर्युदास-प्रतिषेध के कुछ उदाहरण —

"पुत्रः शत्रुरपण्डितः"। "जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः"।

"समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः"। "दूरादस्पर्शनं वरम्"। इत्यादि॥

(देखें लघुसिद्धान्तकौमुदी की **भैमीव्याख्या** सूत्र १८)

[1] यदि यहां द्रव्यादि के निषेध की प्रतीति होती तो **'न त्वं पचसि'** में 'त्वम्' का अभाव माने जाने से 'पचसि' में मध्यमपुरुष न हो सकता। **'न युवां पचथः'** में 'युवाम्' का अभाव माने जाने से न तो मध्यमपुरुष होता और न ही द्विवचन। **'चैत्रो न पश्यति'** में चैत्र का अभाव माने जाने से प्रथमपुरुष की व्यवस्था कैसे होती ? घट के विद्यमान रहते **'घटो न जायते'** कैसे कहते ? अतः इस से सिद्ध होता है कि ऐसे स्थलों पर क्रिया का ही निषेध किया जा रहा है किसी अन्य का नहीं॥

[2] महाभाष्य में कहा भी है—

"अस्तिर्भवन्तीपरोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति।" भवन्तीति लटः सञ्ज्ञा, लट्परोऽस्तिर्धातुः प्रयोक्तव्य इति तदर्थ इति भावः॥

करना चाहिये। क्योंकि उपर्युक्त हेतुओं[1] से यह सिद्ध हो चुका है कि नञर्थ-विशेष्यक बोध में प्रकारतासम्बन्ध से धातुजन्य भावना की उपस्थिति ही कारण हुआ करती है[2]।

इस विषय में अभी और बहुत कुछ कहना है वह आगे नञर्थनिर्णय में कहेंगे ॥१६॥[3]

भूषणसारः—

(७-८) 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (२.३.३७) इत्यत्र भावनार्थकभावशब्देन तद्योगे साधुत्वाख्यानलाभात्। 'षष्ठी चाऽनादरे' (२.३.३८) इति तदग्रिमसूत्रेऽपि चकाराद् यस्य च भावेनेत्यायातीत्यर्थः। साधुत्वमिति। तत्स्वरूपं च वक्ष्यते ॥

(७) **'यस्य च भावेन भावलक्षणम्'** (२.३.३७) सूत्र द्वारा प्रतिपादित सप्तमी का क्रिया के साथ अन्वय होता है। इस सूत्र में दोनों '**भाव**' शब्द

---

[1] ऊपर प्रधानतया तीन हेतुओं की ओर निर्देश किया गया है—

(१) **'न त्वं पचसि'** आदि में मध्यमपुरुष की व्यवस्था का अभाव।

(२) **'न युवां पचथः'** आदि में पुरुष तथा द्विवचन की व्यवस्था का न होना।

(३) घट के विद्यमान रहने पर भी **'घटो न जायते'** इस प्रयोग की अनुपपन्नता।

[2] 'घटो नास्ति' में नञ् अस्तिक्रिया का निषेध करता है। 'घटकर्तृकास्तित्वाभावः' यह यहां बोध होता है। इस बोध में अभाव विशेष्य रहता है। किस का अभाव ? इस जिज्ञासा में अस्तिक्रिया का अभाव। इस प्रकार उस बोध में अस्तिक्रिया प्रतियोगितासम्बन्ध से सम्बद्ध रहने से विशेषण है। सरल शब्दों में उपर्युक्त प्रघट्टक का यह तात्पर्य है कि—क्योंकि उपर्युक्त कारणों से नञ् क्रिया का ही निषेध करने वाला सिद्ध किया जा चुका है अतः 'भूतले घटो न' आदि स्थलों पर 'अस्ति' क्रिया का अध्याहार कर लिया जायेगा। यह विषय **'शब्दकौस्तुभ'** में **'न धातुलोप आर्धधातुके'** (१.१.४) सूत्र पर अतीव स्पष्ट है विशेषजिज्ञासु वहीं देखें ॥

[3] अभी इस विषय में नैयायिकों का समाधान तथा उसका खण्डन अवशिष्ट रहता है। उसका वर्णन आगे नञर्थनिर्णय में आयेगा। विशेषजिज्ञासु दर्पणादि टीका में उसे देख सकते हैं ॥

क्रिया के वाचक हैं। अतः इस सूत्र का अर्थ है—जिसकी क्रिया से दूसरी क्रिया लक्षित हो उस (ज्ञापक क्रिया के आश्रय) से सप्तमी विभक्ति हो। यथा—'**गोषु दुह्यमानासु गतः**'। वह कब गया? इसका उत्तर है 'गोषु दुह्यमानासु गतः' अर्थात् जब गौएं दुही जा रही थीं तब गया। यहां कर्मीभूत गौओं की दोहनक्रिया से किसी दूसरे व्यक्ति की गमन क्रिया परिलक्षित होती है अतः ज्ञापकक्रिया के आश्रय 'गो' तथा उसके विशेषण 'दुह्यमाना' से सप्तमी विभक्ति हुई है। इस सप्तमी को '**सति सप्तमी**' भी कहते हैं। जब तक दूसरी क्रिया परिलक्षित न हो तब तक ज्ञापकक्रिया के आश्रय में सप्तमी नहीं होती अतः '**सति सप्तमी**' का क्रिया के साथ ही अन्वय है—ऐसा मानना युक्त है ॥

(८) '**षष्ठी चाऽनादरे**' (२.३.३८) सूत्र द्वारा प्रतिपादित षष्ठी व सप्तमी का भी क्रिया के साथ अन्वय होता है। इस सूत्र में भी 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इस पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति आती है। अतः इसका अर्थ होता है—यदि अनादर गम्यमान हो तो जिसकी क्रिया से दूसरी क्रिया लक्षित हो उस (ज्ञापक क्रिया के आश्रय) से सप्तमी व षष्ठी विभक्तियां हों। यथा—'रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्'। उसने कब संन्यास लिया? इसका उत्तर है 'रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्'। अर्थात् जब सारा परिवार रो रहा था तव उसने संन्यास लिया। यहां परिवार की परवाह नहीं की गई, अतः परिवार का अनादर व्यक्त हो रहा है। किञ्च परिवार के रोने की क्रिया से दूसरे व्यक्ति की परिव्रजन क्रिया परिलक्षित होती है अतः ज्ञापकक्रिया (रोदन) के आश्रय परिवार तथा उसके विशेषणों से सप्तमी व षष्ठी विभक्ति हो गई है। यहां भी जब तक दूसरी क्रिया परिलक्षित न हो तब तक ज्ञापकक्रिया के आश्रय में सप्तमी व षष्ठी विभक्ति नहीं होती; अतः इन का भी क्रिया के साथ अन्वय है—यह समीचीन ही है ॥

'**तथा यस्य च भावेन षष्ठी चेत्युदितं द्वयम्**' इस कारिका में इन दो सूत्रों की ओर निर्देश किया गया है। '**उदितम्**' का अर्थ है—'**कथितम्**'।

इस प्रकार उपर्युक्त आठों की साधुता क्रिया के साथ अन्वय होने से ही होती है। यहां '**साधुता**' का अभिप्राय '**अर्थबोधकता**' से नहीं, क्योंकि अर्थबोधकता तो अपभ्रंश शब्दों में भी पाई जाती है। यहां साधुत्व से अभिप्राय '**पुण्यजननयोग्यत्वम्**' से है। जिससे पुण्य उत्पन्न हो सके वह शब्द इस

शास्त्र में साधु माना जाता है[1]। इसी का विस्तार आगे '**असाधुरनुमानेन–**' (३८वीं कारिका) की व्याख्या में किया जायेगा, विशेष जिज्ञासु वहीं देखें ।।

अच्छा तो उपर्युक्त आठों का क्रिया में अन्वय है—यह मान लेते हैं, परन्तु क्रिया का अर्थ यहां व्यापार ही है यह कैसे निश्चय हो ? क्रिया का अर्थ कई स्थानों पर '**फल**' भी हुआ करता है यथा '**कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः**' (३.१.८७) में। इस शङ्का की निवृत्ति के लिये भूषणसार में अग्रिम प्रघट्टक आरम्भ करते हैं—

भूषणसारः—

क्रिययैवेति—अयं भावः– भूवादिसूत्रादिषु प्रायः क्रियाशब्देन भावनाव्यपदेशात् तत्र तस्य साङ्केतिकी शक्तिः; फलांशे क्वाचित्कः 'क्रियते' इति यौगिकः प्रयोगः। तथा च सञ्ज्ञाशब्दस्यानपेक्षप्रवृत्तत्वेन बलवत्त्वाद् भावनाऽन्वय एव साधुता लभ्यते। अतएव सञ्ज्ञाशब्दप्राबल्याद् रथन्तरम् उत्तराग्रन्थपठितऋक्ष्वेव गेयं न तु वेदे तदुत्तरपठ्यमानऋक्ष्विति नवमे निर्णीतम् ।।

'**भूवादयो धातवः**' (१.३.१) इत्यादि सूत्रों में प्रायः 'क्रिया' शब्द से भावना (व्यापार) का ही ग्रहण किया जाता है क्योंकि उस अर्थ में उसकी साङ्केतिकी शक्ति अर्थात् प्रसिद्धि (रूढि) है। 'क्रिया' शब्द से फलांश का ग्रहण कहीं कहीं यौगिक अर्थ के बल पर किया जाता है—"**क्रियते=निष्पाद्यते व्यापारेणेति क्रिया।**" यौगिक और रूढ अर्थों में रूढ अर्थ ही बलवान् माना जाता है, क्योंकि यौगिक अर्थ तो प्रकृति प्रत्ययादि की अपेक्षा (आश्रय) किया करता है परन्तु रूढ अर्थ को इन की अपेक्षा करनी नहीं पड़ती वह सीधा बुद्धि में उपस्थित होता है। इस प्रकार 'क्रिया' शब्द का मुख्य अर्थ 'व्यापार' ही है—ऐसा निश्चय होता है। इसीलिये तो मीमांसादर्शन के नवमाध्याय में 'उत्तरा' शब्द से 'उत्तरा' ग्रन्थ का ही ग्रहण कर उसमें पठित दो ऋचाओं में रथन्तर (सामगान) को गेय निश्चित किया

---

[1] अतएव महाभाष्यके पस्पशाह्निक में कहा गया है—

"एवमिहापि समानायाम् अर्थावगतौ शब्देन चापशब्देन च, धर्मनियमः क्रियते—शब्देनैव अर्थोऽभिधेयो नाऽपशब्देनेति। एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति"।।

गया है, न कि वेद में आगे की दो ऋचाओं की गेयता का। कारण स्पष्ट है—**'योगाद् रूढिर्बलीयसी'** अर्थात् यौगिक अर्थ से रूढ अर्थ बलवान् हुआ करता है ॥[1]

वक्तव्य—'**तद्योन्यां तदुत्तरयोर्गायति, रथन्तरमुत्तरयोर्गायति**' इत्यादि स्थलों पर '**उत्तरयोर्गायति**' में '**उत्तरयोः**' शब्द पर सन्देह होता है। क्या इस का अर्थ यह किया जावे कि '**अगली दो ऋचाओं में गान करे**' अथवा '**उत्तराग्रन्थ की दो ऋचाओं का गान करे**'। [ध्यान रहे कि सामगान करने वालों का एक 'उत्तरा' नामक ग्रन्थ भी हुआ करता है]। इसका निर्णय मीमांसादर्शन के नवमाध्याय के द्वितीयपाद के पञ्चम अधिकरण में यह किया गया है कि यौगिक व सम्बन्धिशब्दों की अपेक्षा रूढ शब्द ही बलवान् होते हैं, अतः 'उत्तरा' शब्द से रूढ अर्थ 'ग्रन्थविशेष' का ही ग्रहण किया जायेगा न कि 'उत्तरवर्त्ती ऋचाओं का'। इसी प्रकार यहां भी क्रियाशब्द के रूढार्थ (भावना) और यौगिकार्थ (फल) इन दोनों में '**योगाद् रूढिर्बलीयसी**' (योग से रूढ अर्थ बलवान् होता है) के अनुसार रूढार्थ ही बलवान् माना जायेगा। रूढ अर्थ के स्वीकार करने में बुद्धि पर जोर नहीं पड़ता, यौगिक अर्थ में उसके अवयवार्थ की ओर ध्यान जा कर ही अर्थ सम्भव होने से देर लगती है अतः रूढार्थ ही शीघ्रोपस्थित होने से बलवान् माना जाता है ॥

अच्छा तो '**भूवादयो धातवः**' (१.३.१) सूत्र में जिस प्रकार आप '**क्रिया**' का अर्थ 'व्यापार' लेते हैं वैसे '**कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः**' (३.१.८७) सूत्र में 'क्रिया' का अर्थ आप 'फल' मानते हो। तो 'क्रिया' शब्द का साङ्केतिक अर्थ 'व्यापार' है 'फल' नहीं—इस में नियामक क्या प्रमाण है? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अगला प्रघट्टक प्रस्तुत करते हैं—

---

[1] रथन्तरं हि '**यदद्योन्यां तदुत्तरयोर्गायति**' इति श्रूयते। तत्र रथन्तरयोनेः परतो बृहद्योनेः पठितत्वाद् रथन्तरं तस्यां गेयम्? उत, उत्तराग्रन्थे '**न त्वा वा मन्यते**' इत्यस्य पठितत्वात् तत्र गेयम्? इति संशयेऽविशेषाद् उभयत्र गेयम् इति पूर्वपक्षे—उत्तराग्रन्थे उत्तराशब्दस्य सञ्ज्ञारूपेण प्रसिद्धिर्बृहद्योनौ तु तस्याः पूर्वग्रन्थाऽपेक्षिकोत्तरत्वबलाद् यौगिकी, इति सञ्ज्ञाशब्दस्याऽनपेक्ष्य प्रवृत्तिकत्वेन बलवत्त्वाद् उत्तराशब्दसङ्केतित '**न त्वा वा मन्यते**' इत्याद्यृक्ष्वेव तद् गेयम् इति नवमे निर्णीतम् ॥

भूषणसारः—

किं च फलांशोऽपि भावनायां विशेषणं कारकाण्यपि क्वचित्[1] तथाभूतानीति[2]। 'गुणानां च परार्थत्वाद् असम्बन्धः समत्वात् स्यात्' (मीमांसादर्शने ३-१-२०) इति न्यायेन सर्वे सेवका राजानमिव भावनायामेव परस्परनिरपेक्षाणि अनुयन्ति। 'न हि भिक्षुको भिक्षुकान्तरं याचितुमर्हति सत्यन्यस्मिन्नभिक्षुके' इति न्यायेनापि फलं त्यक्त्वा भावनायामेवानुयन्तीति मीमांसका अपि मन्वते। एवं च विशेष्यतया कारकादिप्रकारकबोधं[3] प्रति धातुजन्यभावनोपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावस्य क्लृप्तत्वाद् यत्रापि 'पक्ता, पाचकः' इत्यादौ भावना गुणभूता तत्रापि क्लृप्तकार्यकारणभावानुरोधात् [4]तस्यामेवान्वय इत्यवसीयत इत्यादि भूषणे प्रपञ्चितम् ॥

भावना में फलांश विशेषण हुआ करता है। पच् धातु का अर्थ है—'**विक्लित्यनुकूलो व्यापारः**' अर्थात् विक्लितिरूप फल को पैदा करने वाला व्यापार। यहां 'व्यापार' विशेष्य और 'विक्लिति' विशेषण है। यह सब पीछे '**फले प्रधानं व्यापारः**' (द्वितीय कारिका) में कहा जा चुका है। इसी प्रकार कारक भी कहीं कहीं (कर्तृवाच्यस्थल में) भावना में विशेषणीभूत देखे जाते हैं। यथा—'**देवदत्त ओदनं पचति**' इस वाक्य के '**देवदत्ताभिन्नैककर्तृक-ओदनकर्मक-वर्त्तमानकालिक-विक्लित्यनुकूल व्यापार**' इस बोध में देवदत्त आदि सब कारक भावना के ही विशेषण हैं। यहां भावना ही एकमात्र मुख्य विशेष्य है। जिस प्रकार परस्पर निरपेक्ष हो कर सब सेवक राजा की ही सेवा करते हैं वैसे सब कारक तथा फल भी परस्पर निरपेक्ष होते हुए भावना का ही अनुसरण करते हैं और उस में अन्वित होते हैं।

---

[1] क्वचित्=कर्त्राख्यातस्थले ॥

[2] तथाभूतानि—विशेषणानीत्यर्थः ॥

[3] कारकादीत्यादिना लडाद्यर्थकालपरिग्रहः ॥

[4] तस्यामेव=भावनायामेव ॥

इसीलिये तो जैमिनिमुनि ने मीमांसादर्शन में कहा है— "**गुणानां च परार्थत्वाद् असम्बन्धः समत्वात् स्यात्**" (३.१.२०)। (गुणानाम्) विशेषणों के (परार्थत्वात्) विशेष्योपकारी होने से उन का परस्पर (असम्बन्धः स्यात्) अन्वयादि सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि (समत्वात्) विशेष्योपकारितारूपेण वे सब एक समान होते हैं। जब कि फलांश भी भावना का एक विशेषण है जैसेकि अन्य कारक उस के विशेषण होते हैं तो उस में उपर्युक्त जैमिनीय-न्याय के अनुसार कारकों का अन्वय नहीं हो सकता। लोक में भी यह प्रसिद्ध है कि जब तक एक भी अभिक्षुक दाता मौजूद रहता है कोई भिक्षुक दूसरे भिक्षुक से नहीं मांगा करता। इसी प्रकार भावना के मौजूद रहते कारकों का फल में अन्वय नहीं होता—यह मीमांसकों को भी सम्मत है। निष्कर्ष यह निकला कि कारकादिप्रकारक बोध के प्रति विशेष्यता के कारण धातुजन्यभावना की उपस्थिति हेतु है। तो इस कार्यकारण के नियमानुसार '**पक्ता (तृजन्त), पाचकः (ण्वुलन्त)**' इत्यादि कृदन्तों में जहाँ कर्ता में प्रत्यय होने से भावना गौण बन गई है वहां भी कारकों का अन्वय भावना में ही होगा अन्यत्र नहीं। एवम्—'**ओदनस्य पाकः**' आदि में ओदनादि कर्म का भावना में ही अन्वय होता है—यह सुतरां सिद्ध हो जाता है, यह सब बृहद्भूषण में ग्रन्थकार ने विस्तार से प्रतिपादन किया है—विशेषजिज्ञासु वहीं देखें।

भूषणसारः---

केचित्तु 'भूतले घटः', 'देवदत्तो घटम्' इत्यादौ अन्वयबोधाऽऽकाङ्क्षानिवृत्त्योरदर्शनान्न तद्व्यतिरेकेण साधुत्वलाभ इत्याहुः ॥१७॥

अन्य कई लोग क्रिया (भावना) की प्रधानता सिद्ध करने के लिये यह कहते हैं कि किसी वाक्य की साधुता में आवश्यक है कि शाब्दबोध हो और आकाङ्क्षा की निवृत्ति भी हो। परन्तु '**भूतले घटः**' '**देवदत्तो घटम्**' इत्यादि स्थानों पर जहां क्रिया का ग्रहण नहीं किया जाता '**सर्वं हि वाक्यं क्रियया परिसमाप्यते**' के अनुसार वहां न तो अन्वयबोध=शब्दबोध होता है और न ही आकाङ्क्षा मिटती है। अतः इस से सिद्ध होता है कि क्रिया के विना कारकों की साधुता ही नहीं[1]॥१७॥

---

[1] ग्रन्थकार ने यहां 'आहुः' कहकर इस मत में स्वकीय अरुचि द्योतित की है। क्योंकि ऐसे स्थलों पर क्रिया का अध्याहार कर अन्वयबोध तथा आकाङ्क्षानिवृत्ति

भूषणसारः---

स्वयम् उपपत्तिमाह---

अब कारिकाकार स्वयं बाधकोपन्यासरूप उपपत्ति को प्रस्तुत करते हैं। तात्पर्य यह है कि यदि कारकों का भावना में अन्वय नहीं मानोगे तो आपके मत में [1] महती बाधा उपस्थित होगी। इसके लिये अग्रिमकारिका का अवतरण करते हैं—

कारिका---

यदि पक्षेऽपि वत्यर्थः कारकञ्च नञादिषु।
अन्वेति त्यज्यतां तर्हि चतुर्थ्याः स्पृहिकल्पना ॥१८॥

यदि आप अनुशासन के विरुद्ध वत्यर्थ का अन्वय पर्वतादि पक्ष में तथा कारक का अन्वय नञादियों में करने में कटिबद्ध हैं तो फिर चतुर्थीविभक्ति के लिये स्पृह् धातु के अध्याहार करने की कल्पना भी छोड़ दें॥

भूषणसारः---

पर्वतो वह्निमान् धूमाद् महानसवत्। भूतले न घटः। भूतले घट इति आदिपदात् [2]**। एवमादिषु अनुशासनविरोधेऽपि यदि साधुत्वमन्वयश्चाभ्युपेयते तर्हि चतुर्थ्याः स्पृहिकल्पनाऽपि** [3] **त्यज्यता-**

भाष्यसम्मत है ही। अतएव महाभाष्य के—**"गाम् इत्युक्ते कर्म निर्दिष्टम् कर्ता क्रिया चानिर्दिष्टे"** ये वचन सङ्गत होते हैं। एवम्—**'नीलो घटः'** **'सुन्दरश्चैत्रः'** इत्यादिकों को असाधु कह कर टाला नहीं जा सकता क्योंकि यहां अन्वयबोध और आकाङ्क्षा-निवृत्ति की प्रतीति सार्वजनीन देखी जा सकती है॥

[1] नैयायिकों के मत में।

[2] कारिकागत—'नञादिषु' इत्यत्रादिपदाद् इत्यर्थः॥

[3] चतुर्थ्याः स्पृहिकल्पना। चतुर्थीसम्बन्धिनी स्पृहिकल्पना, यद्वा चतुर्थ्याः कृते स्पृहिकल्पनेत्यर्थः॥

मित्यर्थः । अनुशासनानुरोधतौल्येऽर्धजरतीयम्[1] अयुक्तमिति भावः ॥१८॥

नैयायिक लोग—'**पर्वतो वह्निमान् धूमाद् महानसवत्**' (पहाड़ अग्नि वाला है, धूम के कारण, रसोईघर की तरह) इस वाक्य में '**महानसवत्**' का अन्वय 'पर्वतः' आदि पक्ष[2] के साथ करते हैं, अर्थात् जैसा महानस वैसा पहाड़। इसी प्रकार '**भूतले न घटः**' इत्यादियों में 'भूतले' इस अधिकरण कारक का अन्वय नञ् के अर्थ अभाव में कर के '**भूतलवृत्तित्वाभाववान् घटः**' ऐसा अर्थ मानते हैं। एवम्—'**भूतले घटः**' यहां 'भूतले' इस अधिकरण कारक का 'घटः' में अन्वय कर के 'भूतलाधेयत्ववान् घटः' या 'भूतलवृत्तिर्घटः' इस प्रकार अर्थ स्वीकार करते हैं। परन्तु नैयायिकों का ऐसा मानना पाणिनि के अनुशासन (शास्त्र) के नितान्त विरुद्ध है, क्योंकि पाणिनिजी ने तो 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः' (५. १. ११४) में स्पष्ट क्रिया की तुल्यता में ही वतिप्रत्यय का विधान माना है, तथा वे कारकों का अन्वय 'कारके' (१. ४. २३) इस अधिकारानुसार क्रिया में ही स्वीकार करते हैं---यह सब पिछली १६-१७ कारिकाओं में स्पष्ट कर चुके हैं।

अब उन नैयायिकों को उपालम्भ देते हुए कारिकाकार कहते हैं कि हे नैयायिको ! यदि तुम्हें पाणिनि के अनुशासन के उल्लंघन की चिन्ता नहीं (जैसा कि तुम्हारे मत में ऊपर बताया गया है) तो तुम 'पुष्पेभ्यः' ऐसा लिखा होने पर 'स्पृहयति' का ही क्यों अध्याहार करते हो किसी अन्य धातु का या तत्समानवाची धातु का क्यों अध्याहार नहीं कर लेते ? यदि तुम यह कहो कि '**स्पृहेरीप्सितः**' (१. ४. ३६) इस पाणिनिसूत्रानुसार ऐसे स्थलों पर 'स्पृहयति' का ही अध्याहार करना ठीक है तो यह तुम्हारा कथन उचित नहीं होगा, क्योंकि कहीं तो तुम पाणिनीयानुशासन का उल्लंघन करते हो और कहीं उस का अनुगमन ; एक मार्ग अपना लो, या तो अनुशासन का उल्लङ्घन करो या उस का अनुगमन; कहीं उल्लङ्घन और

---

[1] जरत्या अर्धम् इत्यर्धजरती, तत्सदृशम् अर्धजरतीयम्। '**समासाच्च तद्विषयात्**' (५.३.१०६) इति छः। यथा जरत्याः अर्धं कामयतेऽर्धं न तथेत्यर्थः। अग्रे भाषाटिप्पणमप्यवलोकनीयम् ॥

[2] 'सन्दिग्ध-साध्यवान् पक्षः' इति तर्कसंग्रहादौ स्पष्टम् ॥

कहीं अनुसरण—यह अर्धजरतीयन्याय[1] अयुक्त है। ऐसा नहीं हो सकता कि मुर्गी का पिछला हिस्सा तुम्हे अण्डे देता रहे और अगले हिस्से को तुम पका कर खा जाओ।

तात्पर्य यह निकला कि नैयायिकों को अनुशासनानुरोध से अपने उपर्युक्त उदाहरणों में शब्दशास्त्रमतानुसार ही अन्वय मानना पड़ेगा, अपने मनमाने ढंग से नहीं[2] ॥१८॥

भूषणसारः—

[3]एवं कर्त्रादौ विहितानाम् इन्यादीनां क्रिययैवाऽन्वय इत्याह—

इसी प्रकार कर्ता आदि में विधान किये गये 'इनि' आदि प्रत्ययों का क्रिया के साथ ही अन्वय हुआ करता है—इस बात को बतलाने के लिये अग्रिम-कारिका का अवतरण करते हैं—

---

[1] किसी वस्तु का आधा स्वीकार किया जाये और आधा छोड़ दिया जाये—इसे **अर्धजरतीयन्याय** कहते हैं। यथा महाभाष्य (४.१.७८) में—

"न चेदानीम् अर्धजरतीयं लभ्यम्। वृद्धिर्मम भविष्यति स्वरो नेति। तद्यथा—अर्धं जरत्याः कामयन्तेऽर्धं नेति।"

सर्वदर्शनसङ्ग्रह के अन्तर्गत बौद्धदर्शन प्रकरण में—

"न चार्धजरतीयमुचितम्। न हि कुक्कुटया एको भागः पाकाय, अपरो भागः प्रसवाय कल्प्यतामिति कल्प्यते।" (भाण्डारकरसंस्करण पृष्ठ २६)

भुवनेश-लौकिक-न्याय-साहस्री में—

"यथा जरती=वृद्धा स्त्री, तस्याः पतिस्तदर्धं मुखमात्रं गृह्णाति, अवयवान्तरं त्यजतीति युक्तिशून्यम् इत्यादि ॥"

[2] यहां व्याकरणसम्मत ढंग इस प्रकार से समझना चाहिये—**'पर्वतो वह्निमान् धूमाद् महानसवत्'** में 'भवितुमर्हति' का अध्याहार कर लेना चाहिये, 'पर्वतो वह्निमान् भवितुमर्हति धूमाद् महानसवत्' इस प्रकार 'भवितुमर्हति' इस क्रिया के सादृश्य के कारण वतिप्रत्यय का प्रयोग हुआ है। इसी तरह **'भूतले न घटः'** और **'भूतले घटः'** आदि स्थानों पर **'अस्ति'** क्रिया का अध्याहार कर उसमें अधिकरण कारक का अन्वय करना चाहिये ॥

[3] एवम्=पूर्वोक्ताष्टकवत् ॥

कारिका—

अविग्रहा गतादिस्था यथा ग्रामादिकर्मभिः ।
क्रिया सम्बध्यते तद्वत् कृतपूर्व्यादिषु स्थिता ।।१६।।[1]

जैसे 'ग्रामं गतः' आदियों में गुणीभूत गमनक्रिया ग्रामादि कर्मों के साथ सम्बद्ध हो जाती है, वैसे 'कृतपूर्वी कटम्' आदियों में भी गुणीभूत क्रिया का कर्म के साथ सम्बन्ध समझ लेना चाहिये ।।

भूषणसारः—

न विविच्य ग्रहो ग्रहणं यस्याः साऽविग्रहा गुणीभूतेति यावत् । तथा च 'ग्रामं गतः' इत्यत्र यथा क्तप्रकृत्यर्था गुणीभूताऽपि क्रिया ग्रामादिकर्मभिः सम्बध्यते, तथा 'कृतपूर्वी कटम्' इत्यत्रापि गुणभूता इन्यादिभिरित्यर्थः[2] ।।

कारिकागत '**अविग्रहा**' पद का अभिप्राय है—'**गुणीभूता**' । जिसका ग्रहण पृथक्त्वेन=विशेष्यभावेन=प्रधानभावेन=दूसरे का विशेषण न बन कर विशेष्यरूप से नहीं होता है उसे 'अविग्रहा' कहते हैं । अर्थात् दूसरे के विशेषणभाव को प्राप्त हुई गौणी (क्रिया) । 'ग्रामं गतः' यहां 'गतः' में 'गम्' क्रिया गौणीभूता है क्योंकि क्तप्रत्यय 'गत्यर्थाकर्मकश्लिष—'(३.४.७२) सूत्र से कर्ता में हुआ है, अतः '**प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थः प्रधानम्**' के अनुसार प्रत्ययार्थ=कर्ता प्रधान और गमनक्रिया उस में विशेषण बन जाने से गौण हैं । परन्तु जिस प्रकार इस गौण क्रिया का सम्बन्ध 'ग्रामम्' इस कर्म के साथ निर्बाध हो जाता है, ठीक इसी प्रकार—'**कृतपूर्वी कटम्**' में इनिप्रत्यय कर्ता में विहित होने पर 'कृत' शब्दगत गौणीभूता 'करण' क्रिया का भी सम्बन्ध 'कटम्' इस कर्म के साथ हो जाता है ।

---

[1] यथा गतादिस्था अविग्रहा (अपि) क्रिया ग्रामादिकर्मभिः सम्बध्यते तद्वत् कृतपूर्व्यादिषु स्थिता (क्रियाऽपि कर्मणा सम्बध्यते) इत्यन्वयः ।। यह कारिका भर्तृहरि के वाक्यपदीय में ३.१४.६७ पर पठित है ।।

[2] तदर्थककर्त्रादिभिरित्यर्थः ।।

यहां दृष्टान्त है **'ग्रामं गतः'**, और दार्ष्टान्त है **'कृतपूर्वी कटम्'**। दोनों का साम्य यह है कि गुणीभूता क्रिया दोनों वाक्यों में कर्म के साथ सम्बद्ध हो रही है ॥

वक्तव्य—कृतपूर्वी कटम्। कटः पूर्वं कृतोऽनेन इति कृतपूर्वी कटम् (कट को जो पहले बना चुका है वह)। यहां सर्वप्रथम 'पूर्वं कृतम्—कृतपूर्वम्' इस प्रकार समास हो जाता है। इस समास में 'पूर्वम्' यह क्रियाविशेषण तथा 'कृतम्' यहां कर्म की अविवक्षा में **'नपुंसके भावे क्तः'** (३.३.११४), से भाव में क्तप्रत्यय हुआ है। यहां समासविधायक सूत्र है **'सुप्सुपा'** (२.१.४)। तो 'कृतपूर्व' ऐसा समास हो जाने के बाद **'पूर्वादिनिः'** (५.२.८६) **'सपूर्वाच्च'** (५.२.८७) सूत्रों[1] से कर्ता में इनिप्रत्यय होकर **'कृतपूर्वी'** बन जाता है। तदनन्तर कर्म की विवक्षा होने पर 'कटम्' इस कर्म के साथ सम्बन्ध होकर **'कृतपूर्वी कटम्'** यह प्रयोग सिद्ध होता है। अब यहां 'कृत' में गौणीभूता क्रिया का सम्बन्ध 'कटम्' इस कर्म से हो जाता है[2] ॥

भूषणसारः—

न च वृत्तिमात्रे समुदायशक्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् तत्रान्तर्गता भावना पदार्थैकदेश इति कथं तत्राऽन्वय इति वाच्यम्। नित्यसापेक्षेषु एकदेशेऽपि 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्, चैत्रस्य नप्ता' इत्यादाविवाऽन्वयाभ्युपगमात् ॥

---

[1] **'पूर्वादिनिः'** (५.२.८६) पूर्वशब्दादनेनेत्यस्मिन्नर्थे इनिः प्रत्ययो भवति। पूर्वं गतम् अनेन भुक्तं पीतं वा, पूर्वी पूर्विणौ पूर्विणः ॥ **'सपूर्वाच्च'** (५.२.८७) पूर्वशब्दान्तात् प्रातिपदिकाद् अनेनेत्यस्मिन्नर्थे इनिप्रत्ययो भवति। पूर्वं कृतम् अनेन इति कृतपूर्वी कटम्, भुक्तपूर्वी ओदनम् ॥

[2] 'कृत' में क्तप्रत्यय भाव में हुआ था। भाव क्रिया की सिद्धावस्था को कहते हैं उस में तो कारकों का अन्वय हो नहीं सकता—यह पीछे बताया जा चुका है; अतः गौणीभूत 'करण' क्रिया के साथ ही 'कटम्' का सम्बन्ध मानना होगा। ध्यान रहे कि 'कट' अनभिहित कर्म है क्योंकि न तो यह क्तप्रत्यय के द्वारा कहा गया है (वह तो भाव में हुआ है) और न यह इनिप्रत्यय के द्वारा (वह तो कर्त्ता में हुआ है) अतः **'कर्मणि द्वितीया'** (२.३.२) से अनभिहित कर्म में द्वितीया विभक्ति हो गई है ॥

प्रश्न—आपने 'कृतपूर्वी कटम्' में 'कृत' गत गुणीभूत करणक्रिया का सम्बन्ध 'कटम्' इस कर्म से बताया है, परन्तु यह उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि समास में एकार्थीभावरूप सामर्थ्य हुआ करता है अतः उसके खण्डों का अन्वय किसी दूसरे से नहीं किया जा सकता। जैसे '**ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः**' इस अर्थ में '**ऋद्धस्य राजपुरुषः**' का प्रयोग नहीं किया जाता[1]। इसी प्रकार 'कृतपूर्वी' के 'कृत' अंश का भी 'कटम्' के साथ अन्वय उपपन्न नहीं हो सकता।

उत्तर—आप की बात सत्य है परन्तु कुछ शब्द नित्य सापेक्ष हुआ करते हैं—जो हमेशा किसी दूसरे की अपेक्षा किया ही करते हैं। ऐसे शब्द यदि समासादि-दशा को प्राप्त होकर गौण हो भी जायें तो भी वे दूसरे की अपेक्षा छोड़ा नहीं करते। यथा—'**देवदत्तस्य गुरुकुलम्**' यहां 'देवदत्त का जो गुरु उसका कुल' ऐसा अर्थ स्पष्टतया प्रतीत हो रहा है। अर्थात् देवदत्त का सम्बन्ध गुरु से और फिर गुरु का कुल से—इस प्रकार समासगत भी गुरु शब्द जो सम्बन्धी शब्द होने से नित्य-सापेक्ष है—'देवदत्त' के साथ अन्वित हो जाता है। नित्यसापेक्ष शब्दों का दूसरा उदाहरण यथा—'**चैत्रस्य नप्ता**' अर्थात् चैत्र के पुत्र का पुत्र (चैत्र का पोता)। यहां चैत्र का पहले 'पुत्र' के साथ सम्बन्ध होता है और बाद में उसके पुत्र का पुत्र के साथ।

इन दोनों उदाहरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि कुछ शब्द नित्य-सापेक्ष हुआ करते हैं जो समासादि के अन्तर्गत आ जाने पर भी दूसरों की अपेक्षा किया करते हैं। पर यह बात यहां ध्यान देने योग्य है कि 'कृतपूर्वी कटम्' में 'कृत' शब्द को भाष्यप्रामाण्य से ही नित्यसापेक्ष मानना पड़ रहा है वरन् ऐसे शब्द नित्यसापेक्ष नहीं हुआ करते। नित्यसापेक्ष शब्द प्रायः सम्बन्धिशब्द ही हुआ करते हैं। अतएव भर्तृहरि ने कहा है—

"**सम्बन्धिशब्दः सापेक्षो नित्यं सर्वः समस्यते।**
वाक्यवत् सा व्यपेक्षा हि वृत्तावपि न हीयते॥" (३.१४.४७)

अर्थात् सम्बन्धिशब्द सापेक्ष होने पर भी नित्य समास को प्राप्त हो जाते हैं। समस्तदशा में भी उनकी व्यपेक्षा (आकाङ्क्षा) उसी तरह बनी रहती है जैसे वह वाक्य में हुआ करती है। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है—

---

[1] क्योंकि '**पदार्थः पदार्थेनाऽन्वेति न तु तदेकदेशेन**'—पदार्थ का पदार्थ से ही अन्वय हुआ करता है उसके एकदेश से नहीं—यह न्याय शास्त्रों में बहुचर्चित है॥

"समुदायेन सम्बन्धो येषां गुरुकुलादिना ।
संस्पृश्याऽवयवांस्ते तु युज्यन्ते तद्वता सह ॥" (३.१४.४८)

अर्थात् जिन 'देवदत्त' आदि पदों का 'गुरुकुल' आदि समुदायों से सम्बन्ध हुआ करता है उनका पहले समुदाय के एकदेश से सम्बन्ध हुआ करता है, बाद में वे उस एकदेश के द्वारा समुदाय से सम्बद्ध हुआ करते हैं। तद्वता=अवयववता=समुदायेनेत्यर्थः ।

कारिका में 'कृतपूर्व्यादिषु स्थिता' यहां कृतपूर्वी आदि शब्दों का उल्लेख है । आदिपद से किस का ग्रहण होगा ? इसका विवेचन भूषणकार करते हैं—

भूषणसारः—

एवं 'भोक्तुं पाकः' 'भुक्त्वा पाकः' इत्यत्रापि द्रष्टव्यम् ॥१६॥

इसी प्रकार '**भोक्तुं पाकः**' और '**भुक्त्वा पाकः**' इत्यादियों में 'पाकः' के अन्तर्गत गौणी क्रिया के साथ तुमुन् और क्त्वा प्रत्ययों का सम्बन्ध समझना चाहिये ॥

वक्तव्य—'**भोक्तुं पाकः**' यहां पर '**तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्**' (३.३.१०) [क्रियार्था क्रिया उपपद हो तो धातुसे तुमुन् और ण्वुल् प्रत्यय हों] इस सूत्र से 'पाकः' के अन्तर्गत धातूपस्थाप्या क्रियार्था पचनक्रिया के उपपद रहते भुज्धातु से तुमुन्प्रत्यय हो गया है। जब तक क्रियार्था क्रिया न हो तब तक उक्तसूत्र से तुमुन् नहीं हो सकता अतः तुमुन् का सम्बन्ध क्रिया के साथ है। ध्यान रहे कि 'पाकः' में दो प्रकार की क्रियाएं है एक घञ्प्रत्ययोपस्थाप्या सिद्धावस्थापन्न और दूसरी धातूपस्थाप्या असत्त्वावस्थापन्न। पहली क्रिया विशेष्य होने से प्रधान तथा दूसरी विशेषण होने से गौण या अप्रधान है। 'भोक्तुं पाकः' में तुमुन् का योग दूसरे प्रकार की धातूपस्थाप्या अप्रधान या गुणभूत क्रिया से ही है।

'**भुक्त्वा पाकः**' यहां पर '**समानकर्तृकयोः पूर्वकाले**' (३.४.२१) [समानकर्तृक दो क्रियाओं में जो क्रिया पूर्वकालवर्त्ती हो उससे 'क्त्वा' प्रत्यय होता है।] इस सूत्र से भुज् और पच् इन दो समानकर्तृक क्रियाओं में से पूर्वकालवर्त्ती भुज्क्रिया से क्त्वाप्रत्यय हो गया है। यह क्त्वा प्रत्यय

तब तक नहीं हो सकता जब तक समानकर्तृक परकालवर्त्ती दूसरी क्रिया न हो। अतः यहां 'क्त्वा' प्रत्यय का सम्बन्ध 'पाकः' के अन्तर्गत असत्त्वावस्थापन्न गौणीभूत पचनक्रिया के साथ समझना चाहिये[1] ॥१६॥

भूषणसारः—

अतिप्रसङ्गम् आशङ्क्य समाधत्ते—

जैसे क्त्वा, तुमुन् आदि प्रत्यय 'पाकः' आदि में धातूपस्थाप्या गुणभूत क्रिया के साथ अन्वित हो जाते हैं, वैसे कृत्वसुच् आदि प्रत्यय भी 'पाकः' आदि में स्थित गुणीभूत क्रिया के साथ अन्वित होने चाहियें; तब 'एकः पाकः' के स्थान पर 'सकृत् पाकः','द्वौ पाकौ' के स्थान पर 'द्विः पाकः', 'त्रयः पाकाः' के स्थान पर 'त्रिः पाकः', 'चत्वारः पाकाः' के स्थान पर 'चतुः पाकः' तथा 'पञ्च पाकाः' के स्थान पर 'पञ्चकृत्वः पाकः' आदि होने लगेंगे—जो लोक और वेद में कहीं देखे नहीं जाते; अतः अतिप्रसङ्ग प्राप्त होगा—इस शङ्का का समाधान करने के लिये अग्रिमकारिका का अवतरण करते हैं—

कारिका—

कृत्वोर्थाः क्त्वा-तुमुन्वत्स्युरिति चेत् सन्ति हि क्वचित्।
अतिप्रसङ्गो नोद्भाव्योऽभिधानस्य समाऽऽश्रयात् ॥२०॥

यदि कहो कि क्त्वा और तुमुन् की तरह कृत्वोर्थ प्रत्यय भी गुणीभूत क्रिया के साथ सम्बद्ध होने चाहियें—तो हमारा उत्तर है कि यह हमें भी अभीष्ट है, कहीं२

---

[1] अत्रेदं बोध्यम्—पाक इत्यादिघञन्ते प्रकृतिप्रत्ययभागाभ्यां विशेषणविशेष्यभावापन्नाऽसत्त्वसत्त्वस्वभावे द्वे क्रिये प्रतिपाद्येते। प्रकृतिभागेन असत्त्वस्वभावा क्रिया, प्रत्ययभागेन च सत्त्वस्वभावा क्रिया उपस्थाप्यते। तत्र प्रत्ययार्थक्रियायाः प्राधान्यं, प्रकृत्यर्थक्रियायाश्च विशेषणत्वम्। एवं 'भोक्तुं, भुक्त्वा' इत्यत्र प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः क्रिययोर्विशेषणविशेष्यभावः समानः; किंतु पाक इत्यत्र प्रत्ययार्थक्रियायां यथा लिङ्गसङ्ख्याद्यन्वयित्वरूपं सत्त्वस्वभावात्मकं वैलक्षण्यं प्रतीयते, तादृशं वैलक्षण्यं 'भोक्तुं, भुक्त्वा' इत्यत्र प्रत्ययार्थक्रियायां न प्रतीयत इति विशेषः। एवं चासत्त्वस्वभाव एव भावस्तुमुनादेरर्थ इति। तस्मात् पाक इत्यादौ धात्वंशक्रियां व्यापाररूपामादाय कर्मकरणादिविभक्तिवत् 'कृतपूर्वी कटम्' इत्यादावपि कर्त्राद्यर्थकाः प्रत्यया इति बोध्यम्॥

ऐसा होता भी है। यदि कहो कि सर्वत्र ऐसा क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि अनभिधान के कारण सर्वत्र नहीं होता ॥

भूषणसारः—

'भोक्तुं पाकः' 'भुक्त्वा पाकः' इत्यादौ 'तुमुण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (३.३.१०) 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३.४.२१) इति क्रियावाचकोपपदे[1] क्रिययोः पूर्वोत्तरकाले विधीयमाना अपि तुमुनादयो गुणभूतां तामादाय यथा जायन्ते, तथा कृत्वोऽर्था अपि स्युः। 'एकः पाकः' इत्यत्र 'एकस्य सकृच्च' (५.४.१९), 'द्वौ पाकौ, त्रयः, चत्वारः' इत्यत्र 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्'(५.४.१८), 'पञ्च' इत्यत्र कृत्वसुच् स्यात्। तथा च----'सकृत् पाकः, द्विस्त्रिश्चतुः पाकः' इत्याद्याऽऽपत्तिरिति चेद् इष्टापत्तिः, 'द्विर्वचनम्' इत्यादिदर्शनात्। अतिप्रसङ्गस्त्वनभिधानान्नेत्याह—अतीति। 'न हि वचिरन्तिपरः प्रयुज्यते' इत्याद्यभियुक्तोक्तरीत्या समाधेयमिति भावः ॥

जैसे 'भोक्तुं पाकः' और 'भुक्त्वा पाकः' में 'तुमुण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (३.३.१०) तथा 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३.४.२१) सूत्रों से क्रमशः क्रिया के परकाल[2] तथा पूर्वकाल में तुमुन् और क्त्वा प्रत्यय गुणीभूत क्रिया को लेकर भी प्रवृत्त हो जाते हैं वैसे कृत्वसुच् आदि प्रत्यय भी गौण

---

[1] **'क्रियावाचकोपपदे'** यह वचन 'तुमुण्वुलौ—' सूत्र के लिये ही समझना चाहिये; 'समानकर्तृकयोः—' सूत्र के लिये इसकी कोई आवश्यकता नहीं। यहां वाक्यरचना कुछ अटपटी सी लगती है। कई बार भूषणकार की संक्षेपरुचि ग्रन्थ को क्लिष्ट बना देती है—इसमें यह भी एक उदाहरण समझना चाहिये ॥

[2] **'भोक्तुं पाकः'** यहां क्रियार्था क्रिया के उपपद रहते धातु से तुमुन् प्रत्यय विधान किया गया है। क्रियार्था क्रिया है पचि, क्योंकि वह भुजिक्रिया के लिये है। तो फलतः पहले पाक होगा और बाद में भोजन; इस प्रकार भोजन क्रियाकी परकालवर्त्तिता सुतरां स्वयं सिद्ध हो जाती है ॥

क्रिया को लेकर होने लगेंगे। तब 'एकः पाकः' के स्थान पर '**एकस्य सकृच्च**' (५.४.१९) सूत्र से एक को सकृत् आदेश होकर—'सकृत् पाकः' बनने लगेगा। 'द्वौ पाकौ, त्रयः पाकाः, चत्वारः पाकाः' इनमें '**द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्**' (५.४.१८) सूत्र से सुच् प्रत्यय होकर—'द्विः पाकः, त्रिः पाकः, चतुः पाकः' ये रूप बनने लगेंगे। 'पञ्च पाकाः' यहां पर '**सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्**' (५.४.१७) सूत्र से कृत्वसुच् प्रत्यय होकर 'पञ्चकृत्वः पाकः' बनने लगेगा।

इसका समाधान करते हुए कारिकाकार कहते हैं कि कृत्वसुच्प्रकरण-स्थ प्रत्यय तो गुणीभूत क्रिया के योग में करने अभीष्ट हैं ही; तभी तो '**द्विर्वचन**' शब्द का सूत्रों तथा भाष्यादि में प्रयोग उपलब्ध होता है। द्वि वचने=द्विर्वचनम्, यहां वचन शब्द में वच्धातूपस्थाप्या क्रिया गौण है उस की अभ्यावृत्ति में भी 'द्विः' यहां सुच् प्रत्यय किया गया है। भाष्य में इसकी व्युत्पत्ति 'द्विः प्रयोगो द्विर्वचनम्' शब्दों से की गई है। 'द्विः प्रयोगः' में भी युज्धातूपस्थाप्या क्रिया गौण है उसकी अभ्यावृत्ति में भी सुच्प्रत्यय किया गया है। इन उदाहरणों से स्पष्टतया प्रतीत होता है कि गुणीभूत क्रिया को लेकर भी कृत्वोऽर्थ प्रत्यय हुआ करते हैं।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि ऐसा है तो उपर्युक्त—'सकृत् पाकः, द्विः पाकः, त्रिः पाकः, चतुः पाकः, पञ्चकृत्वः पाकः' आदि प्रयोग क्यों नहीं होते? इसका उत्तर कारिका के उत्तरार्ध में दिया गया है—'**अति-प्रसङ्गो नोद्भाव्योऽभिधानस्य समाश्रयात्**' अर्थात् उपर्युक्त रीति से गुणीभूत क्रिया के योग में सम्मत भी कृत्वोर्थ प्रत्ययों का प्रयोग सब जगह नहीं किया जाता, क्योंकि सर्वत्र उन का अभिधान नहीं। बहुत से कार्य सूत्रसम्मत होते हुए भी अभिधान न होने से नहीं होते। यथा—वच् धातु के 'वचन्ति' आदि प्रयोग बनाने में सूत्रों की तो कोई विप्रतिपत्ति (विरोध) नहीं, परन्तु अभियुक्तों ने '**न हि वचिरन्तिपरः प्रयुज्यते**' (अर्थात् अन्ति में वच् धातु का प्रयोग नहीं किया जाता)—ऐसा कहा है, फलतः 'वचन्ति' आदि प्रयोग नहीं बनते। इसी प्रकार यहां गुणीभूतक्रिया के साथ कृत्वोऽर्थप्रत्ययों के करने में सूत्रकार को तो कोई आपत्ति नहीं परन्तु लोक में उनका ऐसा अभिधान देखा नहीं जाता; अतः उन का क्वाचित्क प्रयोग ("द्विर्वचनम्, द्विःप्रयोगः")[1]

---

[1] '**द्विर्वचन**' शब्द अष्टाध्यायी में दो स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है—**द्विर्वचनेऽचि** (१.१.५८), **न पदान्तद्विर्वचन**—(१.१.५७)। कात्यायन ने दो दरजन से भी

ही हुआ करता है सर्वत्र नहीं [1]॥

भूषणसारः—

केचित्तु 'क्रियाभ्यावृत्तिगणने' (५.४.१७) इत्यत्र क्रियाग्रहणं व्यर्थम् । तस्या एवाभ्यावृत्तिसम्भवेन सामर्थ्यात् तल्लाभात्। तथा च साध्यमात्रस्वभावक्रियालाभाय तदिति वाच्यम् । न च 'पाकः' इत्यादौ तादृशीति नातिप्रसङ्गः । 'द्विर्वचनमिति च—द्विःप्रयोगो द्विर्वचनम्' इति व्युत्पत्त्या 'द्विर्वचनेऽचि' (१.१.५८) इति ज्ञापकं वाऽऽश्रित्योपपादनीयम् इत्याहुः ॥२०॥

अधिक बार इस शब्द का अपनी वार्तिकों में प्रयोग किया है। कात्यायन ने '**द्विर्भूत**' शब्द का भी दो बार प्रयोग किया है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में **द्विर्वचन, द्विर्वचननिमित्त, द्विर्वचनप्रकरण, द्विर्वचनप्रतिषेध, द्विर्वचनविधि, द्विर्वचनसम्बन्ध, द्विर्वचनसामर्थ्य, द्विर्वचनादि, द्विर्वचनाधिक, द्विर्वचनासिद्धि** आदि शब्दों में द्विर्वचन शब्द का सैंकड़ों बार प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त पतञ्जलि ने '**द्विर्बद्ध, द्विर्भूत, द्विर्ग्रहण**' शब्दों का भी प्रयोग किया है॥

[1] व्याकरणशास्त्र लोक में प्रयुक्त शब्दों का अन्वाख्यान करने के लिये ही प्रवृत्त हुआ है न कि नये प्रयोग घड़ने के लिये; अत एव जहां अभिधान नहीं होता वहां सूत्रसम्मत कार्य भी नहीं होते। अत एव महाभाष्य के पस्पशाह्निक में कहा गया है—

"**न हि शब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह—कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्य इति । तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान् प्रयुञ्जते**"।

इसीलिये तो 'आदित्यं पश्यति, हिमवन्तं शृणोति, ग्रामं गच्छति' इत्यादि अर्थों में '**कर्मण्यण्**' (३.२.१) सूत्र द्वारा अण् प्रत्यय हो कर—'आदित्यदर्शः, हिमवच्छ्रावः, ग्रामगामः' इत्यादि प्रयोग नहीं होते। नैषधकार ने इसी बात को लेकर व्याकरण पर चुभती हुई चुटकी ली है—

"**भङ्क्तुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पं पदप्रयोगाध्वनि लोक एषः ।**
शशो यदस्यास्ति शशी ततोऽयमेवं मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्तः ॥
(नैषध० २२.८४)

अन्य लोग इस शङ्का का दूसरे ढंग से समाधान करते हैं। उन का कथन है कि **'सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्'** (५.४.१७) सूत्र में 'क्रिया' के ग्रहण की आवश्यकता ही क्या थी ? क्योंकि अभ्यावृत्ति तो हमेशा क्रिया की ही हुआ करती है, द्रव्यादि पदार्थों की नहीं। अतः सूत्र में 'क्रिया' का ग्रहण ही इस बात का ज्ञापक है कि यहां गुणीभूत क्रिया के योग में कृत्वसुच् आदि प्रत्यय नहीं होते प्रत्युत साध्यावस्थापन्नमात्र क्रिया से ही वे अभीष्ट हैं। यथा—पञ्चकृत्वः पचति, द्विः पठति, त्रिः करोति, चतुर् लिखति इत्यादि। अतः 'सकृत् पाकः, द्विः पाकः' आदि प्रयोग नहीं बनेंगे, क्योंकि वहां धातूपस्थाप्या क्रिया गौण हो जाने से केवल साध्यावस्थापन्नमात्र नहीं रही अपितु उसने विशेषणता को भी स्वीकार किया हुआ है। **'द्विर्वचनम्'** और **'द्विः प्रयोगः'** आदि स्थलों पर सूत्रकार, वार्त्तिककार तथा भाष्यकार के प्रयोगसामर्थ्य से ही सुच्प्रत्यय मान लिया जायेगा अन्यत्र विधानाभाव ही रहेगा ॥२०॥

भूषणसारः—

ननु सिद्धान्ते बोधकतारूपा शक्तिराख्यातशक्तिग्रहवतां[1] बोधाद् आवश्यकीति धातोरेव भावना वाच्या नाऽऽख्यातस्येति कथं निर्णय इत्याशङ्कां समाधत्ते—

व्याकरणसिद्धान्तानुसार शब्दशक्ति को बोधकतारूपा माना गया है अर्थात् शब्दों का अपने अपने अर्थों को बोध कराना ही शक्ति है[2]। 'पचति' आदि में भावना का बोध होता है, अतः उनमें बोधकतारूपा शक्ति विद्यमान है यह तो ठीक है। परन्तु आख्यात (तिङ्) में शक्ति मानने वाले मीमांसकों को 'पचति' आदि में स्थित आख्यात (तिङ्) से ही भावना का बोध होता है धातु से नहीं—जो स्पष्टतः वैयाकरणों के मत से विपरीत है, क्योंकि वे

---

[1] आख्याते=तिबादिप्रत्यये शक्तिः=भावनारूपार्थनिरूपिता शक्तिः, तस्या ग्रहो ज्ञानं तद्वतां मीमांसकानामित्यर्थः ॥

[2] इसका विवेचन शक्तिनिर्णय में—"**इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा। अनादिरर्थैः शब्दानां संबन्धो योग्यता तथा**"। इस कारिका (३७) पर किया गया है—विशेषजिज्ञासु इसे वहीं देखें ॥

धातु से ही भावना का बोध मानते हैं आख्यात से नहीं। इस प्रकार भावना धातुवाच्या है या तिङ्वाच्या—इसका निर्णय कैसे हो ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अग्रिम-कारिका प्रवृत्त होती है—

कारिका—

भेद्यभेदकसम्बन्धोपाधिभेदनिबन्धनम् ।
साधुत्वं तदभावेऽपि बोधो नेह निवार्यते ॥२१॥[1]

शब्दों के साधुत्व का कारण व्याकरणशास्त्रप्रतिपादित विशेष्यविशेषणभाव-सम्बन्धरूप उपाधिभेद ही हुआ करता है। साधुत्व न होने पर भी शब्दों से बोध न हो—ऐसी कोई रुकावट नहीं, अर्थात् असाधु शब्दों से भी बोध हो सकता है ॥

भूषणसारः—

भेद्यं विशेष्यम् ; भेदकं विशेषणम् । तयोर्यः सम्बन्धस्तस्य यो भेदस्तन्निबन्धनं साधुत्वम् । अयमर्थः—व्याकरणस्मृतिः शब्दसाधुत्वपरा, तत्रैव अवच्छेदकतया कल्प्यमानधर्मस्य शक्तित्वं वदतां मीमांसकानां पुनः शक्तत्वं साधुत्वम् इत्येकमेवेति तद्रीत्या विचारे साधुत्वनिर्णये शक्तिनिर्णय उच्यते ॥

'भेद्य' का अर्थ है—विशेष्य; 'भेदक' का अर्थ है—विशेषण। विशेष्य-विशेषण के सम्बन्धों के भेद ही शब्दों के साधुत्व में कारण होते हैं। तात्पर्य यह है कि व्याकरणशास्त्र, जो शब्दों का साधुत्व बताने वाला शास्त्र है[2], विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्धभेद को लेकर ही शब्दों का साधुत्व प्रतिपादन करता है। वह जिस जिस प्रकार के विशेषणों वाले विशेष्य में जिस जिस प्रकार की आनुपूर्वी को सूत्र वार्त्तिक व महाभाष्य द्वारा स्वीकृत करता है

---

[1] यह कारिका वर्त्तमानमुद्रित वाक्यपदीयमें उपलब्ध नहीं परन्तु नागेशभट्ट इसे भर्तृहरि की मानते हैं (देखें—लघुमञ्जूषा, चौखम्बासंस्करण, ७४६,७६६) ॥

[2] जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—
"साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः"। (१.१४२)

उस उस में वैसे वैसे का साधुत्व समझना चाहिये। यथा—व्याकरणानुसार 'अश्व' शब्द घोड़े का ही वाचक है निर्धन का नहीं, अतः 'अश्व' शब्द का साधुत्व घोड़े अर्थ में ही समझना चाहिये। एवं व्याकरणानुसार 'अस्व' शब्द निर्धन का ही वाचक है घोड़े का नहीं, अतः 'अस्व' शब्द का साधुत्व निर्धन अर्थ में ही समझना चाहिये।

इस प्रकार व्याकरणस्मृति (व्याकरणशास्त्र) शब्दों का साधुत्व बताती है। साधु शब्दों में ही मीमांसकों ने अर्थाविबोधजनक असाधारणधर्म को शक्ति माना है। इस प्रकार उन के मत में शक्तत्व (शक्तिसम्पन्नत्व) और साधुत्व एक ही होंगे। तब शब्दों के साधुत्वनिर्णय में ही शक्ति का निर्णय भी हो जायेगा; अर्थात् जब शब्दों के साधुत्व का निर्णय हो जाता है तो वे जिस जिस अर्थ-भेद को लेकर साधु हुआ करते हैं वह वह अर्थ भेद उन का वाच्य होता है। व्याकरणानुसार धातु का अर्थ भावना तथा आख्यातों (तिङ्प्रत्ययों) का अर्थ कर्त्ता आदि हैं तो इस प्रकार धातु आदियों का उन उन अर्थों में ही साधुत्व होगा और उन की उन उन अर्थों में ही शक्ति होगी। अतः व्याकरणशास्त्र के विरुद्ध कथन करने पर उन का न तो साधुत्व रहेगा और न ही मीमांसकाभिमत अर्थबोधकताशक्ति। इसीलिये, किस शब्द का क्या अर्थ है? इस में व्याकरण-शास्त्र की ही बात मानी जायेगी, अत एव शक्तिग्रहों में व्याकरण का प्रमुख स्थान माना गया है—

"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः[1]॥"

भूषणसारः—

अतिरिक्तशक्तिवादेऽपि आख्यातानामसाधुता भावनायां स्यादेव। तथा च चतुर्थ्यर्थे तृतीयाप्रयोगवद् धात्वर्थभावनायाम् आख्यातप्रयोगे याज्ञे कर्मण्यसाधुशब्दप्रयोगात् "नानृतं वदेत्" इति निषेधोल्लङ्घनप्रयुक्तं प्रायश्चित्तं दर्शनान्तरीयव्युत्पत्तिमतां[2] स्यादिति॥

---

[1] इसकी विस्तृत व्याख्या पीछे पृष्ठ ३८-३९ पर की जा चुकी है वहीं देखें॥

[2] मीमांसकरीत्या भावनायाम् आख्यातस्य शक्तिरिति भ्रमवतामित्यर्थः॥

कई लोग साधुत्व और शक्तत्व को एक नहीं मानते। उनका कथन है कि असाधु शब्दों से भी अर्थबोध की उत्पत्ति होने से वे भी शक्त कहे जा सकते हैं। अतः शक्तत्व और साधुत्व दोनों भिन्न भिन्न मानने चाहियें। भूषणकार कहते हैं कि उन अतिरिक्तशक्तिवादियों के मत में भी शब्दों में रहने वाली शक्ति का नियामक व्याकरणशास्त्र ही मानना पड़ेगा। तब भी व्याकरणविरुद्ध प्रयोग असाधु होंगे। अब जब कि व्याकरणशास्त्र कह रहा है कि आख्यात के कर्ता कर्म आदि अर्थ होते हैं भावना नहीं तो उनके मत में भी आख्यात को भावनावाचक मानने में असाधुत्व आ जायेगा। वह असाधुत्व यदि यज्ञकर्म में आयेगा तो **'नानृतं वदेत्'** इस क्रत्वर्थनियम के उल्लङ्घन करने से पाप लगेगा और तब उसकी शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। जैसे कोई **'अग्नये स्वाहा'** यहां 'स्वाहा' के योग में व्याकरण-सम्मत चतुर्थी विभक्ति [1] न लगाकर **'अग्निना स्वाहा'** इस प्रकार तृतीया लगाकर प्रयोग करे तो प्रायश्चित्त का भागी होता है, इसी प्रकार यज्ञगत पुरुष यदि आख्यातों का व्याकरणविरुद्ध भावना अर्थ मान कर यज्ञ में प्रयोग करेगा तो असाधुत्वदोष के कारण यज्ञ में अनृत के प्रयुक्त होने से **'नानृतं वदेत्'** इस क्रत्वर्थक वाक्य का उल्लंघन करने से प्रायश्चित्त का भागी होगा। अतः शब्दों के वही अर्थ मानने चाहियें जो व्याकरणसम्मत हों अन्यथा दोष लगेगा—यह सिद्ध हुआ॥

भूषणसारः—

ननु त्वन्मते[2] नाऽनृतमिति निषेधः क्रत्वर्थ एव न सिध्येत्। आख्यातेन कर्तुरुक्तत्वाच्छ्रुत्या पुरुषार्थतैव स्यात्। प्रकरणाद् हि क्रत्वर्थता, तच्च श्रुतिविरोधे बाध्यत इति चेन्न। 'तिङर्थस्तु विशेषणम्' (कारिका २) इत्यनेन परिहृतत्वात्। न हि गुणभूतः कर्ता निषेधं स्वाङ्गत्वेन ग्रहीतुमलम्। भावना तु प्रधानं तं ग्रहीतुं समर्थेति प्रकरणात् क्रत्वर्थतैव। अस्तु वा क्रतुयुक्तपुरुषधर्मः, अनुष्ठाने विशेषाऽभावात्। 'जञ्जभ्यमानोऽनुब्रूयान्मयि दक्षक्रतू' इति वाक्योक्तमन्त्रविधिवद् इत्यादि भूषणे प्रपञ्चितम्॥

---

[1] 'नमःस्वस्ति-स्वाहा-स्वधाऽलं-वषड्योगाच्च' (२.३.१६)॥

[2] त्वन्मते=वैयाकरणमते॥

प्रश्न—आप के मत में (वैयाकरणमत में) यदि आख्यात का कर्त्ता कर्म आदि अर्थ होता है भावना नहीं, तो इस प्रकार **'नानृतं वदेत्'** (अनृत न बोले) यहां 'वदेत्' में 'तिप्' यह आख्यात कर्ता का ही वाचक होगा। तब **'नानृतं वदेत्'** इस वचन की क्रत्वर्थता न हो कर पुरुषार्थता ही होगी। अर्थात् यह वचन यज्ञ के लिये न होकर पुरुष के लिये होगा क्योंकि आख्यात से कर्ता ही उक्त हुआ है। प्रायश्चित्त तो क्रत्वर्थक वचन के उल्लङ्घन करने पर ही विधान किया जाता है न कि पुरुषार्थवचन के। यदि कहो कि **'नानृतं वदेत्'** यह वचन दर्शपूर्णमासयज्ञ के प्रकरण में पढ़ा गया है अतः प्रकरण से इसमें क्रत्वर्थता आ जायेगी तो यह उचित नहीं, क्योंकि जब श्रुति स्वयं इस का पुरुषार्थत्व बतला रही है तो प्रकरणतः प्राप्त क्रत्वर्थता का बाध हो जायेगा। श्रुति का प्रमाण मीमांसाशास्त्र में सब से अधिक बलवान् माना गया है[1]।

उत्तर—आपका कथन ठीक नहीं, क्योंकि हम आख्यात का कर्ता आदि अर्थ मानते हुए भी उसे भावना के प्रति विशेषण मानते हैं। **'भावप्रधानम् आख्यातम्'** (निरुक्त) इस वचन के अनुसार हम तिङन्तस्थलों में भावना को ही प्रधान मानते हैं–कर्ता आदि को उस भावना का विशेषण। इसी बात को द्वितीय कारिका के चतुर्थपाद में **'तिङर्थस्तु विशेषणम्'** के द्वारा कहा जा चुका है। इस प्रकार कर्ता के गौण होने से **'नानृतं वदेत्'** यह निषेध कर्ता का अङ्ग नहीं बन सकता[2] अपितु भावना का ही अङ्ग बनता है, अतः इस निषेध में पुरुषार्थता नहीं रहती। पुनः प्रकरण के कारण इसमें क्रत्वर्थता आ जाती है। इस प्रकार इस निषेध को क्रत्वर्थ मानने में कोई अड़चन उपस्थित नहीं होती।

---

[1] देखो मीमांसादर्शन ३.३.१४—

"श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात्" [श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या (यौगिक-शब्द) इन में किन्हीं दो प्रमाणों के एक स्थल पर इकट्ठे प्राप्त होने पर पूर्व प्रमाण प्रबल तथा उत्तर प्रमाण निर्बल जानना चाहिये क्योंकि पूर्व की अपेक्षा उत्तर द्वारा विलम्ब से अर्थ भासित होता है]॥

[2] इसे **'गुणानाञ्च परार्थत्वाद् असम्बन्धः समत्वात् स्यात्'** इस जैमिनीयसूत्र की व्याख्या करते हुए सतरहवीं कारिका में स्पष्ट कर चुके हैं॥

अथवा[1]—क्रत्वर्थता और पुरुषार्थता में कोई विरोध नहीं, क्योंकि पुरुषों के योग से ही क्रतु सम्पन्न होता है। श्रुति की बलवत्ता वहां देखी जाती है जहां विरोध हो। यहां क्रतुयुक्त पुरुष का धर्म मान लेने से **'नानृतं वदेत्'** इस वचन की क्रत्वर्थता और पुरुषार्थता दोनों समन्वित हो सकती हैं। यदि कहो कि क्रतु से तो यजमान ही युक्त रहता है अतः ऋत्विक् आदि द्वारा अनृतवदन में दोषाभाव प्रसक्त होगा जो अनिष्ट है—तो यह ठीक नहीं, क्योंकि हमने उस निषेध को क्रतुयुक्तपुरुष का धर्म माना है। क्रतु से यजमान और ऋत्विक् दोनों का योग रहता है—दोनों ही उस का अनुष्ठान करते हैं, अतः सामान्यतया दोनों का ग्रहण होने से यह निषेध दोनों से ही सम्बद्ध रहेगा—कोई दोष नहीं आयेगा।

अब—क्रत्वर्थता और पुरुषार्थता का परस्पर कोई विरोध नहीं बल्कि दोनों का एकत्र समन्वय हो जाया करता है—इस बात को मीमांसा-शास्त्र के अपने उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए भूषणकार कहते हैं कि—**मीमांसादर्शन** के ३.४.२० पर **जञ्जभ्यमानाधिकरण** में इसी प्रकार का समन्वय प्रदर्शित किया गया है। दर्शपूर्णमासप्रकरण में **"तस्माज्जञ्जभ्य-मानोऽनुब्रूयाद्[2] 'मयि दक्षक्रतू' इति"** यह वचन आया है। इसका अभिप्राय यह है कि यज्ञगतपुरुष यदि जम्भाई ले तो उसे इस त्रुटि के शान्त्यर्थ **'मयि दक्षक्रतू'** इस मन्त्र का पाठ करना चाहिये। यहां यह वचन यज्ञ में पठित होने से प्रकरणानुसार क्रत्वर्थक है। परन्तु **'जञ्जभ्यमान'** यहां लट्-स्थानीय शानच् के कर्ता में विहित होने के कारण यह वचन पुरुषार्थक ठहरता है। यहां सिद्धान्तपक्षानुसार क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ में अविरोध दर्शाते हुए इस वचन की क्रतुयुक्तपुरुषार्थता सिद्ध की गई है अर्थात् यह वचन यज्ञ-

---

[1] 'अथवा' कह कर उपर्युक्त समाधान से असन्तोष प्रकट किया गया है। इस का कारण यह है कि यदि तिङर्थ कर्त्ता अप्रधान रहे तो **'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'** इत्यादि वचनों की भी पुरुषार्थता न रहेगी—जो अनिष्ट है॥

[2] जञ्जभ्यमान इत्यत्र जभ्धातोर्भावगर्हायां यङ्, ततः कर्तरि शानच्। **'जभी जृभि गात्रविनामे'** इति पाणिनिस्मृतेर्गात्रविनामेन विदारितमुख इति तदर्थः॥

गत पुरुष से सम्बन्ध रखता है—ऐसा निश्चय किया गया है [1]। ठीक इसी प्रकार 'नाऽनृतं वदेत्' में भी क्रत्वर्थता और पुरुषार्थता दोनों का समन्वय कर इसे क्रतुयुक्तपुरुषार्थ मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। यह विषय विस्तार से बृहद्वैयाकरणभूषण में प्रतिपादित किया गया है अतः विशेष-जिज्ञासुओं को इसे वहीं देखना चाहिये॥

भूषणसारः—

नन्वाख्यातस्य भावनायामसाधुत्वे ततस्तद्बोधो न स्यात्, साधुत्वज्ञानस्य शाब्दबोधे हेतुत्वाद् इत्यत आह—बोध इति। असाधुत्वेऽपि साधुत्वभ्रमाद् बोधोऽस्तु नाम, अपभ्रंशवत्। असाधुत्वं तु स्यादेवेति भावः। वस्तुतः साधुत्वज्ञानं न हेतुः, तद्व्यतिरेकनिर्णयोऽपि[2] न प्रतिबन्धक इति 'असाधुरनुमानेन' (कारिका ३८) इत्यत्र वक्ष्यामः॥२१॥

यदि आख्यात का भावना अर्थ न होता तो मीमांसकों को उस से भावना अर्थ का बोध कदापि न होता, परन्तु उन को वैसा बोध होता ही है। दूसरी बात यह है कि साधुशब्दों का ज्ञान ही शाब्दबोध कराया करता

---

[1] जैसा कि माधवप्रणीत **जैमिनीयन्यायमालाविस्तर** में यहां कहा गया है—

"जञ्जभ्यमानमन्त्रोक्तिः पुंसो धर्मः क्रतोरुत।
वाक्यादाद्यः प्रक्रियया द्वितीयोऽस्त्वविरुद्धया॥"

इसीलिये भट्टपादों ने भी ऐसा ही प्रतिपादन किया है—

"स्त्र्युपाय-मांसभक्षादि पुरुषार्थत्वमपि श्रितः।
प्रतिषेधः क्रतोरङ्गमिष्टः प्रकरणाश्रयात्"॥

(स्त्र्युपायः=स्त्र्युपगमनम्। प्रतिषेधः—'न स्त्रियमुपेयात्', 'न मांसमश्नीयात्', 'नानृतं वदेत्' इति।) 'भक्षादि' इति नपुंसकद्वितीयान्तम्। 'स्त्र्युपायमांसभक्षादीन् विषयीकृत्य यः प्रतिषेध उक्तः, स पुरुषार्थं श्रितोऽपि प्रकरणाश्रयात् क्रतोरङ्गमिष्ट इति तदर्थः॥

[2] साधुत्वस्य व्यतिरेकोऽभावः, तन्निर्णयोऽपीत्यर्थः॥

है असाधुशब्दों का ज्ञान नहीं, अतः इन से प्रतीत होता है कि आख्यातों का भावना अर्थ में साधुत्व है तभी तो उन से मीमांसकों को शाब्दबोध होता है—इस आशङ्का की निवृत्ति कराने की लिये कारिका का उत्तरार्ध प्रस्तुत किया है। '**तदभावेऽपि बोधो नेह निवार्यते**'। असाधु शब्दों को भी साधु-शब्द समझकर बोध हुआ ही करता है। यथा—अपभ्रंश आदि भाषाओं में हुआ करता है। परन्तु इससे असाधु शब्द साधु नहीं हो जाते। अतः बोधमात्र को लेकर किसी शब्दके साधुत्व असाधुत्वका निर्णय नहीं किया जा सकता। शाब्दबोध में साधुत्वज्ञान कारण नहीं क्योंकि शब्दों की साधुत्वहीनता शाब्द-बोध में प्रतिबन्धक नहीं हुआ करती–इस विषयका विस्तार'**असाधुरनुमानेन**' (कारिका ३८) इस कारिका की व्याख्या में आगे करेंगे, विशेषजिज्ञासु इसे वहीं देखें ॥२१॥

भूषणसारः—

रङ्गोजिभट्टपुत्रेण कौण्डभट्टेन निर्मिते।
पूर्णो भूषणसारेऽस्मिन् धात्वाख्यातार्थनिर्णयः ॥

इति कौण्डभट्टविरचिते वैयाकरणभूषणसारे धात्वर्थाख्यात-सामान्यार्थनिर्णयः समाप्तः ॥

रङ्गोजिभट्ट के पुत्र कौण्डभट्ट द्वारा निर्मित भूषणसार नामक इस ग्रन्थ में 'धात्वाख्यातार्थ' नामक प्रकरण समाप्त हुआ।

भूषणसार के लेखक श्रीकौण्डभट्ट, रङ्गोजिभट्ट के पुत्र थे और रङ्गोजिभट्ट, प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित के कनिष्ठ भ्राता थे—यह सब पीछे भूमिका आदि में सविस्तर प्रतिपादन कर चुके हैं अतः यहां पुनः उस का पिष्टपेषण व्यर्थ है॥

इति भूतपूर्वाऽखण्डभारताऽन्तर्गत-सिन्धुतटवर्त्ति-डेराइस्माईल-
खानाख्यनगरवास्तव्यभाटियावंशावतंस-स्वर्गत- श्रीमद्-
रामचन्द्रवर्म-सूनुना, एम०ए० साहित्यरत्नेत्याद्य-
नेकोपाधिभृता वैद्य - **भीमसेन - शास्त्रिणा**
विरचिते वैयाकरण - भूषण-सारस्य
भैमी — भाष्ये धात्वर्थनिर्णयः
पूर्त्तिमगात् ॥



व्याख्यानं लघुकौमुद्या यद्वद् अत्यादृतं भुवि ।
तथेदमपि व्याख्यानं चकास्तु बुधसंसदि ॥१॥

अज्ञानतिमिरान्धोऽहं छात्रसेवासमुत्सुकः ।
गुरूणां प्राप्य सान्निध्यं प्राप्तवांस्तिमिराञ्जनम् ॥२॥

तिमिरेऽपगते तेन कुतो बाधा कुतो भयम् ।
गच्छतो हि निरालम्बे किञ्चिदालम्बनं महत् ॥३॥

भूत-पक्ष-ख-नेत्राब्दे वैक्रमे शुभवत्सरे ।
प्रणीतेयं कृतिः सद्यश्छात्रस्वान्तहरा परा ॥४॥

(२०२५ वैक्रमाब्द, सन् १९६९)



परिशिष्ट (१)

[वैयाकरण-सिद्धान्त-कारिका के पद्यार्धों की वर्णाऽनुक्रमसूची]

परिशिष्ट (२)

[विशिष्ट स्थलों न्यायों परिभाषाओं और वचनों की वर्णानुक्रमणिका]

परिशिष्ट (३)

[धात्वर्थप्रकरण तक कौण्डभट्ट द्वारा स्मृत ग्रन्थों, व्यक्तियों, नामों व मतों की सूची]

परिशिष्ट (४)

[भूषणसार तथा भैमीभाष्यमें पठित कारिकातिरिक्त पद्यों व पद्यांशोंकी सूची]

परिशिष्ट (५)

[यहां उन प्रधानस्थलों का निर्देश किया गया है जहां भैमीभाष्य में मूल की आलोचना की गई है। इस के अतिरिक्त भी अन्य अनेक स्थल हैं जो पाठकों को स्वयं देखने चाहियें ॥]

परिशिष्ट (६)

[भैमीभाष्य के निर्माण में यद्यपि शतशः ग्रन्थों की सहायता ली गई है तथापि प्रधानतया निम्न ग्रन्थों का साहाय्य उल्लेखनीय है।]

(१) अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ (गुरुकुल वृन्दावन संस्करण)।
(२) महाभाष्य प्रदीपोद्योतसहित (निर्णयसागर तथा श्रीगुरुप्रसाद-शास्त्रि-सम्पादित संस्करण)
(३) वाक्यपदीय (श्री पं० चारुदेवजीशास्त्रिसम्पादित लाहौर संस्करण)
(४) ,, (मूल, पूना)
(५) माधवीया धातुवृत्ति (चौखम्बा संस्करण)
(६) काशिकावृत्ति (बालशास्त्रिसम्पादिता)
(७) न्यासः (श्रीजिनेन्द्रबुद्धिकृत, राजशाही संस्करण)
(८) पदमञ्जरी (श्रीहरदत्तप्रणीता, काशी संस्करण)
(९) शब्द-कौस्तुभ (श्रीभट्टोजिदीक्षितकृत, चौखम्बासंस्करण)
(१०) लघुशब्देन्दु-शेखर, श्रीभैरवमिश्रकृत भैरवीटीका (चौखम्बा संस्करण)
(११) ,, (श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिसम्पादित नानाटीकोपेत संस्करण)
(१२) बृहच्छब्देन्दुशेखर (डा० सीतारामसम्पादित संस्करण)
(१३) वैयाकरण-भूषण-सार (श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिसम्पादित दर्पणकाशिकाटीका-द्वयोपेत)
(१४) वैयाकरण-भूषण-सार (दर्पण-परीक्षाटीकाद्वयोपेत चौखम्बा संस्करण)
(१५) ,, (शाङ्करीसहित, पूना)
(१६) वैयाकरणसिद्धान्तकारिका (पूना)
(१७) वैयाकरण-भूषण-सार (श्रीगोपालशास्त्रिनेने - सम्पादित सटिप्पण चौखम्बा संस्करण)
(११) सिद्धान्त कौमुदी (टीकात्रयोपेत, श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिसम्पादित संस्करण)
(१९) ,, मूल (चौखम्बा संस्करण)
(२०) प्रौढ-मनोरमा शब्दरत्न तथा बृहच्छब्दरत्न सहिता (डा० सीतारामशास्त्रि-सम्पादित काशी)
(२१) प्रौढ-मनोरमा शब्दरत्न सम्पूर्ण (चौखम्बा)
(२२) तिङर्थवादसारः (श्रीखुद्दीशर्मझाप्रणीतः, चौखम्बा संस्करण)
(२३) भूषणसारव्याख्या (श्रीदुर्बलाचार्यापरनामकृष्णमित्रकृता, चौखम्बा बनारस)

(२४) लघुमञ्जूषा (चौखम्बा, काशी)
(२५) परमलघुमञ्जूषा (श्रीकालिकाप्रसादशुक्लकृतज्योत्स्नाटीका, बड़ौदा यूनिवर्सिटी)
(२६) परिभाषेन्दुशेखरः (गदासहितः, पूना)
(२७) सर्व-दर्शन-संग्रहः (भाण्डारकर संस्करण)
(२८) न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (नृसिंहदेवशास्त्रिव्याख्या, लाहौर)
(२९) वैशेषिकदर्शन (उपस्कारसहित, चौखम्बा काशी)
(३०) मीमांसादर्शन सभाष्य (छः भाग, आनन्दाश्रम पूना)
(३१) वाचस्पत्यम् (तारानाथतर्कवाचस्पतिसम्पादित कलकत्ता)
(३२) शब्द-कल्प-द्रुमः (कोषः)
(३३) अमरकोषः (क्षीरस्वामिकृतटीका)
(३४) ,, (भानुजिदीक्षितकृतटीका, निर्णयसागर बम्बई)
(३५) व्याकरणशास्त्र का इतिहास दोनों भाग (पं०युधिष्ठिरमीमांसककृत)
(३६) पाणिनिकालीन भारतवर्ष (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल)
(३७) पतञ्जलिकालीन भारत (डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री)
(३८) जैमिनीयन्यायमाला (माधवाचार्यप्रणीता, आनन्दाश्रम पूना)
(३९) नैषधम् (नारायणीटीका, निर्णयसागर बम्बई)
(४०) कालिदास-ग्रन्थावली (बनारस)
(४१) किरातार्जुनीयम् (मल्लिनाथकृतटीका, चौखम्बा काशी)
(४२) भूषण-सार-प्रकाशः (श्रीशुकदेव झा मैथिल, वाराणसी)
(४३) भूषण-सार-चन्द्रिका (हरिशङ्करशर्मा)
(४४) न्यायकोषः (भीमाचार्यप्रणीत, भाण्डारकर० पूना)
(४५) व्युत्पत्तिवादः, (जयासहितः; इलाहाबाद)
(४६) शब्दाऽपशब्दविवेक (श्री पं० चारुदेवजी शास्त्री)
(४७) निरुक्त दुर्गवृत्ति (बम्बई, कलकत्ता, पूना)
(४८) ,, (स्कन्दभाष्य लाहौर संस्करण)
(४९) ,, (डा० लक्ष्मणस्वरूप)
(५०) लौकिकन्यायाञ्जलि (तीन भाग, Colonel G. A. Jacob)
(५१) भुवनेश-लौकिक-न्यायसाहस्री (ठाकुरदत्तशर्मविरचित वेंकटेश्वरप्रेस बम्बई)
(५२) काव्यप्रकाशः (प्रदीपोद्योतयुतः, आनन्दाश्रम पूना)
(५३) साहित्य-दर्पण (श्रीरामचरणतर्कवागीश, निर्णयसागर बम्बई)
(५४) लघुसिद्धान्तकौमुदी (भैमीव्याख्या)
(५५) साङ्ख्य-तत्त्व-कौमुदी (बालरामोदासीनटिप्पणीयुता)

(५६) अष्टाध्यायी-शब्द-कोष (भाण्डारकर० पूना)
(५७) महाभाष्य-शब्द-कोष (,, ,, ,,)
(५८) महाभाष्य नवाह्निक हिन्दीव्याख्या(श्री पं०चारुदेवजी शास्त्री पाणिनीय,दिल्ली)
(५९) गणरत्नमहोदधि (वर्धमानाचार्यप्रणीत, इटावासंस्करण)
(६०) व्याकरणसिद्धान्त-सुधानिधि (चौखम्बा संस्करण) इत्यादि ।।

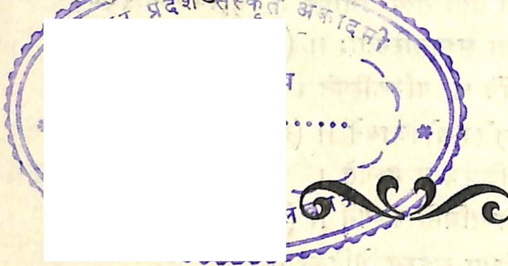
●

परिशिष्ट (७)

[भर्तृहरिविरचित वाक्यपदाय की कारिकाएं जो मूल तथा भैमीभाष्य में उद्धृत की गई हैं ।]

पृष्ठ	कारिका
(१७६)	अविग्रहा गतादिस्था यथा ग्रामादिकर्मभिः । क्रिया सम्बध्यते तद्वत् कृतपूर्व्यादिषु स्थिता ।। (वाक्यपदीय ३.१४.६७)
(२०)	असत्त्वभूतो भावश्च तिङ्पदैरभिधीयते । (अनुपलब्धम्)
(१४७)	आख्यातशब्दे भागाभ्यां साध्यसाधनवर्त्तिता । प्रकल्पिता यथा शास्त्रे स घञादिष्वपि क्रमः ।। (वाक्य० ३.८.४७)
(१४२)	आत्मानमात्मना बिभ्रदस्तीति व्यपदिश्यते । अन्तर्भावाच्च तेनासौ कर्मणा न सकर्मकः ।। (वाक्य० ३.३.४७)
(३२)	उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः । असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ।। (वाक्य० २.२३८)
(३२)	उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः ।। (अनुपलब्धम्)
(१४६)	एकस्य बुद्ध्यवस्थाभिर्भेदे च परिकल्पिते । कर्मत्वं करणत्वं च कर्तृत्वञ्चोपजायते ।। (वाक्य० ३.७.१०४)
(९४)	क्रियागतविशेषाणां सिद्धिर्यत्र न गम्यते । दर्शनादनुमानाद्वा तत्प्राप्यमिति कथ्यते ।। (वाक्य० ३.७.५१)
(१३९)	क्रियाभेदाय कालस्तु संख्या सर्वस्य भेदिका ।।
(२३)	गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् । बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ।। (वाक्य० ३.८.४)

पृष्ठ	कारिका
(१४४)	धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात् । प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ।। (वाक्य० ३.७.८८)
(८३)	निष्पत्तिमात्रे कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके । व्यापारभेदापेक्षायां करणादित्वसम्भवः ।। (वाक्य० ३.७.१८)
(१६०)	बहुष्वपि तिङन्तेषु साकाङ्क्षेष्वेकवाक्यता । तिङन्तेभ्यो निघातस्य प्रतिषेधस्तथार्थवान् ।। (वाक्य० २.४४४)
(१८५)	भेद्यभेदकसम्बन्धोपाधिभेदनिबन्धनम् । साधुत्वं तदभावेऽपि बोधो नेह निवार्यते ।। (अनुपलब्धम्)
(१६)	यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते । आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते (वाक्य० ३.८.१)
(३३)	यस्मिंस्तूच्चारिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते । तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम् ।। (वाक्य० २.३२६)
(२२)	सत्त्वस्वभावमापन्ना व्यक्तिर्नामभिरुच्यते । असत्त्वभूतो भावश्च तिङ्पदैरभिधीयते ।। (अनुपलब्धम्)
(१७९)	समुदायेन सम्बन्धो येषां गुरुकुलादिना । संस्पृश्यावयवांस्ते तु युज्यन्ते तद्वता सह ।। (वाक्य० ३.१४.४८)
(१७८)	सम्बन्धिशब्दः सापेक्षो नित्यं सर्वः समस्यते । वाक्यवत् सा व्यपेक्षा हि वृत्तावपि न हीयते ।। (वाक्य० ३.१४.४७)
(१५८)	सम्बोधनपदं यच्च तत्क्रियाया विशेषणम् । व्रजानि देवदत्तेति निघातोऽत्र तथा सति ।। (वाक्य० २.५)
(१५४)	साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना । सिद्धभावस्तु यस्तस्याः स घञादिनिबन्धनः ।। (वाक्य० ३.८.४८)



विद्या की कामना करने वालों को

भर्तृहरि का उपदेश

"अनुपासितवृद्धानां विद्या नाऽतिप्रसीदति"

(वाक्यपदीय काण्ड २, श्लोक ४८७)

जब तक ज्ञानवृद्धों की उपासना नहीं की जाती तब तक विद्या स्वच्छ व विस्तीर्ण नहीं होती ।।

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

(वैद्य भीमसेनशास्त्रिकृत--भैमीव्याख्यासहिता)

लेखक के दीर्घकालिक व्याकरणाध्यापन का यह निचोड़ है। कौमुदी पर इस प्रकार की विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषणात्मिक व्याख्या आज तक नहीं निकली। इस व्याख्या में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्ति, समास, अनुवृत्ति, पदार्थ, उदाहरण, विस्तृतसिद्धि देते हुए छात्रों और अध्यापकों के मध्य आने वाली विविध शंकाओं का पूर्णतया समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस व्याख्या की देश-विदेश के विद्वानों ने भूरि भूरि प्रशंसा की है। स्थान स्थान पर विद्यार्थियों के लिये अभ्यास दिये गये हैं। इस व्याख्या की रूपमालाओं में अनुवादोपयोगी लगभग दो हज़ार शब्दों का सार्थ बृहत्सङ्ग्रह है। इस व्याख्या की सबसे बड़ी विशेषता अव्ययप्रकरण है। प्रत्येक अव्यय का विस्तृत विवेचन करके उस के लिये विशाल संस्कृत वाङ्मय से कोई न कोई सूक्ति सङ्गृहीत की गई है। अकेला अव्ययप्रकरण ही लगभग ५०-६० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। आज तक अव्ययप्रकरण पर इस प्रकार का वैज्ञानिक कार्य नहीं हुआ। इस ग्रन्थ में किसी भी शब्द की रूपमाला को तद्वत् नहीं लिखा गया प्रत्युत प्रत्येक शब्द व धातु की पूरी पूरी सार्थ रूपमाला दी गई है। सन्धिप्रकरण में शतशः अभूतपूर्व नये उदाहरण विद्यार्थियों के अभ्यास के लिये सङ्गृहीत किये गये हैं। इस प्रकार का यत्न व्याकरण के किसी भी ग्रंथ पर आज तक नहीं किया गया। यह व्याख्या छात्रों के लिये ही नहीं अपि तु अध्यापकों और अनुसन्धानप्रेमियों के लिये भी अतीव उपयोगी है। ७०० पृष्ठों में इस व्याख्या का पूर्वार्ध समाप्त हुआ है। पूर्वार्ध का लागत से भी कम मूल्य रखा गया है। २०×२६÷८ साईज के बृहदाकार सात सौ पृष्ठों के पूर्वार्ध का मूल्य केवल आठ रु० है।

इस ग्रन्थ का उत्तरार्ध भाग शीघ्र प्रकाशित होने जा रहा है। इसमें धातुप्रकरण का विस्तृत विवेचन है। अकेले भू धातु पर ही पचहत्तर से अधिक पृष्ठ लिखे गये हैं। अपनी प्रति आज ही सुरक्षित कराइये।

पता—

वैद्य भीमसेन शास्त्री, ५३७ लाजपतराय मार्केट

दीवानहाल के सामने, दिल्ली



पुस्तक-सूची

[देश-विदेश के सैंकड़ों विद्वानों द्वारा प्रशंसित संस्कृत व्याकरण के मूर्धन्य विद्वान् श्री वैद्य भीमसेन शास्त्री एम्० ए० पी० एच० डी० द्वारा लिखित उच्चकोटि के अनमोल संग्रहणीय व्याकरणग्रन्थों की सूची]

१९८०

---

१. लघुसिद्धान्तकौमुदी—भैमीव्याख्या (चार भाग)

२. वैयाकरणभूषणसार—भैमीभाष्योपेत

३. बालमनोरमाभ्रान्तिदिग्दर्शन

४. प्रत्याहारसूत्रों का निर्माता कौन ?

५. न्यास-पर्यालोचन

भैमी प्रकाशन

५३७, लाजपतराय मार्केट

दिल्ली-११० ००६

"लघु-सिद्धान्त-कौमुदी—भैमीव्याख्या"

[वैद्य भीमसेन शास्त्री एम्० ए०, पी० एच्० डी० कृत विश्लेषणात्मक भैमीनामक विस्तृत हिन्दी व्याख्या सहित] प्रथम भाग

लेखक के दीर्घकालिक व्याकरणाध्यापन का यह निचोड़ है। कौमुदी पर इस प्रकार की विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक हिन्दी व्याख्या आज तक नहीं निकली। इस व्याख्या में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्तिवचन, समास-विग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, सूत्रगत तथा अनुवर्तित प्रत्येक पद का अर्थ परिभाषाजन्य विशेषता, अर्थ की निष्पत्ति, उदाहरण प्रत्युदाहरण तथा विस्तृत सिद्धि देते हुए छात्रों और अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक शंका का पूर्णतया विस्तृत समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस हिन्दी व्याख्या की देश-विदेश के डेढ़ सौ से अधिक विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। स्थान-स्थान पर परिपठित विषय के आलोडन के लिये बड़े यत्न से पर्याप्त विस्तृत अभ्यास सङ्गृहीत किये गये हैं। इस व्याख्या की रूपमालाओं में अनुवादोपयोगी लगभग दो हज़ार शब्दों का अर्थ सहित बृहत्संग्रह प्रस्तुत करते हुए णत्वप्रक्रियोपयुक्त प्रत्येक शब्द को चिह्नित किया गया है। आज तक लघुकौमुदी की किसी भी व्याख्या में ऐसी विशेषता दृष्टि-गोचर नहीं होती। व्याख्या की सबसे बड़ी विशेषता अव्ययप्रकरण है। प्रत्येक अव्यय के अर्थ का विस्तृत विवेचन करके उसके लिए विशाल संस्कृत वाङ्मय से किसी न किसी सूक्ति व प्रसिद्ध वचन को सङ्गृहीत करने का प्रयास किया गया है। अकेला अव्यय-प्रकरण ही लगभग साठ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। एक विद्वान् समालोचक ने ग्रन्थ की समालोचना करते हुए यहां तक कहा था कि—"**यदि लेखक ने अपने जीवन में अन्य कोई प्रणयन न कर केवल अव्यय-प्रकरण ही लिखा होता तो केवल यह प्रकरण ही उसे अमर करने में सर्वथा समर्थ था।**" सन्धिप्रकरण में लगभग एक हजार अभूतपूर्व नये उदाहरण विद्यार्थियों के अभ्यास के लिए संकलित किये गये हैं—उदाहरणार्थ अकेले '**इको यणचि**' सूत्र पर ३५ नये उदाहरण दिये गये हैं। इस व्याख्या में ग्रन्थगत किसी भी शब्द की रूपमाला को **तद्वत्** नहीं लिखा गया प्रत्युत प्रत्येक शब्द एवं धातु की पूरी-पूरी सार्थ रूपमाला दी गई है। स्थान-स्थान पर समझाने के लिये नाना प्रकार के कोष्ठकों और चक्रों से यह ग्रन्थ ओत-प्रोत है। इस प्रकार का यत्न व्याकरण के किसी भी ग्रन्थ पर अद्ययावत् नहीं किया गया। यह व्याख्या छात्रों के लिए ही नहीं अपितु अध्यापकों तथा अनुसन्धान-प्रेमियों के लिए भी अतीव उपयोगी है। अन्त में अनुसन्धानोपयोगी कई परिशिष्ट दिये गये हैं। यह ग्रन्थ भारत-सरकार द्वारा सम्मानित हो चुका है। बृहदाकार २०×२६÷८ साइज के लगभग सात सौ पृष्ठों में इस व्याख्या का केवल पूर्वार्ध भाग समाप्त हुआ है। पूर्वार्ध भाग का लागत से भी कम मूल्य केवल तीस रुपया रखा गया है।

पाण्डीचरी स्थित अरविन्दयोगाश्रम का प्रमुख त्रैमासिक पत्र 'अदिति' इस व्याख्या के विषय में लिखता है—

"जहां तक हमें ज्ञात है यह आधुनिक शैली से विश्लेषणपूर्वक विषय का मर्म समझाने वाली अपने ढंग की पहली व्याख्या है। व्याख्याकार ने भाष्यशैली में आधुनिक-व्याख्याशैली का पुट देकर सर्वांग सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है। इस में मूल ग्रन्थ के एक-एक शब्द व विचार को पूरा-पूरा खोल कर पाठकों के हृदय पर अंकित कर देने का सुन्दर यत्न किया गया है। विद्वान् व्याख्याकार ने लघुसिद्धान्त-कौमुदी की भैमी-नामक सर्वांगपूर्ण व्याख्या प्रकाशित कर के राष्ट्रभाषा की महान् सेवा की है। व्याकरण में प्रवेश के इच्छुक छात्र, व्युत्पन्न विद्यार्थी, जिज्ञासु, व्याकरणप्रेमी, अध्यापक और अन्वेषक सभी के लिये यह ग्रन्थरत्न एक-सा उपयोगी सिद्ध होगा।"

हिन्दी के प्रमुख मासिक पत्र 'सरस्वती' की सम्मति—

"लघुकौमुदी पर अब तक हिन्दी में कोई विश्लेषणात्मक व्याख्या नहीं निकली है। प्रस्तुत व्याख्या की लेखनशैली, क्लिष्ट स्थलों का विस्तृत उद्घाटन तथा सूत्रों की प्राञ्जल व्याख्या प्रत्येक संस्कृतप्रेमी पाठक पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकेगी। पुस्तक न केवल विद्यार्थियों वरन् संस्कृत का अध्ययन करने वाले सभी लोगों के लिये संग्रहणीय है।"

उत्तर भारत का प्रमुख पत्र 'नवभारत टाइम्स' लिखता है कि—

"लेखक महोदय ने कई वर्षों के कठोर परिश्रम के पश्चात् यह ग्रन्थ तैयार किया है जो उपयोगी है। ग्रन्थकर्ता स्वयं विद्याव्यसनी हैं और विद्याप्रसार ही उनके जीवन की लगन है। हमें पूरी-पूरी आशा है कि आबाल-वृद्ध संस्कृत-प्रेमी इस ग्रन्थरत्न को अपनाकर परिश्रमी लेखक के इस प्रकार अन्य भी अपूर्व ग्रन्थ प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त करेंगे।"

दिल्ली का प्रमुख हिन्दी दैनिक 'हिन्दुस्तान' लिखता है—

"वैसे तो कौमुदी की अनेक हिन्दी टीकाएं निकल चुकी हैं; मगर इस व्याख्या की अपनी विशेषताएं हैं। इसमें व्याकरण शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन के आधुनिक तरीकों का सहारा लिया गया है। सूत्रार्थ और अभ्यास इसी के उदाहरण हैं। लघु-कौमुदी में आये प्रत्येक सूत्र की अर्थविधि को जानने के बाद विद्यार्थी को वृत्ति घोटने की आवश्यकता न रहेगी। वह सूत्रार्थ समझ कर स्वयमेव उसकी वृत्ति तैयार करने योग्य हो सकेगा। लघुकौमुदी के आये प्रत्येक शब्द के रूप देकर टीकाकार ने शब्द-रूपावली का पृथक् रखना व्यर्थ कर दिया है। इसी सिलसिले में करीब दो हज़ार शब्दों की अर्थसहित सूची देकर टीकाकार ने इस विशेषता को चार चाँद लगा दिये हैं। अव्यय प्रकरण इस पुस्तक की पाँचवी बड़ी विशेषता है—। यह हिन्दी टीका विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है। एक बार अध्यापक से पढ़ने के बाद वे इस टीका के सहारे बड़े आराम से पुनरावृत्ति कर सकते हैं। उन्हें ट्यूटर रखने की आवश्यकता न रहेगी।

यह टीका उनके लिए ट्यूटर का काम करेगी। आशा है कि संस्कृत व्याकरण का अध्यापन करने वाली संस्थाएं इस ग्रन्थ का हृदय से स्वागत करेंगी।'

राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृत, पदवाक्यप्रमाणज्ञ, स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु, आचार्य पाणिनि महाविद्यालय काशी की सम्मति—

"मैंने लघुसिद्धान्तकौमुदी पर श्रीभीमसेनशास्त्रिकृत भैमीव्याख्या सूक्ष्मरीत्या देखी है। काश! कि शास्त्री जी ने ऐसी व्याख्या अष्टाध्यायी पर लिखी होती। परन्तु इतना मैं निःसन्देह कह सकता हूं कि इस प्रकार विशद स्पष्ट ओर सर्वांगीण व्याख्या लघुकौमुदी पर पहली बार देखने को मिली है। इस व्याख्या में अष्टाध्यायी पद्धति का जो पदे-पदे मण्डन किया गया है उसे देख कर मुझे अपार हर्ष होता है।"

अनुसन्धानविद्यानिष्णात डॉ० वासुदेवशरण जी अग्रवाल की सम्मति—

"मैंने लघुसिद्धान्तकौमुदी पर श्रीभीमसेन शास्त्री जी की विशद भैमीव्याख्या का अवलोकन किया। यह व्याख्या मुझे बहुत पसन्द आई। ऐसा स्तुत्य परिश्रम हिन्दी भाषा के माध्यम द्वारा ही सर्वप्रथम प्रकट हुआ है। यह व्याख्या कठिन से कठिन विषय को भी अत्यन्त सरलशैली से हृदयंगम कराने में सफल हो सकी है। प्रश्न-उत्तर, शंका-समाधान, सूत्रार्थ का स्फोरण करते समय स्थान-स्थान पर परिभाषाओं का उपयोग, अविकल रूपावलियां, सार्थ शब्दसंग्रह तथा परिश्रम से जुटाए गये अभ्यास आदि इस व्याख्या की अपनी विशेषताएं हैं। अव्ययप्रकरण का निखार प्रथम बार इस में देखने को मिला है। व्याकरण के ग्रन्थों पर इस प्रकार की व्याख्याएं निःसन्देह प्रशंसनीय हैं। यदि शास्त्री जी इस प्रकार की व्याख्या सिद्धान्त-कौमुदी पर भी लिखें तो छात्रों और अध्यापकों का बहुत उपकार होगा। मैं हृदय से इस ग्रन्थ के प्रचार एवं प्रसार की कामना करता हूं।"

"लघु-सिद्धान्त-कौमुदी—भैमीव्याख्या"

(द्वितीय भाग—तिङन्तप्रकरण)

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी के इस भाग में दस गण और एकादश प्रक्रियाओं की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है। तिङन्तप्रकरण व्याकरण की पृष्ठास्थि (Backbone) समझा जाता है। क्योंकि धातुओं से ही विविध शब्दों की सृष्टि हुआ करती है। अतः इस भाग की व्याख्या में विशेष श्रम किया गया है। लगभग दो सौ ग्रन्थों के आलोडन से इस भाग की निष्पत्ति हुई है। प्रत्येक सूत्र के पदच्छेद, विभक्तिवचन, समासविग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्य वैशिष्टच, अर्थनिष्पत्ति, उदाहरण-प्रत्युदाहरण और सारसंक्षेप के अतिरिक्त प्रत्येक धातु के दसों लकारों की रूपमाला सिद्धिसहित दिखाई गई है। वैयाकरणनिकाय में सैंकड़ों वर्षों से चली आ रही अनेक भ्रान्तियों का सयुक्तिक निराकरण किया गया है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में विद्यार्थियों के प्रवेश के लिए यत्र-तत्र अनेक भाषावैज्ञानिक नोट्स भी दिये हैं। चार

सौ से अधिक सार्थ उपसर्गयोग तथा उनके लिए विशाल संस्कृतसाहित्य से चुने हुए एक सहस्र से अधिक उदाहरणों का अपूर्व संग्रह प्रस्तुत किया गया है। लगभग डेढ़ हज़ार रूपों की ससूत्र सिद्धि और एक सौ के करीब शास्त्रार्थ और शंका-समाधान इसमें दिये गए हैं। अनुवादादि के सौकर्य के लिए छात्रोपयोगी णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, भावकर्म आदि प्रक्रियाओं के अनेक शतक और संग्रह भी अर्थसहित दिए गए हैं। जैसे नानाविध लौकिक उदाहरणों से प्रक्रियाओं को इसमें समझाया गया है वैसे अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इससे प्रक्रियाओं का रहस्य विद्यार्थियों को हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। अन्त में अनुसन्धानोपयोगी छः प्रकार के परिशिष्ट दिये गए हैं। ग्रंथ का मुद्रण आधुनिक बढ़िया मैप्लीथो कागज़ पर अत्यन्त शुद्ध व सुन्दर ढंग से पांच प्रकार के टाइपों में किया गया है। सुन्दर, बढ़िया, सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है। यह ग्रन्थ भी भारत सरकार से सम्मानित हो चुका है। यह भाग २३ × ३६ ÷ १६ आकार के ७५० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। मूल्य लागत से भी कम केवल तीस रुपये।

इस भाग के विषय में **श्री पं० चारुदेव जी शास्त्री** पाणिनीय लिखते हैं—

"इतनी विस्तृत व्याख्या आज तक कभी नहीं हुई। यह अद्वितीय ग्रन्थ है। यह व्याख्या न केवल बालकों अपितु उपाध्यायों के लिए भी उपयोगी है। शब्दसिद्धि सर्वत्र स्फटिकवत् स्फुट और हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष, परिपूर्ण और असन्दिग्ध है कि इस के ग्रहण के लिए अध्यापक की अपेक्षा नहीं रहती। कौमुदीस्थ प्रत्येक धातु की अविकलरूपेण सूत्राद्युपन्यासपूर्वक सविस्तर सिद्धि दी गई है। व्याख्यांश में भी यह कृति अत्यन्त उपकारक है। स्थान-स्थान पर धात्वर्थप्रदर्शन के लिए साहित्य से उद्धरण दिये गये हैं। धातूपसर्गयोग को भी बहुत सुन्दर काव्यनाटकों से उद्धृत उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। यह इस कृति की अपूर्वता है। इस व्याख्या के प्रणयन में शास्त्री जी ने अथाह प्रयत्न किया है। महाभाष्य, न्यास, पदमञ्जरी आदि का वर्षों तक अवगाहन करके उन्होंने यह व्याख्या लिखी है—।"

इस भाग के विषय में दिल्ली का **नवभारत टाइम्स** लिखता है—

"संस्कृत व्याकरण के अध्ययन में कौमुदी ग्रन्थों का अपना स्थान है। प्रायः लघुकौमुदी से ही व्याकरण का आरम्भ किया जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ का समझना आसान नहीं है। छात्रों के लिए यह ग्रन्थ वज्र के समान कठोर है। प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रीभीमसेनशास्त्री ने इस की हिन्दी व्याख्या की है। व्याख्याकार राजधानी के सुप्रसिद्ध वैयाकरण हैं। इस व्याख्या को देखकर हम दावे के साथ कह सकते हैं कि ऐसी व्याख्या लघु तो क्या, सिद्धान्तकौमुदी की भी नहीं प्रकाशित हुई। इस व्याख्या का प्रथम भाग आज से बीस वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। तब इसका भारी स्वागत हुआ था। जनता को उस के उत्तरार्द्ध भाग की व्याख्या की तभी से उत्कट लालसा रही है। लेखक ने अब इसे प्रकाशित कर जहां छात्रों का उपकार किया है, वहां शिक्षकों, प्राध्यापकों को भी उपकृत किया है। इस में लेखक का गहन अध्ययन, कठोर परिश्रम

तथा विद्वत्ता स्थान-स्थान पर प्रकट होते ही हैं। छात्रोपयोगी किसी भी विषय का विवेचन छोड़ा नहीं गया। यह इस की बड़ी भारी विशेषता है। इस भाग में तिङन्त-प्रकरण (दशगण तथा एकादश प्रक्रियाओं) का अत्यन्त विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यह प्रकरण धातुसम्बन्धी होने से व्याकरण का प्राण है। इस में प्रत्येक धातु के दस लकारों की ससूत्र प्रक्रिया साध कर उनकी सारी रूपमाला भी दी गई है। इससे विद्यार्थियों को धातुरूपावलियों की आवश्यकता नहीं रहती। छः सौ के करीब टिप्पणियां तथा साढ़े चार सौ से अधिक उपसर्गयोग इस ग्रन्थ की अपनी अपूर्व विशेषता है। इन के लिए व्याख्याकार ने महान् श्रम कर विपुल संस्कृत-साहित्य से जो डेढ़ हजार के करीब अत्यन्त सुन्दर संस्कृत की सूक्तियों का चयन किया है। वह स्तुत्य है। सैंकड़ों उपयोगी शंका समाधान तथा णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त भावकर्म आदि अर्थ सहित कई शतक विद्यार्थियों के लिए निश्चय ही उपयोगी सिद्ध होंगे। इस ग्रन्थ की उत्कृष्टता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अकेली भूधातु पर ही विद्वान् व्याख्याकार ने ९० पृष्ठों में अपनी व्याख्या पूर्ण की है।

संक्षेप में इस व्याख्या को लघुकौमुदी का महाभाष्य कह सकते हैं। यह ग्रंथ न केवल छात्रों, परीक्षार्थियों तथा उपाध्यायों, अध्यापकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा बल्कि अनुसंधान में रुचि रखने वालों के लिए भी परमोपयोगी एवं सहायक सिद्ध होगा। इसे पढ़ने से जहां व्याकरण जैसे शुष्क विषय में सरसता पैदा होती है वहां अनुसंधान कार्य को भी बढ़ावा मिलता है। हिन्दी में ऐसे ग्रंथ स्वागत योग्य हैं।" (२९.८.७१)

"लघु-सिद्धान्त-कौमुदी—भैमीव्याख्या"

(तृतीय एवं चतुर्थ भाग—प्रेस में)

भैमीव्याख्या के अन्तिम तृतीय तथा चतुर्थ भाग शीघ्र छपने जा रहे हैं। तृतीय भाग में कृदन्त और कारक एवं चतुर्थ भाग में समास तद्धित और स्त्रीप्रत्यय का विस्तृत वैज्ञानिक तुलनात्मक विवेचन किया गया है। कृदन्तप्रकरण में तव्यत्-अनीयर् प्रत्ययान्तों, क्त्वाप्रत्ययान्तों, ल्यबन्तों और तुमुन्नन्तों की सार्थ विस्तृत तालिका देखते ही बनती है। क्त और क्तवतु प्रत्ययान्तों की तालिका भी बड़े यत्न से संगृहीत की गई है। यह भाग काव्यादि के सुन्दर उदाहरणों से यत्र तत्र ओत-प्रोत है। स्थान-स्थान पर अनुसंधानोपयोगी विशेष टिप्पण और शंका-समाधान दिये गये हैं। कारक-प्रकरण को पर्याप्त लम्बा और स्पष्ट किया गया है। इस के स्पष्टीकरणार्थ मूलातिरिक्त अन्य अनेक सूत्र भी सार्थ सोदाहरण दिये गये हैं। इस प्रकरण का बालोपयोगी शुद्धाशुद्धविवेचन विशेष उपयोगी है। समास और तद्धितप्रकरण का इतना विस्तृत व्याख्यान पहली बार इस व्याख्या में उपलब्ध हुआ है। प्रत्येक प्रकरण के अन्त में अभ्यास दिये गये हैं। स्त्रीप्रत्ययों पर छात्रोपयोगी विस्तृत तालिका इस व्याख्या की अपनी विशेषता है। ग्रन्थ के अन्त में अनुसन्धानोपयोगी नाना प्रकार के परिशिष्ट बड़े काम की वस्तु हैं।

"वैयाकरण-भूषण-सार—भैमीभाष्योपेत"
(धात्वर्थनिर्णयान्त)

वैयाकरण-भूषणसार वैयाकरणनिकाय में लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थ है। व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों के ज्ञान के लिये इस का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतएव एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री आदि व्याकरण की उच्च परीक्षाओं में यह पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत किया गया है। परन्तु इस ग्रन्थ पर हिन्दी भाषा में कोई भी सरल व्याख्या आज तक नहीं निकली—हिन्दी तो क्या अन्य भी किसी प्रांतीय व विदेशी भाषा में इसका अनुवाद तक उपलब्ध नहीं। विश्वविद्यालयों के छात्र तथा उच्च कक्षाओं में व्याकरण विषय को लेने वाले विद्यार्थी प्रायः सब इस ग्रन्थ से त्रस्त थे। परन्तु अब इस के विस्तृत आलोचनात्मक सरल हिन्दीभाष्य के प्रकाशित हो जाने से उनका भय जाता रहा। छात्रों व अध्यापकों के लिये यह ग्रन्थ समानरूपेण उपयोगी है। इस ग्रन्थ के गूढ़ आशयों को जगह-जगह वक्तव्यों व फुटनोटों में भाष्यकार ने भली भांति व्यक्त किया है। भैमीभाष्यकार व्याकरणक्षेत्र में लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं, तथा वर्षों से व्याकरण के पठनपाठन का अनुभव रखते हैं। अतः छात्रों व अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक छोटी-से-छोटी समस्या को भी उन्होंने खोलकर रखने में कोई कसर नहीं छोड़ी। जगह-जगह वैयाकरणों और मीमांसकों के सिद्धान्त को खोलकर तुलनात्मक-रीत्या प्रतिपादित किया गया है। इस भाष्य की महत्ता इसी से व्यक्त है कि अकेली दूसरी कारिका पर ही विद्वान् भाष्यकार ने लगभग साठ पृष्ठों में अपना भाष्य समाप्त किया है। विषय को समझाने के लिये अनेक चार्ट दिये गये हैं जैसे—वैयाकरणों और नैयायिकों का बोधविषयक चार्ट, धातु की साध्यावस्था और सिद्धावस्था का चार्ट, प्रसज्य और पर्युदास प्रतिषेध का चार्ट आदि। पूर्वपीठिका में भाष्यकार ने व्याकरण के दर्शन-शास्त्र का विस्तृत क्रमबद्ध इतिहास देकर मानो सुवर्ण में सुगन्ध का काम किया है। ग्रन्थ के अन्त में अनुसन्धानप्रेमी छात्रों के लिये सात परिशिष्ट तथा आदि में विस्तृत विषयानुक्रमणिका दी गई है जो अनुसन्धान-क्षेत्र में अत्यन्त काम की वस्तु हैं। वस्तुतः व्याकरण में एक अभाव की पूर्ति भाष्यकार ने की है। इस भाष्य की प्रशंसा में देश-विदेश के विद्वानों के प्रशंसा-पत्र धड़ाधड़ आ रहे हैं। **भारत सरकार द्वारा यह ग्रन्थ सम्मानित हो चुका है।** ग्रन्थ का मुद्रण बढ़िया मैप्लीथो कागज़ पर अत्यन्त शुद्ध व सुन्दर ढंग से छः प्रकार के टाइपों में किया गया है। सुन्दर बढ़िया सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेज़ी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है। मूल्य २५ रुपये।

"नवभारत टाइम्स" इस ग्रन्थ की आलोचना करता हुआ लिखता है—

"ग्रन्थ के भावों और गूढ़ आशयों को व्यक्त करने वाले पदे-पदे वक्तव्यों और पादटिप्पणों से लेखक का गम्भीर अध्ययन व श्रम स्पष्ट झलकता है। पञ्चमी और त्रयोदशी कारिकाओं पर अकर्मक और सकर्मक धातुओं के लक्षण का आशय जैसा इस भाष्य में स्पष्ट किया गया है अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। इस तरह के अन्य भी

शतशः स्थल उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। शास्त्रीजी की शैली अध्येताओं व पाठकों के मन में उत्पन्न होने वाली सम्भावित शंकाओं को बटोर-बटोर कर ध्वस्त करने की क्षमता रखती है। द्वितीय कारिका की व्याख्या का लगभग सत्तर पृष्ठों में समाप्त होना ज्वलन्त प्रमाण है। हिन्दी में इस प्रकार के यत्न स्तुत्य हैं।"

(६ मार्च, १९६६)

बम्बई विश्वविद्यालय के संस्कृतविभाग के अध्यक्ष **डाक्टर त्र्यम्बक गोविन्द माईणकर** लिखते हैं—

"Students of Grammar will always remain indebted to Bhim Sen Shastriji for his very valuable help available in his commentary. I wish Bhim Sen Shastriji writes similar commentaries on other works in the field of Grammar and renders service both to the subject of his love and to the world of students and scholars I once again congratulate him."

अर्थात् श्रीभीमसेन शास्त्री के इस बहुमूल्य व्याख्यान को पाकर व्याकरण के विद्यार्थी उन के सदा ऋणी रहेंगे। मैं चाहता हूं कि शास्त्री जी इस प्रकार की व्याख्यायें व्याकरण के अन्य ग्रन्थों पर भी प्रकाशित करते हुए विद्यार्थियों तथा अनुसन्धानप्रेमियों का उपकार करेंगे। मैं शास्त्री जी को उनके इस कार्य के लिए पुनः बधाई देता हूं।

डा० सत्यव्रत जी शास्त्री व्याकरणाचार्य, प्रोफेसर एवं संस्कृतविभागाध्यक्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय लिखते हैं—

"वैयाकरणभूषणसार ग्रन्थ के क्लिष्ट शब्दावली में लिखा होने के कारण विद्यार्थियों को इसे समझने में बहुत कठिनाई हो रही थी। इसी कठिनाई को दूर करने की सदिच्छा से प्रेरित हो सुप्रसिद्ध वैयाकरण पं० भीमसेन शास्त्री ने हिन्दी में इसकी सरल और सुबोध व्याख्या लिखी है। शास्त्री जी का व्याकरणशास्त्र का अध्ययन अति गहन है। विषय स्पष्टातिस्पष्ट हो, इस विषय में सतत उद्योगशील रहे हैं। इसका यह परिणाम है कि उन की व्याख्या में गहराई भी है और विशदता भी। यह व्याख्या विद्वानों के लिए एवं विद्यार्थियों के लिए एक समान उपयोगी है।"

स्व० श्री पण्डित **कुबेरदत्तजी शास्त्री व्याकरणाचार्य** प्रिंसिपल श्री राधाकृष्ण संस्कृतमहाविद्यालय, खुर्जा लिखते हैं—

"वैयाकरणभूषणसार पर विशद भैमीभाष्य को पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। ऐसा परिश्रम हिन्दी में प्रथम बार हुआ है। यह भाष्य न केवल विद्यार्थियों व परीक्षार्थियों के लिए अपितु अध्यापकों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। व्याख्यान की शैली नितान्त हृदयहारिणी तथा स्तुत्य है। व्याकरण के अन्य दार्शनिक ग्रंथों की भी इसी शैली में उन्हें व्याख्या करनी चाहिये। मैं शास्त्री जी को उनकी सरल कृति पर बधाई देता हूं।"

डा० रामचन्द्र जी द्विवेदी प्रोफेसर एवं संस्कृतविभागाध्यक्ष, जयपुर यूनिवर्सिटी अपने एक पत्र में लिखते हैं—

"I gratefully acknowledge receipt of a copy of the Vaiyakarana-Bhusana-Sara. Your knowledge of the grammar is profound and subtle and the world of scholars expect many such good works from your pen."

अर्थात् **"आप का व्याकरणविषयक ज्ञान गम्भीर एवं व्यापक है। विद्वत्समाज आप की लेखनी से इस प्रकार की अनेक सुन्दर कृतियों की आशा करता है।"**

गुरुकुल झज्झर के आचार्य तपोमूर्ति **श्रीभगवान्देवजी आर्य** लिखते हैं—

"आप का परिश्रम स्तुत्य है। छात्रों के लिए इस ग्रन्थ का आर्यभाषानुवाद कर के आपने महान् उपकार किया है। आप को अनेकशः बधाइयां।"

बालमनोरमा-भ्रान्ति-दिग्दर्शन

[लेखक—वैद्य भीमसेन शास्त्री M. A. Ph. D. साहित्यरत्न]

श्री भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी पर श्री वासुदेव दीक्षित की बनाई हुई बालमनोरमा टीका सुप्रसिद्ध छात्रोपयोगी ग्रन्थ है। पिछली अर्धशताब्दी में इसके कई संस्करण मद्रास, लाहौर, बनारस और दिल्ली आदि महानगरों में अनेक दिग्गज विद्वानों के तत्त्वाधान में प्रकाशित हो चुके हैं। परन्तु शोक से कहना पड़ता है कि इन स्वनामधन्य विद्वान् सम्पादकों ने इस ग्रन्थ के साथ ज़रा भी न्याय नहीं किया, इसे पढ़ने तक का भी कष्ट नहीं किया। यही कारण है कि इस में अनेक हास्यास्पद और घिनौनी अशुद्धियां दृष्टिगोचर होती हैं। इस से पठन-पाठन में बहुत विघ्न उपस्थित होता है। इस शोधपूर्ण लघु निबन्ध में बालमनोरमाकार की कुछ सुप्रसिद्ध भ्रान्तियों की सयुक्तिक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। आप इस शोधपत्र को पढ़ कर मनोरंजन के साथ-साथ प्रक्रियामार्ग में अन्धानुकरण न करने तथा सदैव सजग रहने की भी प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। इसमें स्थान-स्थान पर विद्वानों की प्रमादपूर्ण सम्पादन कला पर भी अनेक चुभती चुटकियां ली गई हैं। यह निबन्ध प्रकाशकों, सम्पादकों, अध्यापकों एवं विद्यार्थियों सब की आंखों को खोलने वाला एक समान उपयोगी है। हिन्दी में इस प्रकार का साहसपूर्वक प्रयत्न पहली बार किया गया है। अनेक प्रकार के टाइपों में मैप्लीथो कागज पर छपे सुन्दर शोधपत्र का मूल्य—पांच रुपये केवल।

प्रत्याहारसूत्रों का निर्माता कौन ?

[लेखक—वैद्य भीमसेन शास्त्री M.A. Ph. D. साहित्यरत्न]

इस शोधपूर्ण लघु निबन्ध में प्रत्याहार सूत्रों (अइउण् आदि) के निर्माता के विषय में खूब ऊहापोहपूर्वक पूर्ण विचार किया गया है। दर्जनों नये प्रमाणों का युक्तियुक्त विवेचन पहली बार इस विषय पर प्रस्तुत किया गया हैं। एक बार इसे पढ़ जाइये आप अन्धविश्वास के घेरे से अपने आपको अवश्य मुक्त पाएंगे। अनेक प्रकार के टाइपों में मैप्लीथो कागज पर छपे सुन्दर शोधपत्र का मूल्य—पांच रुपये केवल।

न्यास—पर्यालोचन

[A CRITICAL STUDY OF JINENDRA BUDDHI'S NYASA]

यह ग्रन्थ काशिका की प्राचीन सर्वप्रथम व्याख्या काशिकाविवरणपञ्चिका अपरनाम न्यास पर लिखा गया बृहत्काय शोधप्रबन्ध है जिसे **दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा** पी० एच्० डी० की उपाधि के लिये स्वीकृत किया गया है। यह शोधप्रबन्ध वैद्य भीमसेन शास्त्री द्वारा कई वर्षों के निरन्तर अध्ययन स्वरूप बड़े परिश्रम से लिखा गया है। इसमें कई प्रचलित धारणाओं का खुल कर विरोध किया गया है। जैसे न्यासकार को अब तक बौद्ध समझा जाता है परन्तु इसमें उसे पूर्णतया वैदिकधर्मी सिद्ध किया गया है। यह शोधप्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में न्यास और न्यासकार का सामान्य परिचय देते हुए न्यासकार का काल, निवास-स्थान, न्यास का वैशिष्टच, न्यास की प्रसन्नपदा प्रवाहपूर्णा शैली तथा न्यास और पदमञ्जरी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में 'न्यास के ऋणी उत्तर-वर्त्ती वैयाकरण' नामक अत्यन्त शोधपूर्ण नवीन विषय प्रस्तुत किया गया है। इस में केवल पाणिनीय वैयाकरणों को ही नहीं लिया गया अपितु पाणिनीतर चान्द्र, जैनेन्द्र, कातन्त्र, शाकटायन, भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण, हैमशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दानुशासन, संक्षिप्तसार, मुग्धबोध तथा सारस्वत इन दस प्रमुख व्याकरणों को भी सम्मिलित किया गया है। तृतीयाध्याय में 'उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों द्वारा न्यास का खण्डन' नामक अपूर्व विषय प्रतिपादित है। इस में उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों द्वारा की गई न्यासकार की आलोचनाओं पर कारणनिर्देशपूर्वक युक्तायुक्तरीत्या खुल कर विचार उपस्थित किये गये हैं। चतुर्थ अध्याय में 'न्यास की सहायता से काशिका का पाठसंशोधन' नामक महत्त्वपूर्ण विषय का वर्णन है। इसमें काशिका ग्रन्थ की अद्यत्वे मान्य सम्पादकों (?) द्वारा हो रही दुर्दशा का विशद प्रतिपादन करते हुए उसके अनेक अशुद्ध पाठों का न्यास के आलोक में सहेतुक शुद्धीकरण प्रस्तुत किया गया है। पञ्चम अध्याय में न्यासकार की भ्रान्तियों तथा न्यास के एक सौ भ्रष्ट-पाठों का विस्तृत लेखा-जोखा उपस्थित किया गया है। छठा अध्याय अनेक नवीन बातों से उपबृंहित उपसंहारात्मक है। व्याकरण का यह ग्रन्थ पाणिनीय व पाणिनीतर व्याकरण के क्षेत्र में अपने ढंग का सर्वप्रथम किया गया अनूठा ज्ञानवर्धक प्रयास है। यह ग्रन्थ प्रत्येक पुस्तकालय के लिए संग्राह्य है तथा व्याकरणशास्त्र में शोधकार्य करने वाले शोधच्छात्रों के लिए नितान्त उपयोगी है। सुन्दर मैप्लीथो कागज़, पक्की अंग्रेज़ी सिलाई, स्क्रीनप्रिंटिड, आकर्षक मजबूत जिल्द से सुशोभित ग्रन्थ का मूल्य—केवल एक सौ रुपये।

प्राप्तिस्थान—

भैमी प्रकाशन

५३७ लाजपतराय मार्केट, (दीवान हाल के सामने)

दिल्ली—११०००६

BHAIMI PRAKASHAN

(1) LAGHU SIDDHANT KAUMUDI—BHAIMI VYAKHYA PART-I

Bhaimi Vyakhya of Shri Bhim Sen Shastri is unique and first of its kind published in Hindi, in its detailed and scientific exposition of the Laghu Siddhant Kaumudi. The fact that part-I (पूर्वार्ध) runs into more than 600 pages (large size), speaks for the painstaking nature, depth of learning and experience of the author. He has left no stone unturned to make the subject as simple and easy to grasp as possible for the students and to achieve this aim, he has combined traditional method with the modern and scientific method of teaching and analysis.

The author has taken great pains to bring home to students the meaning of the Sutras without the help of Vrittis. At the end of each section have been appended excercises, prepared with great care and caution to remove the doubts of studens. Declensions of all the words mentioned in the L. S. K. have been given in the Bhaimi Vyakhya. This does away with the need to have a separate Roopmala. The author has also given a list of about 2000 words with meanings. These include many rare and uncommon words. This is a real help in translation. The unique feature of the publication is the section on Avyaya (अव्यय), which has been acclaimed by eminent scholars and erudite pandits as an original contribution to the subject. The several indexes at the end are very useful.

The language of the work is very simple and lucid. The difficult and knotty points have been handled deftly. On controversial subjects, the views of all the well-known authorities have been quoted. The author is not a blind follower of tradition in matter of interpretation and meaning of Sutras. Wherever he

differs, he gives convincing arguments in support of his own view, which gives a stamp of his deep study, research and vast teaching experience. Bhaimi Vyakhya in short is a self-tutor and is of immense help to teachers and research scholars. For a book of about 650 pages of large size, the price of Rs. 30/- is extremely low.

(2) LAGHU SIDDHANT KAUMUDI—BHAIMI VYAKHYA PART-II

Part-II of Bhaimi Vyakhya on Laghu Siddhant Kaumudi deals with the तिङन्त section which is known as the backbone of Sanskrit grammar. The work is an original commentary in the traditional style, which combines the modern scientific technique of exposition and comparative analysis. The work is unique in the प्रक्रिया portion. The author has given detailed प्रक्रिया of about 1500 verbal forms besides conjugations of more than 300 verbs in all the ten tenses and moods. The use and meaning of different उपसर्गs in combination with verbs has been illustrated in about 1000 quotations taken from the famous Sanskrit works. For the benefit of students, exercises have been given at the end of each sub-section. The causal, desiderative, intensive and denominative verbal forms have been ably explained. One hundred illustrations of each of these forms have been given with meaning. The inclusion of well-known controversies, with the view point of each side and author's own, is a special feature of the work. In many places, the author has offered new solutions to difficult problems left un-attended even by Varadaraja himself. At the end of the publication have been appended six indexes, of which special mention may be made of no. 5.

This voluminous work running into 750 pages has been priced Rs. 30/- only which is very low, keeping in view its technical excellence and the labour involved in bringing out in such a publication.

(3) LAGHU SIDDHANT KAUMUDI—BHAIMI VYAKHYA PART-III-IV

The last two parts of the Bhaimi Vyakhya on L.S.K. are being readied for the press. Like the first two parts these parts too

deal in great details with कृदन्त, कारक, समास, तद्धित and स्त्रीप्रत्यय and contain excellent material for research scholars. The section on Karakas has been elaborated by inclusion of a sufficient number of new Sutras not found in the original L.S.K. of Varadaraja. The exposition of Samas and Taddhit has also been done at such a great length for the first time. As in the fiirst two parts, exercises have been added at the end of each sub-section.

(4) VAIYAKARAN BHUSHAN SARA

Vaiyakaran Bhushan Sara of Kaundbhatt is an important treatise of Sanskrit grammar and occupies a special position for its exposition of the principles of philosophy of grammar. This has been prescribed as a text-book for M.A., Acharya, Shastri etc. degrees. The work is quite a difficult one and at places incomprehensible for even the brilliant students. This is evident from the fact that till recently no translation of V.B.S. in English, Hindi or any other language of country (except in Sanskrit) was available. The Bhaimi Bhashya of Shri Bhim Sen Shastri has filled this long felt need. Bhim Sen Shastri is an eminent Sanskrit scholar and grammar is dear to his heart. He has been teaching Sanskrit grammar for more than 3 decades and through his researches has carved out a place for himself in the field. This is borne out by the commentary on the धात्वर्थ-निर्णय of V.B.S. This commentary has won him laurels from whithin and outside the country and has been given recognition by the Government of India too. The explanations of the knotty points in simple and flowing language are remarkable. His style of raising the doubt and putting forth its solution is commendable. Particularly praiseworthy are elucidations of Karikas 2, 5 and 13. At the end of the bo›k, the author has given indexes which are very useful for teachers, students and reasearch scholars. Dr Satya Vrat Shastri, Professor and Head of Sanskrit Department, Delhi University has contributed a scholarly introduction.

The book has been printed very nicely on maplitho paper and is clothbound. This makes it very useful, particularly for libraries. It is priced only Rs. 25/- which is considered on the low side keeping in view the prices of research work of comparative merit.

(5) A STUDY OF NYASA

Recently the famous research work of Shastriji under the caption 'Nyasa Paryalochana' (in Hindi) has been published. This is an original contribution towards the study of 'Kasika-Vivarana-Panjika' also known as 'Nyasa' the earliest known commentary on 'Kasika' and it has been accepted for the award of Ph.D. degree by the University of Delhi. Infact, it is the result of Shastriji's many years' continuous study and loving labour. Several current notions have been boldly contradicted. For example, Nyasakara is still believed to be a Buddhist, but in this thesis several evidences have been put forward to show that he was a follower cf Vedic religion.

The thesis is divided into six chapters. The first chapter, while giving general introduction to the Nyasa and its author, deals with the latter's time and place, the salient features of Nyasa, its elegant and fluent style and a comparatiive study of Nyasa and Hardatta's Padamanjari.

The second chapter deals with entirely a new research subject 'Later Grammarians' indebtedness to Nyasa'. This discusses not only Paninian grammars but also includes the ten main non-Paninian grammars, viz. Chandra, Jainendra, Katantra, Sakatayana, Saraswatikanthabharan, Hemchandra's Sabdanusasana, Malayagiri-sabdanusasana, Sankshiptasara, Mugdhabodha & Sarasvata.

The third chapter entitled 'Refutation of Nyasa by Later Grammarians' discusses another topic not touched upon earlier by anyone. Here the author examines the later grammarians' criticisms of Nyasakara by presenting in elaborated details the reasons for their soundness or otherwise.

The forth chapter deals with an important issue 'Correction of Kasika-texts in the context of Nyasa'. The author has pointed out at length the grave mistakes committed by the modern eminent scholars in editing Kasika and has offered rectification of several of its incorrect texts with justifications in the context of Nyasa.

The fifth chapter gives a detailed account of the misconceptions of Nyasakara and an hundred incorrect readings.

The sixth chapter gives the conclusion adding several new facts.

In the field of Paninian and non-Paninian grammars this work is most reliable and uniquely informative first attempt of its own kind. Needless to say, this publication is a must for every library and is exceedingly useful for research scholars in the field of Sanskrit grammar.

The book is printed on fine maplitho paper and is clothbound costing Rs. 100/- only. (PP. 20+432)

(6) BALMANORMA BHRANTI-DIGDARSHAN

This research paper in Hindi by Shri Bhim Sen Shastri points out the glaring mistakes and contradictions, which are eyesores to both students and teachers, in the various editions of Balmanorama edited by eminent scholars from different centres in the country. The author through convincing arguments has established that these learned scholars have not only not taken any pains to edit the work carefully but have blindly followed each other, not noticing even the self-evident errors. The paper is priced Rs. 5/-

(7) PRATYAHAR SUTRORN KA NIRMATA KAUN ?
(Who is the author of Pratyahar aphorisms ?)

It is for the first time the problem of the authoship of the Pratyahar Sutras has been analysed in such depth. The learned author has furnished many convincing arguments and produced numerous documentary evidence in support of his theory. The essay is an eye-opener to those wh

faith. The paper is priced Rs. 5/-

These books can be had of—

BHAIMI PRA
537, Lajpat Rai Market, (Opp. : Diwan Hall)
DELHI-110006

22x14

हमारे प्रकाशनों के प्राप्ति-स्थल

१. मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा० लि०
रानी झांसी रोड, नई दिल्ली

२. मोतीलाल बनारसीदास, बंगला रोड,
जवाहरनगर, दिल्ली-११०००७

३. चौखम्बा ओरियण्टालिया
बंगलो रोड, दिल्ली-११०००७

४. विश्वेश्वरानन्द बुक एजेन्सी
साधु आश्रम, होशियारपुर

५. चौखम्बा विद्याभवन
चौक, वाराणसी

६. चौखम्बा विश्वभारती
चौक, वाराणसी

७. मोतीलाल बनारसीदास
अशोक राजपथ, पटना

किसी भी प्रकार की असुविधा होने पर आप हमें लिखें—

मेमी प्रकाशन
५३७, लाजपतराय मार्केट
दिल्ली-११०००६

लघुसिद्धान्तकौमुदी—भैमीव्याख्या

न्यास-पर्यालोचन, वैयाकरणभूषणसार-भैमीभाष्य, बालमनोरमाभ्रान्तिदिग्दर्शन आदि ग्रन्थों के निर्माता श्रीभीमसेन शास्त्री, एम्० ए०, पीएच्० डी० के दीर्घ-कालिक व्याकरणाध्यापन का निचोड़ यह भैमीव्याख्या है। लघुकौमुदी पर इस प्रकार की विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक हिन्दी व्याख्या आज तक नहीं निकली। इस व्याख्या में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्तिवचन, समासविग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, सूत्रगत तथा अनुवर्तित प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्य विशेषता, अर्थ की निष्पत्ति, उदाहरण-प्रत्युदाहरण तथा विस्तृत सिद्धि देते हुए छात्रों और अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक शङ्का का पूर्णतया विस्तृत समाधान प्रस्तुत किया गया है। स्थान-स्थान पर परिपठित विषय के आलोडन के लिए बड़े यत्न से पर्याप्त विस्तृत अभ्यास संगृहीत किये गये हैं। इस व्याख्या की रूपमालाओं में अनुवादोपयोगी दो हज़ार शब्दों का अर्थसहित बृहत्संग्रह प्रस्तुत किया गया है। अव्ययप्रकरण में प्रत्येक अव्यय के अर्थ का विस्तृत विवेचन करके उस के लिए विशाल संस्कृत वाङ्मय से किसी-न-किसी सूक्ति व प्रसिद्ध वचन को संगृहीत करने का प्रयास किया गया है। तिङन्तप्रकरण में चार सौ से अधिक सार्थ उपसर्गयोग एवम् उन के लिये चुने हुए एक सहस्र से अधिक उदाहरण-सूक्तियों का अपूर्व संग्रह प्रस्तुत किया गया है। छात्रों के सौकर्य के लिए णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, भावकर्म आदि प्रक्रियाओं तथा तव्यत्, तव्य, अनीयर, क्त, क्तवतु, शतृ, शानच्, क्त्वा, ल्यप्, तुमुन् आदि प्रत्ययान्त शब्दों के अनेक शतक भी सार्थ सटिप्पण दिये गये है। कारक-प्रकरण को पर्याप्त लम्बा और स्पष्ट किया गया है। इस के स्पष्टीकरणार्थ मूला-तिरिक्त अन्य अनेक सूत्र भी सार्थ सोदाहरण सम्मिलित किये गये हैं। इस प्रकरण का बालोपयोगी शुद्धाशुद्ध विवेचन बहुत उपयोगी है। इस भैमीव्याख्या के तीन भाग प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रथम भाग (सन्धि, षड्लिङ्ग, अव्यय)।

द्वितीय भाग (तिङन्तप्रकरण—दशगण, एकादश प्रक्रिया)।

तृतीय भाग (कृदन्त, कारकप्रकरण)।

चतुर्थ भाग (समास, तद्धित, स्त्रीप्रत्यय) प्रेस में।

—प्राप्ति स्थान—

भैमी प्रकाशन

५३७, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली-११०००६